भगवद्गुणभद्रभदन्तविरचित

# आत्मानुशासन



श्रीयुत पण्डित बंशीधरजी शास्त्री कृत

हिन्दी भाषा-टीका सहित

प्रकाशक—

श्री १०८ मुनि विजयसागर जी

श्री १०८ मुनि विमलसागर जी



पता

चांदमल हुकमचन्द बाकलीवाल

फर्म

अमोलकचन्द जौहरीलाल कागजी

नया बाजार लश्कर (मध्य-भारत)

मूल्य स्वाध्याय

आत्मानुशासन—



श्री १०८ मुनि विमलसागर जी

# श्री विमल सागरजी महाराज की संक्षिप्त जीवनी

ग्वालियर राज्य में पछार के समीप महायनों नामक एक छोटे से ग्राम में सेठ भीकमचन्दजी रहते थे। वे चार भाई थे तथा वे दि० जैन जैसवाल जाति के थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम श्री मथुरा देवी था। उनके पौष शुक्ला २ सं० १९४८ के दिन एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ, उसका नाम किशोरीलालजी रक्खा गया।

बालक किशोरीलाल को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का सुभीता इसलिये नहीं मिला कि जन्म स्थान एक छोटासा ग्राम था, फिर भी उनको स्वाध्याय का बचपन से ही प्रेम रहा है।

आठ वर्ष की अवस्था में ही पिताजी का स्वर्गवास हो जाने से व्यापार की दृष्टि से माताजी के साथ पीरोंठ में गये, वहीं पर किशोरीलालजी के दो विवाह हुए, प्रथम विवाह सं० १९६८ में हुआ और सं० १९७५ में प्रथम पत्नी का स्वर्गवास होगया। पुनः दूसरा विवाह सं० १९७७ में हुआ और दूसरी पत्नी का भी सं० १९९२ में स्वर्गवास होगया। युवावस्था में किशोरीलालजी न्यायोचित रीति से व्यापार करते हुए गृहस्थाश्रम के सभी आवश्यक कार्य के साथ श्रावकाचार का अच्छी तरह पालन करते हुए संसार से विरक्त रहने लगे।

आपने सं० १९९३ में दूसरी प्रतिमा धारण की और क्रमशः ऊपर की प्रतिमायें धारण करते हुए सं० १९९७ में आपने परमपूज्य श्री १०८ मुनिराज विजय सागर जी महाराज

से ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करके क्षुल्लक दीक्षा ली, उसके तीन महीने के बाद ही आपने खण्ड वस्त्र का भी परित्याग कर दिया, और ऐलक दीक्षा ग्रहण करली। सं० २००० में आपने अपने दीक्षा गुरू श्री विजय सागर जी महाराज के साथ कोटा में चातुर्मास किया और वहीं पर आपने एक मात्र लंगोटी का भी परित्याग करके दिगम्बरी दीक्षा धारण करली उस समय आपका नाम श्री १०८ विमलसागर जी महाराज रखा गया।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद आप सर्वत्र विहार कर रहे हैं। आपने अपने धर्मोपदेश द्वारा अनेक प्राणियों को सन्मार्ग पर लगाया है। अनेकों को व्रत ग्रहण कराये, तथा जैन अजैनों तक से बीड़ी सिगरेट तमाखू मद्य मांस तथा जुआदि कुव्यसनों का त्याग कराया है। इसके अतिरिक्त जब सं० २००४ में आप सिद्धवरकूट पधारे तब श्री विशाल कीर्ति महाराज को आपने ऐलक दीक्षा दी तथा पंच कल्याणक के समय भोपाल पधारे वहां पर श्री धर्म सागर जी महाराज को क्षुल्लक दीक्षा दी, इस प्रकार आपने अनेक प्राणियों को मोक्ष मार्ग और सन्मार्ग पर लगाया है।

आपने सं० २००८ वि० में वर्तमान मध्यभारत की राजधानी लश्कर ( ग्वालियर ) में संघ सहित चातुर्मास किया और सतत धर्मोपदेश देकर वहां की जैन जैनेत्तर जनता को कल्याण मार्ग पर लगाया, वहां की जनता आपकी चिरऋणी रहेगी। इसी चातुर्मास सं० २००९ वि० में आप गुना में धर्मोपदेश दे जनता का कल्याण कर रहे हैं और उस ही के स्मरणार्थ यह ग्रंथ प्रकाश में आरहा है।

निवेदक—
चांदमल जैन कागजी
नयाबाजार लश्कर

# प्रार्थना

## ( १ )

भावना दिन रात मेरी सब सुखी संसार हो।
सत्य संयमशील का, व्यवहार घर घर बार हो ॥ टेक ॥
धर्म का परचार हो, अरु देश का उद्धार हो।
और ये बिगड़ा हुआ, भारत चमन और गुलजार हो ॥१॥
ज्ञान के अभ्यास से, जीवों का पूर्ण विकास हो।
धर्म के परचार से, हिंसा का जग से ह्रास हो ॥२॥
शान्ति अरु आनन्द का हर एक घर में बास हो।
वीरवाणी पर सभी, संसार का विश्वास हो ॥३॥
रोग अरु भय शोक होवें, दूर सब परमात्मा।
कर सकें कल्याण ज्योति, सब जगत् की आत्मा ॥४॥

# आत्म-कीर्तन

## ( २ )

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम।
ज्ञाता दृष्टा आतम राम ॥ टेक ॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान।
जो मैं हूँ वह हैं भगवान ॥
अन्तर यही ऊपरी जान।
वे विराग यह राग वितान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान।
अमित शक्ति सुखज्ञान निधान ॥
किन्तु आश वश खोया ज्ञान।
बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोई न आन।
मोह राग ही दुख की खान॥
निज को निज पर को पर जान।
फिर दुखका नहिं लेश निदान॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम।
विष्णु बुद्ध हरि जिनके नाम॥
राग त्याग पहुँचू निज धाम।
आकुलता का फिर क्या काम॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम।
मैं जग का करता क्या काम॥
दूर हटो पर कृत परिणाम।
ज्ञायक भाव लखूं अभिराम॥५॥

---

## धन्यवाद

जिन-जिन महानुभावों ने भव्य जीवों के कल्याण के लिए इस आत्मानुशासन ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता दी है उनको धन्यवाद है। तथा जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई व पं० वंशीधरजी शास्त्री शोलापुर के भी हम अत्यन्त आभारी हैं जिनके ग्रन्थ द्वारा इस ग्रन्थ के छपाने और मुफ्त बांटने में हमें सहायता मिली है।

—प्रकाशक

# प्रस्तावना



## इस ग्रन्थ की प्रशंसा:—

जैन सम्प्रदाय में यों तो सभी विषयों के ग्रंथ प्राय उपलब्ध होते हैं, परन्तु अध्यात्म ग्रन्थों का सबसे अधिक बाहुल्य है। यह आत्मानुशासन भी एक अपने ढंग का अपूर्व अध्यात्म-ग्रन्थ है।

## ग्रन्थकार का महत्त्व व परिचय:—

इस ग्रन्थ में सब कुछ मिलेगा। परन्तु जो जितना अधिकारी है उसको उतना ही मिलेगा। यह ग्रंथ सरल से सरल व कठिन से कठिन है। इस ग्रन्थ को पूरा समझने के लिये न्याय, व्याकरण व साहित्य तथा नीति इन सब विषयों के जानने वाले पात्र की आवश्यकता है। और आत्मोद्धार का उपदेश तो ज्ञानी अज्ञानी, सभी के योग्य भरा हुआ है।

आजकल के संस्कृत विद्वानों मे राजर्षि भर्तृहरि की कविता का बहुत आदर है। परन्तु गुणभद्र स्वामी की इस कविता में भी कुछ कमी नहीं है; बल्कि कितने ही अंशों मे यह उससे भी चढ़-बढ़कर है। भर्तृहरि की कविता सामान्य उपदेशप्रद है; किन्तु यह ग्रन्थ सामान्य उपदेश के साथ ही साथ जैनसिद्धान्त के गूढ़ रहस्य को भी बताता है और आदि से अन्त तक मोक्षप्राप्ति का उपाय भी क्रमानुसार दिखाता है।

## ग्रन्थ की सुखबोधकता:—

जो जिस तरह समझ सकता है उसे उसी तरह से समझाने का इसमें प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ, एक ५३ वां श्लोक लीजिये, जो लोग नरकादि परोक्ष विषयों पर श्रद्धा नहीं रखते उनके साथ यह हठ नहीं किया है कि तुम्हें ये बातें माननी ही पड़ेंगी। किन्तु उनके लिये ग्रन्थकार यह कहते हैं कि अच्छा वे बातें जाने दो, तो भी वर्तमान दुःख देखकर तो तुम्हें ससार से विरक्त होना चाहिये।

'तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते । ४५ ।' इत्यादि हृदयद्रावक वाक्यों की तो इस ग्रन्थ में भरमार है।

## कवि का वैद्यकज्ञानः—

'कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव' यह वाक्य १०८ वें श्लोक का है। वैद्यक में शरीर पूर्ण शुद्ध करने की उत्तम से उत्तम क्रिया का जो वर्णन है उसका यह नामोल्लेख है। इसका सारांश वैद्यक जाने विना नहीं समझ मे आ सकता है।

## कवित्वशक्तिः—

शलाटु–११५ वें श्लोक का, गोपुच्छ–२५७ वें श्लोक का, इत्यादि शब्द कहीं कहीं पर ऐसे आ जाते हैं कि साहित्य के अच्छे ज्ञान बिना समझ मे नहीं आते। एवं १२४ वें श्लोक में सूर्य के एक ही राग से विरोधी दो परिणामों का उल्लेख करना यह दिखाता है कि जुदी जुदी वस्तुओं के साथ लगाकर एक ही चीज को विचित्रता से दिखाना कवि को अच्छी तरह आता था।

## न्यायनिष्णातताः—

यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रधानरूप से यह विषय नहीं है, परन्तु कहीं कहीं पर तो भी एक–दो बचन ऐसे दीख पड़ते हैं कि ग्रन्थकार की न्यायनिष्णातता अपूर्व थी, ऐसा मानना पड़ता है। देखिये इसके लिये श्लोक नम्बर १७२ व १७३।

इन दोनों श्लोकों का अर्थ ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। इन दोनों श्लोकों में आनुमानिक न्यायपद्धति से अन्य ऐकान्तिक सिद्धांतों का निराकरण तथा स्वमतसमर्थन करके तत्त्वलक्षण ऐसा अच्छा लिखा है जैसा कि निर्दोष व संक्षिप्त लेख समन्तभद्रस्वामी का रहता है। इसी प्रकार श्लोक नं० २१० व २११ में आत्मा को शरीर से ऐसी सरलता के साथ वास्तविक निराला सिद्ध करके दिखाया है कि देखते ही यह कहना पड़ता है कि कठिन से कठिन विषय भी ग्रन्थकार को अति सरलता के साथ समझाना आता था।

## व्याकरणज्ञानः—

व्याकरणज्ञान भी ग्रन्थकर्ता का वर्णनीय है। श्लोक नं० २३० में 'वावाध्यते' यह यङन्त शब्द, एवं नं० २१४ में 'आसु-

विडालिका' यह विशिष्ट समास का शब्द, इत्यादि शब्दशैली के निर्दोष व कठिनतर शब्द देखने से यह बात अवश्य माननी पड़ती है।

यह ग्रन्थ आध्यात्मिक होने से ग्रन्थकार ने जहाँतक बना है, इसे बहुत ही सरल लिखा है। जहाँ पर किसी अनुमानादि कठिन विषय की बहुत ही आवश्यकता आ पड़ी है, वहीं पर उस विषय की विद्वत्ता दिखाई पड़ती है। इनकी विद्या का परिचय देने वाले और भी कई ग्रन्थ हैं। इन्हीं की कृति मे से एक जिनदत्तचरित्र नाम का काव्य भी है। उसमें देखिये कि साहित्य आदि विषयों की बातें कितनी हैं? इसे तो जो ग्रन्थकार ने इतना सरल बनाया है, यही उनकी विद्या के लिये भूषण है। इसीलिये इसमें प्रसादगुण की भरमार भी है।

## ग्रन्थ के टीकाकारों का परिचयः—

आत्मानुशासन का छोटा-सा संस्कृत व्याख्यान ( टीका ) श्री. प्रभाचन्द्राचार्य ने किया है, जिन्होंने कि 'रत्नकरण्डक' का व्याख्यान लिखा है।

इस व्याख्यान के प्रारम्भ में लिखा है कि "वृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो···लक्ष्मीत्याद्याह।" अर्थात्, उच्च धर्म ( मुनिधर्म ) की अपेक्षा जो भाई लोकसेन वह विषयों में मोहित हुआ। उसके संबोधन का निमित्त पाकर श्री गुणभद्र स्वामी सर्व प्राणियों के लिये उपकारक ऐसे सन्मार्ग को दिखाने की अभिलाषा से यह ग्रन्थ शुरू करते हैं।

इसी टीका के सहारे से श्रीयुत पं० टोडरमल जी ने हिन्दी टीका की है। जो इस संस्कृत टीका मे है, उसमें से प्राय कुछ भी न छोड़कर उसी का खुलासा अर्थ हिन्दी मे किया गया है। हां, अनेक भावों को उन्होंने सस्कृत टीका की अपेक्षा भी अधिक अच्छी तरह स्पष्ट किया है। प्रत्येक श्लोक के अर्थ के अन्त में भावार्थ भी दिया है। भावार्थ मे उपर्युक्त अर्थ दुहरा दिया गया है, जिससे कि पढ़ने वालों को सुगमता पड़े।

पं० टोडरमल जी ने महत्त्वपूर्ण 'गोमटसार' ग्रन्थ की भी हिन्दी टीका संस्कृत टीका के आधार से की है। और भी कई टीका टिप्पणियाँ उन्होंने की हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नाम का एक हिन्दी मे

स्वतन्त्र ग्रन्थ भी उन्होंने लिखा है। ये सब ग्रन्थ ढूंढारी में लिखे गये हैं। टोडरमल जी जैन हिन्दी ग्रन्थों के कर्ताओं मे से सबसे अच्छे माने जाते हैं। जब कि ऐसे विद्वान् का लिखा हुआ अर्थ मौजूद था तो नवीन अर्थ लिखने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु जैनग्रन्थ कार्यालय के मालिक पं० नाथूराम जी प्रेमी इस बात के प्रेमी हैं कि ग्रन्थों के समालोचन, पर्यालोचन, संस्कार, प्रतिसंस्कार आदि प्रचलित मातृभाषाओं मे होते रहें। ऐसा करने से वर्तमान हिन्दी भाषा की उन्नति में सहायता होती है और वर्तमान हिन्दी के द्वारा सुगमतया सामान्य जनों को धर्मज्ञान भी प्राप्त हो सकता है। पं० टोडरमल जी की भाषा को समझने में आज सामान्य जनों को दिक्कत होती है। क्योंकि, उनकी भाषा आजकल की प्रचलित साहित्य भाषा नहीं है। अतएव इस ग्रन्थ की यह नवीन हिन्दी टीका लिखने की आवश्यकता समझी गई। लिखते समय हमने उपर्युक्त संस्कृत व हिन्दी दोनों व्याख्यान देखे हैं।

हम नहीं कह सकते कि पहिली भाषा टीका मे कई जगह छोटी, बड़ी भूलें क्यों रह गई है? कई स्थलों मे तो ऐसा मालूम होता है कि संस्कृत शब्दों का भाव टोडरमल जी की समझ में ही नहीं आया। उदाहरणार्थ २६८ वें श्लोक को देखिये- –

'इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यम्' अर्थात् इस प्रकार यह 'आत्मानुशासन' नाम ग्रन्थ मैंने कतिपय वचनों में संग्रह करके गूँथा है। यह इसका भाव है। इसकी संस्कृत टीका इस प्रकार है कि "इति एवमुक्तप्रकारेण कतिपयवाचां स्वल्पवचनानां गोचरीकृत्य विषयं कृत्वा।" इसका यही भाव है। लेकिन इसका अर्थ टोडरमलजी यों लिखते हैं कि 'केईक वचन की रचनाकरि उदार है चित्त जिनि का ऐसे महामुनि तिनके चित्तकों रमणीक इह आत्मानुशासन ग्रंथ रच्या'। परन्तु यह अन्वय-सम्बन्ध किसी प्रकार भी नहीं बैठ सकता है। क्योंकि, 'कतिपयवाचां गोचरीकृत्य' इस वाक्यखण्ड का वाच्यार्थ, ग्रन्थ का विशेषणरूप ही करना ठीक है।

सिद्धान्त विरुद्ध भी कहीं कहीं पर लिख दिया है। देखो २४१ वें श्लोक का चौथा चरण 'सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुपतायोगैः क्रमान्मुच्यते' ऐसा है। इसमें आत्मा के छूटने का क्रम बताया है। जब छूटते समय आत्मा अन्त में योगों का भी नाश कर देता है तब संसार से बिलकुल छूट जाता है। इसीलिये आत्मा के छूटने मे सबसे प्रथम

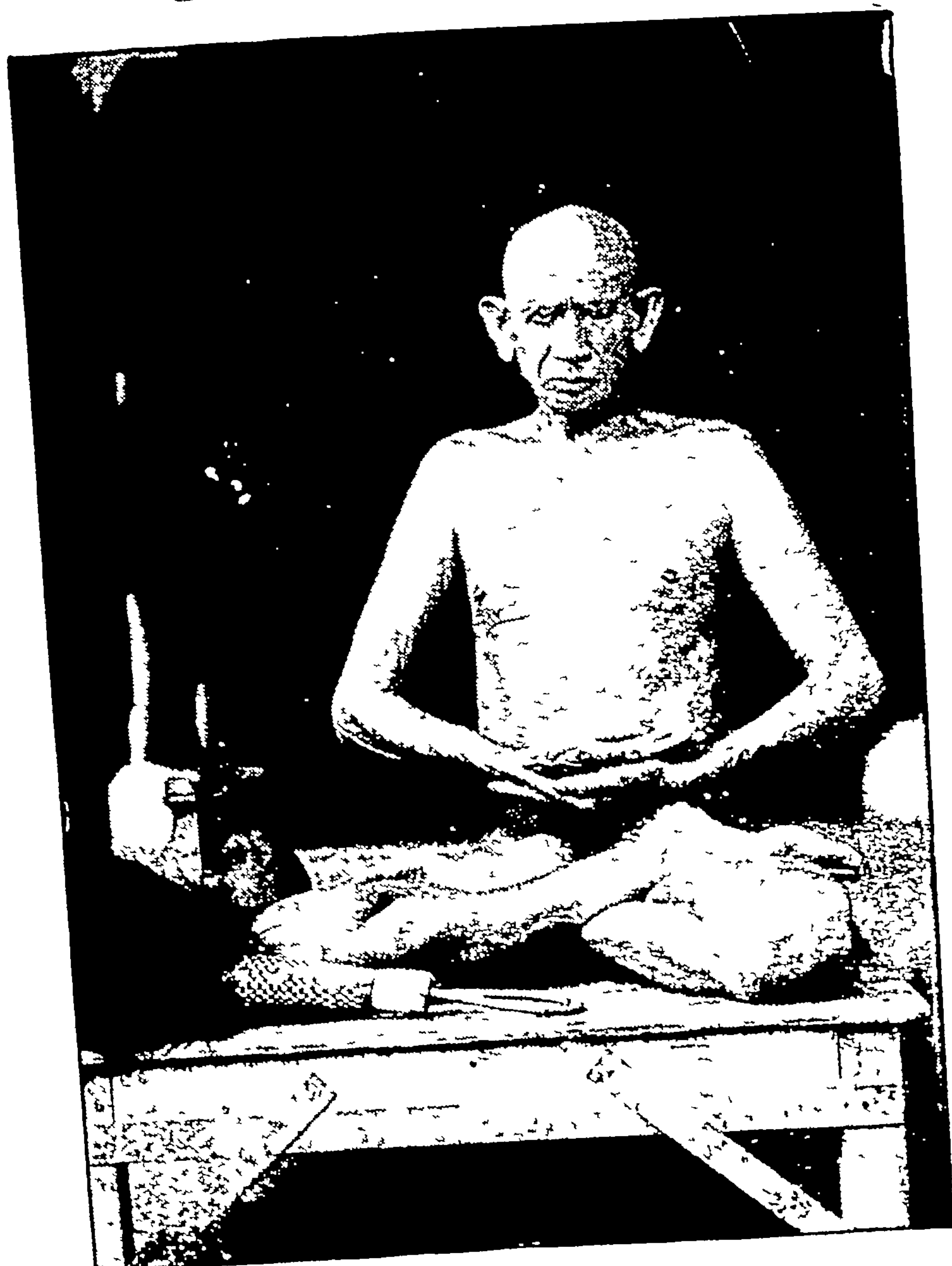
उपाय सम्यक्त्व प्राप्त करना है और अन्त का उपाय योगाभाव है। व्रतादि जो कारण हैं वे बीच में उपयोगी पड़ते हैं। अत एव उपर्युक्त वाक्य में 'अयोगैः' ऐसा पदच्छेद करना ही ठीक पड़ता है। संस्कृत टीकाकार ने भी इसलिये ऐसा ही पदच्छेद किया है। 'अकलुषता=क्रोधादिरहितता । अयोगैः=कषायाद्यव्यापारैः ।' परन्तु पं० टोडरमल जी का लिखना देखिये:—

'सो आतमा मिथ्यादरसनादि करि मलिन है अर काललब्धि पाइ काहू एक मनुष्य भवविषै सम्यक्त वृत विवेक अर अकलुषता इनके योगकरि अनुक्रमतैं मुक्त होइ है।'

भावार्थ, 'इनिके योगकरि' ऐसा अर्थ 'ऽयोगैः' इस पद का किया है। यह अर्थ किसी प्रकार भी ठीक नहीं हो सकता है। क्योंकि, मुक्ति के कारण यदि सम्यक्त्व से लेकर कषायाभाव तक ही माने जांय तो दशम गुण स्थान के अंत मे कषाय नष्ट होने से मुक्ति प्राप्त होनी चाहिये। दूसरे यदि 'इनि के योगकरि' ऐसा ही अर्थ ग्रंथकार को इष्ट था तो अंत मे बहु वचन क्यों रक्खा है? 'योगेन' अथवा 'योगात्' ऐसा एक वचन ही रखना उचित था। इस प्रकार जब कि टोडरमल जी का यह अर्थ ठीक नहीं है तो हमारी इस टीका के अनुसार जो ग्रंथकार का सिद्धांत संमत सूक्ष्म भाव है वह पं० टोडरमल जी के लिखने से छिप गया है।

और भी देखिये, २४६ वें श्लोक में यह शिक्षा दी गई है कि जो आत्म कल्याण करना चाहता है, उसे दूसरे के दोष नहीं देखने चाहिये। इससे आगे के २५० वें श्लोक मे भी यही प्रकरण है। परन्तु पं० टोडरमल जी ने २५० का अर्थ उलटा ही कर दिया है। अर्थात्, उन्होंने दूसरों के दोष न देखने की शिक्षा के बदले दोष करने वाले को उपदेश दे डाला है। परन्तु ऐसा अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध देखने से बिलकुल असंबद्ध जान पड़ता है।

एवं उस श्लोक के अंत में एक पद है कि 'किं कोप्यगात्तत्पदम्'। इसका अर्थ टोडरमलजी करते हैं 'कि कोऊ चंद्रमा के स्थानक तो न गया–देषि न आया'। परंतु ऐसा अर्थ कभी संभव नहीं है। किन्तु ऐसा अर्थ संभव है कि 'दोष देखने वाला देखने मात्र से चंद्रमा का-सा महत्तपना नहीं पा लेता है।' भावार्थ, किसी के दोष देखते रहने से बड़प्पन नहीं आ सकता है। इसलिये किसी के दोष देखते रहने में



श्री १०८ मुनि विजयसागर जी

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

श्रीगुणभद्राचार्य-रचित

# आत्मानुशासन

( हिंदी-भाव सहित )

मंगल और ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा

**लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम् ।**
**आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥ १ ॥**

**अर्थः**—इस ग्रन्थ के कर्ता श्रीगुणभद्र स्वामी कहते हैं कि मैं अनन्त ज्ञानादि आत्मस्वभावरूप अन्तरंग अपूर्व-लक्ष्मी के धारी तथा छत्र चामर सिंहासन सभामंडप आदि वाहिरी अनुपम महिमा के धारी श्री महावीर अन्तिम तीर्थंकर को अथवा कर्मशत्रुओं के नाशक वीर को या अनुपम महिमा के धारी पाँचों परमेष्ठियों को अपने अंतःकरण में धारण करके 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ को करता हूँ। इस आत्मानुशासन ग्रन्थ के पढ़ने सुनने से भव्य-जीव, प्रतिबोध पाकर संसार दुःखो से पार होंगे, क्योंकि इस ग्रन्थ मे आत्मा के हित का उपदेश कहा जाने वाला है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने सुनने की आवश्यकता.—

**दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोहमप्यात्मन् ।**
**दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ २ ॥**

**अर्थः**—भव्य आत्मान्, तू दुःख से अत्यन्त डरता है और सुख चाहता है इसलिये सुन, मैं भी दुःखनाशक, सुखकारक तेरे अनुकूल ही उपदेश करता हूँ।

**भावार्थः**—बहुत से मनुष्य यह समझा करते हैं कि धर्म धारण करना क्या है, मानो सुख को छोड़कर कष्ट सहन करना है, क्योंकि व्रत, उपवास आदि करना और अनेक भोगोपभोग योग्य वस्तुओं का त्याग करना ही धर्म माना गया है। अतः ऐसे धर्म से अनेक कष्ट अवश्य सहने पड़ेंगे। यही समझकर वे धर्म से सदा

पराङ्मुख बने रहते हैं। ऐसे मनुष्यों को समझाने के लिये ग्रन्थ-कर्ता कहते हैं कि भाई, तू ऐसा विचार कर डर मत। तू भी दुःख से तो डरता है और सुख की सदा अभिलाषा करता है इसलिये हम वही उपदेश सुनावेंगे कि जिसके स्वीकार करने से दुःख का नाश और सुख का प्रादुर्भाव हो।

अब आचार्य कहते हैं कि यद्यपि हमारा उपदेश तुझे वर्तमान में कुछ कटुक लगेगा, परन्तु तो भी तू उससे डर मत।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किंचित्।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥ ३ ॥

अर्थः—परिपाक समय में नीरोग बनाने वाली औषधि पीते समय भले ही कडुवी मालूम हो, परन्तु रोगी मनुष्य को उससे डरना न चाहिये। इसी प्रकार मेरा उपदेश यद्यपि धारण करते समय कुछ कठोर मालूम होगा, तो भी फलकाल में उसका फल मधुर होगा, यह जानकर उससे तू डरना नहीं।

भावार्थः—जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं वे रोग दूर करने वाली कडुवी औषधि को पीने से डरते नहीं, क्योंकि वे जानते हैं कि वह औषधि पीने पर कुछ समय पीछे सुखकर होगी। इसी प्रकार जिस धर्म के धारण करने से कुछ काल पीछे सुख की प्राप्ति हो सकती है, वह धर्म, सेवन करते समय भले ही दु.सह्य हो पर, उससे बुद्धिमानों को डरना न चाहिये।

यदि कोई कहे कि ऐसे उपदेशक तो और भी बहुत से हैं, तुम व्यर्थ कष्ट क्यों उठाते हो ? तो इसका उत्तर:—

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥ ४ ॥

अर्थः—जैसे व्यर्थ गर्जने वाले, जलरहित और चारों तरफ से व्यर्थ ही इकट्ठे होआने वाले मेघ तो बहुत से होते हैं, पर, जल से भरे हुए, बरसकर जग को सुखी करने वाले बहुत ही थोड़े होते हैं; इसी प्रकार वृथा ही अधिक और अनुचित बकने वाले एवं अभि-मानवश अपने को ऊँचा दिखानेवाले मनुष्य तो संसार में बहुत से मिलेंगे, किन्तु जिनके अंत.करण में सच्ची धर्मवासना जाग चुकी है

और इसीलिये जग का निःस्वार्थ सच्चा उद्धार करने के लिये जो उत्सुक हो चुके हैं, ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ है।

यदि ऐसे सच्चे वक्ता विरल हैं, तो उनकी पहचान क्या है? इस प्रश्न का उत्तर, ( वक्ता का लक्षण ).—

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥ ५

अर्थः— जो विशेष चमत्कारिणी बुद्धि को धारण करनेवाला हो, सम्पूर्ण शास्त्रों का रहस्य जानने वाला हो, लोकमर्यादा का जानने वाला हो, आशारहित हो, नवीन नवीन विचार सुननेवाला हो, प्रतिभायुक्त अर्थात् कांतिमान् हो, शांत क्रोधरहित हो, प्रश्न उठने से पहले ही उस प्रश्न का उत्तर जाननेवाला हो, अनेक प्रश्न सुनकर भी जिसको क्षोभ उत्पन्न न होता हो, श्रोताओं से ऊँचा हो—प्रभावयुक्त हो, श्रोताओं के चित्त को आकर्षित करने वाला हो, आप स्वयं अनिंद्य हो तथा दूसरों की निंदा न करता हो, श्रोतागण का नायक हो, अनेक उत्तम गुणों का धारण करने वाला हो और स्पष्ट तथा मीठे शब्द बोलता हो वही वक्ता या उपदेशक हो सकता है। बुद्धिरहित मनुष्य वक्ता नहीं हो सकता। जो अनेक शास्त्रों का मर्म नहीं जानता वह भी यथार्थ वस्तुस्वरूप समझे विना कैसे उपदेश दे सकता है? जो लौकिक व्यवहार नहीं समझता हो वह लौकिक व्यवहार के अविरुद्ध उपदेश कैसे दे सकता है और लौकिक व्यवहार के प्रतिकूल धर्म का व्यवहार कैसे चल सकता है? जो श्रोताओं को धर्म सुनाकर उनसे कुछ लाभ होने की आशा रखता हो वह श्रोताओं के मनचाहा उपदेश ही देगा, यर्थार्थ कैसे कह सकता है? जो प्रतिभाशाली न हो वह देशकाल के अनुसार तथा प्रसगानुसार कल्पना उठाकर सच्चा निर्बाध उपदेश कैसे दे सकता है? अथवा कांति विना श्रोताओं पर प्रभाव कैसे पड़ सकता है? जो शातस्वरूप नहीं हो उससे श्रोता पूछने को उत्सुक कैसे हो सकेगा? एव क्रोधी के मुख का उपदेश लोगों पर कुछ असर भी नहीं कर सकता है। जो नवीन नवीन प्रश्नों का उत्तर पहले से ही नहीं जानता हो, वह श्रोताओं के

प्रश्न करने पर उनको तत्काल क्या सतुष्ट कर सकता है ? जो प्रश्न करने पर अप्रसन्न हो जाता हो उससे श्रोता निर्भय होकर यथेष्ट प्रश्न कैसे कर सकेगा ? और इसीलिये श्रोताओं का सन्देह भी किस प्रकार दूर होगा ? जो श्रोताओं से ऊँचे पद पर रहने वाला नहीं है, उस वक्ता का उपदेश श्रोता सर्वथा कैसे मानेगा ? जो दूसरों के चित्त का आकर्षण करने वाला न हो उसके कहने की तरफ श्रोता क्यों ध्यान रक्खेगे ? जो दूसरों की निंदा करता है वह चाहें वक्ता हो अथवा और कोई हो, उसको जन साधारण घृणा की दृष्टि से देखने लग जाते हैं, और अतएव उस वक्ता का उपदेश कोई भी रुचिपूर्वक नहीं सुनता। एव जो स्वयं निंद्य हो, उसका वचन भी लोग आदर-पूर्वक धारण नहीं करते। जो अनेक गुणों का पात्र न हो उसके कहनेमात्र का श्रोताओं पर क्या असर पड़ सकता है ? एवं गुण रहित मनुष्य का स्वामीपना भी शोभित नहीं हो सकता और न उसके स्वामी होने से स्वामित्व का असर ही पड़ सकता है। जो वक्ता स्पष्ट वचन नहीं बोलता, उसका अभिप्राय पूरा समझ में नहीं आ-सकता है। जो मिष्टभाषी नहीं हो उसका उपदेश सुनने के लिये श्रोताओं को रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती। एव,—

श्रुतिमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोस्तु गुरुः सताम् ॥ ६

**अर्थः**— जिसको शास्त्र का पूर्ण ज्ञान हो, जिसकी मन वचन काय सम्बन्धी सारी प्रवृत्तियाँ शुद्ध हों—अनिंदित हो, दूसरों का उद्धार करना अपना कर्तव्य समझकर जो दूसरों को शिक्षा देने में सदा तत्पर हो, जैन शासन के अनुसार निर्दोष प्रवृत्ति कराने के लिये जो असकृत् कटिबद्ध रहता हो, बडे बड़े विद्वान् जिसका आदर करते हों। एव आप भी विद्वानों का विनय, सत्कार, उनसे प्रेम करने वाला हो—उद्धत न हो, जिसको लोकरीति का ज्ञान हो, जिसके परि-णाम कोमल हों, जो स्वयं वांछारहित हो, इसी प्रकार और भी आचार्यपद के योग्य और उपदेश के साधक अनेक श्रेष्ठ गुण जिसमें पाये जाते हो वही सत्पुरुषों का उपदेशक गुरु हो सकता है। ऊपर

कहे हुए इन गुणों से जो शून्य होगा वह सच्चा उपदेष्टा नहीं बन सकता।

इससे पहले के श्लोक में जो वक्ता के गुण कहे हैं एक दो विशेषण कम अधिक वे ही गुण इस श्लोक में भी कहे गये हैं, परन्तु कथनशैली निराली है। इसीलिये इस श्लोक का रहस्य भी पहले से निराला है। अथवा दूसरे वार भी वे विशेषण कहने से वक्ता का यह अभिप्राय समझना चाहिये कि जो विशेषण दूसरे वार कहे गये हैं वे वक्ता से अवश्य चाहिये, उनकी अधिक आवश्यकता है, और जो विशेषण एक वार ही कहे गये हैं वे कदाचित् किसी वक्ता में अव्यक्त भी हों, तो भी वह वक्तृत्व पद के योग्य हो सकता है। जैसे लोक-मर्यादा का जानना, मिष्टाक्षर या मृदुता, आशारहित या अस्पृहा, शुद्ध वृत्ति या प्रशमवान्, पूर्ण श्रुतज्ञान वा समस्त शास्त्र हृदयवेत्ता, ये सर्व विशेषण ऐसे हैं कि इनके विना उपदेश का काम ही नहीं चल सकता है। इसीलिये इनको दो दो वार कह कर इन गुणों की आवश्यकता अधिक दिखाई गई है। बाकी परमनोहारी आदि विशेषण ऐसे हैं कि वे अव्यक्त हों या न भी हों, तो भी काम चल सकता है।

श्रोता का लक्षण

**भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतिमान्,**
**सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।**
**धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,**
**गृह्णन् धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥ ७**

**अर्थः**—जिसको आगामी मोक्ष सुख की प्राप्ति अवश्य होने वाली हो, मेरे लिये कल्याण कारी क्या है ऐसा जो विचार कर रहा हो, संसार सम्बन्धी नरकादि के दुःखों से अत्यन्त डर चुका हो, आगे के लिये सुखी होना चाहता हो, धर्म श्रवण की इच्छा जिसको उत्पन्न हो चुकी हो, सुने हुए विषय को जो धारण करने की शक्ति रखता हो सुनकर ग्रहण भी कर सकता हो, ग्रहण किये हुए विषय में विशेष विचार भी कर सकता हो, प्रश्नोत्तरादि द्वारा ऊहापोह भी करने वाला हो, सच्चे तत्व को ग्रहण करना भी चाहता हो, एवं दया आदि अनेक गुणयुक्त तथा युक्ति आगम से निर्बाध सिद्ध कल्याणकारी धर्म को सुनकर जो उस पर पूरा विचार और फिर विचारपूर्वक उस धर्म का ग्रहण करने वाला हो

रहित हो, वही जीव धार्मिक कथाओं को सुन सकता है और उसी को उपदेश देना सफल है। जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं मिलते हों, उसके सामने धर्म का व्याख्यान करना निरर्थक है। इसलिये श्रोता में ये लक्षण अवश्य होने चाहिये।

धर्म धारने की जरूरत

**पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।**
**तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्॥ ८**

**अर्थः**-- पापाचरण से परिपाक काल मे दुःख उत्पन्न होता है और धर्माचरण से सुख प्राप्त होता है, इस वात को सभी जानते हैं। इसलिये सुख चाहने वाले को पापाचरण छोड़कर सदा धर्म का ही आचरण करना चाहिये।

अब कहते हैं कि, यथार्थ सुख के वाञ्छक मनुष्य को चाहिये कि वह सच्चे उपदेशक का आश्रय ले, क्योंकि सब कोई सच्चे मार्ग को नही वता सकते--

**सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्,**
**सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोप्यागमात् स श्रुतेः।**
**सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेप्यत-**
**स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै॥ ९**

**अर्थः**- सुख को सभी जीव चाहते हैं और जितना जल्दी मिल सके उतना ही जल्दी चाहते हैं. परन्तु उस सुख की प्राप्ति तव हो सकती है जव सुख को नष्ट करने वाला जो कोई अनिष्ट दैव है, उसका नाश हो जाय। उस अनिष्ट कर्म का नाश एकमात्र सच्चे चारित्र से हो सकता है और वह चारित्र ज्ञान विना नहीं हो सकता क्योंकि बुरे भले चाल-चलन की समझ, विना ज्ञान कैसे हो? सच्चा ज्ञान भी यदि उत्पन्न करना हो तो वह आगम का आश्रय लिये विना नहीं हो सकता और आगम तव तक आ कहाँ से सकता है जव तक कि मूलार्थ प्रकाशक द्वादशांगरूप श्रुति का प्रादुर्भाव न हो। श्रुतिका प्रादुर्भाव तव होगा जव कि कोई यथार्थ उपदेष्टा आप्त उसको कहे। जीव कोई भी क्यों न हो, परन्तु तव तक आप्त नहीं हो सकता, जब

तक कि वह राग द्वेषादि सर्व दोषो को नष्ट न करदे, क्योंकि जब तक रागद्वेषादिक दोष प्रगट बने हुए है, तब तक कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति होना तथा सत्य संभाषण होना दु:साध्य ही नहीं किन्तु असंभव है। रागी द्वेषी मनुष्य रागद्वेष के वशीभूत होने से सर्वथा सत्य भाषण कभी नहीं कर सकते, और न वे निर्विकार निरपेक्ष कैवल्य विज्ञान ही प्राप्त कर सकते है। इसी प्रकार क्षुदादि दोषों के होने पर भी आप्तपना नही बन सकता है, क्योंकि क्षुदादि के वश हुआ मनुष्य भी अपने प्रयोजनार्थ चाहे जो कुछ सीधा उलटा संभाषण करता हुआ दीख पड़ता है। इसलिये ये सभी दोष आप्त होने के घातक हैं। इस प्रकार अनुक्रम से देखने पर प्रतीत होगा कि सर्वज्ञ आप्त भगवान ही सब सुखो की उत्पत्ति होने में निदान है। जब कि आप्त के विना सुख प्राप्ति होना कठिन है तो सभी को यह चाहिये कि, आप्त की खोज और परीक्षा करें और परीक्षा हो जाने पर उस सच्चे आप्त का वचन स्वीकार करे।

विद्वानों ने जिसको सच्चा आप्त माना है उसने चार आराधनाओं का वर्णन किया है। उन चारों के आराधन करने से जीव का कल्याण हो सकता है। उनमे से प्रथम आराधना को पहले दिखाते हैं:—

**श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा,**
**संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम्।**
**निश्चिन्वन् नवसप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां,**
**सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना ॥ १० ॥**

**अर्थ:**—पहली आराधना सम्यग्दर्शन है। सच्चे आत्मश्रद्धान को तथा तत्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आगे कहे हुए सम्यक्त्व के फल को ध्यान में रखकर इस सम्यक्त्व को अपना हितकारी मानते हुए इसका आश्रय करना चाहिए, धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यक्त्व दो प्रकार का है:—निसर्गज और अधिगमज। बाहिरी उपदेशादिक कारणों के साक्षात् न मिलते हुए जो पहले संस्कार की मुख्यता से उत्पन्न हो, वह निसर्गज सम्यक्त्व है; और गुरु का उपदेश केवली का दर्शन इत्यादि बाहिरी कारण मिलने से

जो उत्पन्न हो वह अधिगमज है। यही सम्यग्दर्शन अपने घातक कर्म के उपशम क्षय क्षयोपशम को निमित्त पाकर उत्पन्न होता है इसलिये इसके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक ऐसे तीन भेद भी माने गये हैं। आगे इसी के दश भेद भी कहने वाले हैं। सम्यग्दर्शन के लोकमूढता आदि जो पच्चीस❀ दोष माने गये हैं उनसे वह रहित होना चाहिये। सदा संवेग आदि चारित्र के अंग बढ़ाने का यह सम्यग्दर्शन कारण माना गया है, तथा संवेग रखने से सम्यग्दर्शन बढ़ता भी है।

---

१--मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ १ ॥

❀ (१) लोकमूढता - शास्त्र की मर्यादा का तथा अपने हानि लाभ का विचार न करके अज्ञान मनुष्यों की देखादेखी कार्य करना। (२) समयमूढता --जग मे अनेक प्रकार के शास्त्र तथा धर्म प्रचलित हैं, उनकी परीक्षा न करके देखादेखी किसी एक शास्त्र या धर्म को अच्छा मानने लगना। (३) देवमूढ़ता--अनेक प्रकार के देवी देव झूठे साचे कल्पित करके लोगों ने जो मान रक्खे हैं, उनको स्थापित कर रक्खा है, उनकी परीक्षा न कर, उनका बुरा भला स्वरूप न विचार कर यों ही उनमे से किसी को मानने लगना। (४-६) छह अधर्मपोषक स्थान जिनको कि अनायतन कहते हैं। (१०) शंका, (११) कांक्षा, (१२) विचिकित्सा, (१३) मिथ्या गुणवालों की प्रशंसा, (१४) धर्म के दोष प्रगट करना=अनुपगूहन, (१५) धर्म से चलायमान को धर्म में स्थित करने की इच्छा न करना=अस्थिति-करण, (१६) साधर्मी जीवों के साथ परस्पर प्रेमपूर्वक न रहना= अवात्सल्य, (१७) जैन मार्ग का ज्ञान चरित्रादि गुणों के द्वारा महत्व प्रगट न करना=अप्रभावना, (१८) अपनी जाति लोकप्रतिष्ठित होने के कारण उसका गर्व करना=जातिमद, (१९) कुलमद, (२०) अपने को कुछ ज्ञान प्राप्त हो तो उसका मद=ज्ञानमद, (२१) लोक में अपना जो कुछ सत्कार होता हो उसका मद=पूजामद, (२२) बल-मद, (२३) ऋद्धिमद, (२४) तपोमद, (२५) शरीर की सुन्दरता का मद=शरीरमद। ऐसे ये सम्यक्त्वसम्बन्धी २५ दोष है, जिनसे कि सम्यक्त्व मलिन भी होता है और कभी कभी इन दोषों का अधिक जोर होने पर नष्ट भी हो जाता है।

(और नवीन भी कभी कभी उत्पन्न होता है)। इस सम्यग्दर्शन के होने से क्रमानुसार संसार-दुःखों का उच्छेद होता है। मति, श्रुति, अवधि ये तीनों ही मिथ्याज्ञान सम्यग्दर्शन के होने से निर्मल समीचीन ज्ञान हो जाते हैं। पुण्य पाप को जुदा मानने से नौ, और जुदा न मानने से सात जो जीवादि तत्व, उनका सच्चा श्रद्धान कराने वाला है। ऐसा यह सम्यग्दर्शन अविनाशी मोक्षरूप महल पर चढ़ने वाले बुद्धिमान कल्याणेच्छुक जनों के लिये पहली सीढ़ी है।

सम्यक्त्व के दश भेद

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च ॥ ११

अर्थः—सम्यग्दर्शन के आज्ञासम्यग्दर्शन, मार्गसम्यग्दर्शन, उपदेशसम्यग्दर्शन, सूत्रसम्यग्दर्शन, बीजसम्यग्दर्शन, संक्षेपसम्यग्दर्शन विस्तारसम्यग्दर्शन, अर्थसम्यग्दर्शन, अवगाढसम्यग्दर्शन और परमावगाढ सम्यग्दर्शन ये दश भेद हैं। ये भेद कुछ तो उत्पत्ति के निमित्त भेद से हुए हैं और कुछ स्वरूप में हीनाधिकता होने के कारण हुए हैं।

सम्यक्त्व के १० भेदों का अर्थ

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव,
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥१२

अर्थः—शास्त्राध्ययन के विना ही केवल वीतराग देव की आज्ञा मानकर तत्वों पर जो कुछ रुचि उत्पन्न हो वह आज्ञासम्यक्त्व है। सम्यक्त्व घातक मोह कर्म की शान्ति हो जाने से, शास्त्राभ्यास के विना ही जो बाहिर भीतर के परिग्रह से सर्वथा रहित, कल्याणकारी ऐसे मोक्षमार्ग को अच्छा समझने लगना वह मार्गसम्यक्त्व है। आगमरूप समुद्र का अगाध ज्ञान जिनके हृदय में प्रसार पा चुका है ऐसे आचार्यों ने उस सम्यक्त्व को उपदेश सम्यक्त्व कहा है कि जो तीर्थंकरादि श्रेष्ठ पुरुषों का चरित्र सुनने से उत्पन्न हुआ हो।

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः,
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्ज्ञातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान्,
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥१३

अर्थः—मुनियों की चारित्रविधि दिखानेवाले आचारसूत्र को यहाँ पर सूत्र कहा है। इस सूत्र को सुनकर जो श्रद्धान उत्पन्न हो वह सूत्रसम्यग्दर्शन है। गणित ज्ञान के लिये जो नियम ( बीज ) किये गये हैं उनमें से कुछ नियमों के जानने से तथा मोहनीय कर्म की सातिशय उपशांति प्राप्त होने से करणानुयोग के गहन पदार्थों को भी जिसने समझ कर जो सम्यक्त्व प्राप्त किया हो उसके उस सम्यक्त्व को बीजसम्यग्यदर्शन कहते हैं। पदार्थों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर ही जो तत्वों मे यथार्थ रुचि उत्पन्न करने वाला हो वह संक्षेपसम्यग्यदर्शन समझना चाहिये।

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं,
संजातार्थाद् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा,
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥१४

अर्थः—सर्व द्वादशांग को सुनकर किसी ने जो रुचि उत्पन्न की हो उसे विस्तारसम्यग्दर्शन समझना चाहिए। किसी पदार्थ के देखने अनुभवने से तथा किसी दृष्टान्त आदि के अनुभवने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ हो वह अर्थसम्यक्त्व है। बारह अंग और अंगबाह्य ऐसे सर्व श्रुतज्ञान का पूर्ण अनुभव होने पर श्रुतकेवल अवस्था जिसको प्राप्त हुई हो उसको जो पदार्थों में श्रद्धान उत्पन्न होता है वह बहुत गाढ़ होता है इसलिये उसे अवगाढ़सम्यक्त्व कहते है। केवलज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों मे जो अत्यन्त दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो उसे परमावगाढसम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व को सब से प्रथम कहने का हेतु.—

शमबोधवृत्ततपसां, पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव, तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥ १५

**अर्थः**—आत्मा में कषायों की मन्दता होने से जो उद्वेग मन्द हो जाता है वह उपशम है। शास्त्राभ्यास करने से उत्पन्न हुआ जो पदार्थ ज्ञान वह बोध है। पापमय निन्द्य क्रिया का छोड़ना चारित्र है। उपवास तथा कायक्लेशादिकों को तप समझना चाहिये। ये चारों ही बातें किसी जीव मे जब तक सम्यक्त्वरहित—केवल हों तब तक इन चारों का महत्त्व एक साधारण पत्थर के बराबर है कि, जो एक स्थान पर उद्वेग रहित पड़ा रहता है इस कारण शम-युक्त कहा जा सकता है; दूसरे लोगों को लगने पर बोधित करने वाला होने से बोधयुक्त है, वृत्त अर्थात् वर्तुलाकार को धारण करने वाला है; शीतोष्ण आदि दुःख सहते हुए भी उसमें कष्ट नहीं होता इसलिये तप भो करने वाला कहा जा सकता है। इन्हीं शमादिक चारों का मूल्य उस मनुष्य में कि जो सम्यक्त्व-सहित हो, एक उत्कृष्ट रत्न के समान हो जाता है।

अर्थात् शम, बोध, वृत्त, तप ये चारों गुण रत्न, और पाषाण दोनों मे बराबर ही हैं, तो भी रत्न में एक अपूर्व कान्ति के ही अधिक होने से रत्न का आदर अधिक होता है, जहाँ कि पाषाण को कोई पूछता भी नहीं है। इसी प्रकार शम, बोध, वृत्त, तप ये चारों रहने पर भी मनुष्य आदरणीय नहीं हो पाता, और एक सम्यग्दर्शन गुण के हो जाने पर मनुष्य लोकपूजित बन जाता है। यही कारण है कि चारों आराधनाओं में सम्यक्त्व को सब से प्रथम गिनाया है।

अथवा, पाषाण को धारण करने पर भी मनुष्य का जिस प्रकार कुछ आदर नहीं होता, उसको देखकर भी लोग उसे श्रीमन्त या सुकृती नहीं कहते किन्तु रत्न धारण करने वाले को देखकर लोग उसे बहुत बड़ा श्रीमन्त, पुण्यशाली समझते हैं। उसी प्रकार केवल शम, बोध, वृत्त, तप धारण करने पर भी मनुष्य सत्कारपात्र नहीं हो पाता, किन्तु सम्यक्त्व के धारण कर लेने से वही मनुष्य पूज्य हो जाता है। इसीलिये सम्यक्त्व सब गुणों से अधिक आदर-णीय है।

दुराराध्य मानकर धर्म से डरने वाले के लिये आश्वासनः—

मिथ्यात्वातङ्कवतो, हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य।
बालस्येव तवेयं, सुकुमारैव क्रिया क्रियते ॥ १६

**अर्थः**—रोगी होकर भी हिताहित की अनुकूल प्रवृत्ति को न समझने वाला, अतएव रोगनाश के अचूक परन्तु दुःसह उपाय को करने के लिये असमर्थ या अनुत्साही ऐसा जो बालक उसके लिये वैद्य जिस प्रकार सहज सी कोइ रोगनाशक औषधि बताता है इसी प्रकार मिथ्यात्वरूप संसार-दु.खवर्धक रोग से पीड़ित होने पर भी जब तक तू सच्चे हित को साधने और अहित को दूर करने के लिये पूर्ण साहसी नहीं हुआ है तब तक हम तेरे लिये बहुत ही सहज उपाय बताते हैं, तू डर मत।

वह सहज उपाय अणुव्रतरूप चारित्र आराधना·—

**विषयविषप्राशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य ।**
**निःशक्तिकस्य भवतः, प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥ १७**

**अर्थः**—विष आदि विपरीत वस्तु के खाने से जब संताप-ज्वर बढ़ जाता है और उसके योग से तृषा बढ़ जाती है तथा शक्ति घट जाती है तब जिस प्रकार सहज पचने योग्य पीने की चीजें ही प्रथम देकर शक्ति बढ़ाई जाती है और तृषा कम की जाती है; उसके बाद फिर कठिन गुरुतर औषधियों का सेवन कराया जाता है। उसी प्रकार विषय सेवन से जो तुझे मोह उत्पन्न होकर पदार्थों में इष्टा-निष्ट मानने की टेव, जो कि, दु·सह दाहजनक है, उत्पन्न हो गई है और वीतरागादि स्वरूप आत्मसम्बन्धी स्वाभाविक शक्ति घट गई है इसलिये उसके शमनार्थ, धारण करने योग्य ऐसी अणुव्रतरूप प्रथम देने योग्य औषधि हम बताते हैं, वही तेरे लिये इस समय अनुकूल होगी। अर्थात् जब तक वीतरागादि स्वभावरूप निजशक्ति बढ़ नहीं चुकी हो तब तक कठिन महाव्रतादि रूप औषधि देना उचित नहीं है किन्तु अणु चारित्ररूप सह्य औषधि देना ही समयोचित है। तदनंतर आत्मीय शक्ति बढ़ जाने पर महाचारित्र रूप औषधि का सेवन कराना भी अनुकूल हो सकेगा।

सदा ही धर्म की आवश्यकता.—

**सुखितस्य दुःखितस्य च, संसारे धर्म एव तव कार्यः ।**
**सुखितस्य तदभिवृद्ध्यै, दुःखभुजस्तदपघाताय ॥ १८**

**अर्थः**—संसार मे रहते हुए तुझे सुख की अवस्था मे भी धर्म का आश्रय लेना चाहिये और दुःखी रहने पर भी धर्म का आश्रय

लेना चाहिये। यदि पहले से ही तू सुखी होगा तो उस तेरे सुख में बढ़वारी होगी और यदि तू दुःखित होगा तो उस दुःख का इस धर्म के धारने से नाश हो जायगा। अर्थात् चाहे कोई जीव कभी सुखी हो या दुःखी, परन्तु दोनों ही अवस्थाओं में धर्म धारण करने की जीवमात्र को आवश्यकता है। जैसे ऋणी मनुष्य यदि धन कमावेगा तो वह उस धन से ऋणमुक्त हो जायगा किन्तु जिसके पास धन बहुतसा है तथा ऋण कुछ भी जिसको देना नहीं है वह भी यदि धन कमावेगा तो उसकी सम्पत्ति मे बढ़वारी होगी। इसलिए धन कमाना किसी के लिए भी अनिष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार दुःख की अवस्था में जीव यदि धर्म सेवन करे तो उसके उस दुःख का क्रम क्रम से नाश हो सकता है। यदि पहले का सुखी जीव धर्म का आराधन करे तो उसके उस पूर्वसंचित पुण्य कर्म के रस मे वृद्धि होने से वर्तमान सुख में वृद्धि हो सकती है; तथा नवीन पुण्य कर्म का बन्ध होने से आगे भी सुख की प्राप्ति होना संभव होता है।

इन्द्रिय सुख के लिये धर्म की आवश्यकता—

**धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि।**
**संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१९**

**अर्थः**—सम्पूर्ण इन्द्रियों के इष्ट-विषय सम्बन्धी जो सुख हैं उन सबों को सम्यक्त्वादि अनेक वृक्षयुक्त धर्मरूप बाग के फल समझना चाहिये। इसलिये तू सम्यक्त्व—संयमादि रूप वृक्षों की जिस तिस प्रकार से रक्षा करके विषय-फलों को भोग। अर्थात्, बुद्धिमान् मनुष्य जिस प्रकार श्रेष्ठ फल देनेवाले वृक्षों को जड़ से उखाड़कर उनके फल नहीं खाते किन्तु उन वृक्षों को कायम रखकर उनसे फल लेते हैं, इसी प्रकार विषयरूप फलों की उत्पत्ति भी धर्मरूप वृक्षों से ही हो सकती है, इसलिये उस अनेक प्रकार के धर्म की रक्षा करके विषयों को भोगना चाहिये, न कि धर्म की जड़ काटकर।

धर्म से विषयसुख का भंग नहीं होगा। क्यों ?—

**धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य।**
**तस्मात् सुखभङ्गभिया मा भूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ।।२०**

**अर्थः**—धर्म से सुख की उत्पत्ति होती है। इसलिये जब कि, धर्म सुख का हेतु सिद्ध हो चुका, तो हेतु कभी भी अपने कार्य का

घातक कारण नहीं हो सकता किन्तु सदा अपने कार्य का कहीं प्रत्यक्ष कहीं परोक्षरूप से साधक ही होगा। इसलिये तू इस वात को विचार कर धर्म से विमुख मत हो कि, धर्म धारण करने से मेरे विषय-सुखों में वाधा आ पडेगी।

धर्मादवाप्तविभवो, धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः, कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२१

अर्थः—सुख सम्पत्ति आदि विभव की प्राप्ति धर्म द्वारा हुई है इसलिये धर्मरूप प्रधान कारण की रक्षा करते हुए ही तुझे भोग भोगने चाहिये, न कि धर्म का ध्वंस करके। जैसे किसान को जो धान्य मिलता है वह बीज वोने से मिलता है इसलिये वह बीज को आगे के लिये भी संभाल कर रखता है, [ जिससे कि एक वार उत्पन्न हुआ धान्य भोग लेने पर भी आगे धान्य की उपज होती रहै ]।

कल्पवृक्ष तथा चिंतामणि रत्न से भी धर्म की अधिक उत्कृष्टता:—

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य, चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२

अर्थः—कल्पवृक्ष से फल की प्राप्ति, प्रार्थना [ संकल्प ] करने से होती है, और वह भी, जितनी शब्द द्वारा कही जा सकती है उतनी ही होती है। चिन्तामणि रत्न के द्वारा भी जो फल प्राप्त होता है वह मानसिक चिंतवन करने पर ही होता है, और वह भी, मन के विचार करने से अधिक नहीं। परन्तु धर्म के द्वारा विना याचना किये, विना चिंतवन किये ही फल प्राप्त होता है, और वह भी ऐसा कि जिसका प्रमाण वचन के तथा चिंतवन के अगोचर हो। अर्थात् वह इतना वड़ा फल मिलता है कि जिसे हम वचन से कह नहीं सकते हैं और मन से जिसका अन्दाज करना भी कठिन है।

ऐसे धर्म की उत्पत्ति किससे हो सकती है ?

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३

अर्थः—सुपरीक्षक लोग पुण्य पाप का कारण परिणाम को ही मानते हैं। जव कि पुण्य का या पाप का संचय करना अथवा न करना यह हमारे परिणाम के आधीन है तो हमारे ही आश्रित

है। और जब कि ऐसा है तो सुखसाधन भूत पुण्य का संचय, पुण्य की वृद्धि तथा पापबंध का निरोध, पूर्वसंचित पाप का ह्रास अवश्य करना चाहिये, क्योंकि अपने आधीन होने से ऐसा कर लेना बहुत ही सुगम है।

धर्म से पराङ्मुख होकर विषयासक्त होने वाले की निंदाः—

**कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।**
**आच्छिद्य तरून्मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ॥२४**

**अर्थः**—अज्ञान तथा तीव्र रागद्वेष के वश होकर, जो धर्म की रक्षा न करते हुए और नवीन धर्म का विघात करते हुए पूर्वसंचित धर्म के फलों को भोगते हैं वे पापी मानो उत्तम फल के देने वाले वृक्षों को जड़ से काटकर उन वृक्षों के फल को भोगने वाले हैं। अर्थात्, जैसे उत्तम फल देनेवाले वृक्षों की रक्षा करते हुए उनसे जो फल लेकर भोगते रहते हैं वे तो बुद्धिमान् सज्जन धर्मात्मा हैं, किन्तु जो तीव्र उन्माद के वश अथवा तीव्र तृष्णा के वश होकर जड़ से काटकर उन वृक्षों के फल लेना चाहते हैं वे मूर्ख अविवेकी अधम पापी हैं। इसी प्रकार जो विषयो का सेवन इस तरह करता है कि जिसकी प्रवृत्ति से धर्म का उच्छेद होकर पाप संचय हो वह पापी मूर्ख समझना चाहिये, क्योंकि उसका उसने समूल नाश करके उससे एक बार प्राप्त होने वाले फलों को भोगकर आगामी सदा के लिये वह धर्मवृक्ष नष्ट कर दिया।

विषयसेवन और धर्माराधन का एक साथ हो सकनाः—

**कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणचरणवचनेषु।**
**यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न संग्राह्यः ॥२५**

**अर्थः**—जो धर्म मानसिक चिंतवन द्वारा, शारीरिक चर्या द्वारा, वचन द्वारा स्वय करने से, दूसरों को कराने से अथवा अनुमोदना करने स एवं हर तरह से संचित हो सकता है, उस धर्म का क्यों न संग्रह करना चाहिये? भावार्थ—कृत, कारित, अनुमतिरूप ऐसे प्रत्येक मन वचन तथा काय की प्रवृत्ति तीन तीन प्रकार की हो सकती है, इसलिये जीवों की, मन वचन काय की प्रवृत्ति मूल नौ प्रकार की कही जा सकती है। जीव की कोई भी प्रवृत्ति क्यों न हो

किन्तु सबका समावेश इन नौ भेदों के भीतर ही हो जाता है। इन प्रवृत्तियों में से अथवा उत्तर भेदों में से जीव की कोई न कोई प्रवृत्ति निरन्तर होती ही रहती है। इसलिये यदि जीव सावधान होकर अपनी प्रवृत्तियों को अनुकूल प्रवर्ताने का प्रयत्न रक्खे तो जीव को निरन्तर सहज ही धर्म संचित हो सकता है। ऐसे स्वाधीन और सर्वदा सहज ही संचित हो सकनेवाले धर्म को कौन बुद्धिमान् संचित करना न चाहेगा? भावार्थ—पुण्य पाप का संचय अपनी प्रवृत्ति के अधीन होने से भोग भोगते हुए भी हम सावधान रहें, तो धर्म का साधन कर सकते हैं। और इसीलिये धर्म का रक्षण तथा उपार्जन करते हुए भी भोग भोगना कठिन नहीं है। इस प्रकार धर्म तथा विषय-सेवन ये दोनों एक साथ भी हो सकते हैं।

धर्म वासना का फल.—

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्धन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेथ तस्मिन्।
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानां रक्षा ततोस्य जगतः खलु
धर्म एव ॥ २६ ॥

अर्थः—जब तक जीवों के हृदय में धर्म वासना का पूरा वास रहता है तब तक वे जीव अपने घातक (सर्पादि) का भी प्रतिघात करना अनुचित समझते हैं। परन्तु देखो, जब हृदय से धर्म वासना निकल जाती है. अथवा होती ही नहीं तो, पिता पुत्रों में भी परस्पर एक दूसरे का घात कर डालते हैं। इसलिये यह निश्चय करना चाहिए कि जीवों की रक्षा एकमात्र धर्म के ही रहने से हो सकती है। धर्म के अतिरिक्त प्राणी का कोई भी रक्षक नहीं है। इसलिये धर्म का संचय सभी को करना अवश्य है।

विषय-सेवन पाप का कारण है तो भी उसके साथ-साथ
धर्म संचित करने का मार्ग दिखाते हैं:—

न सुखानुभवात् पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात्।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्नतु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥ २७ ॥

अर्थः—पूर्व पुण्योदय से मिले हुए विषय सुख भोगने मात्र से पाप बंध नहीं होता। तो? पुण्य बंध के कारण जो मंद कषाय, सन्तोष तथा अहिंसादि परिणाम, उनको नष्ट कर तीव्र कषाय,

प्राप्त विषयों में असन्तोष, अप्राप्त विषयों के प्राप्त होने के लिये अत्यन्त तृष्णा तथा असीम अन्यायादि रूप प्रयत्न आरम्भ करना तथा जीवघात करना, इत्यादि कारणों से पापकर्म का बंध अवश्य होता है। जैसे मिठाई खा लेने मात्र से अजीर्ण नहीं हो जाता, किन्तु खाने की कुछ मर्यादा ही यदि रक्खी न जाय तो अवश्य अजीर्ण होना संभव है।

भावार्थः—पूर्वोक्त सुख,।जो कि संसार से छुटकारा मिलने पर ही जीव को प्राप्त हो सकता है, वह तो इस गृहस्थ आश्रम में रहकर विषय सेवन करते हुए साक्षात् कभी प्राप्त हो नहीं सकता। उसका कारण एक मात्र सर्व पापारंभ रहित जैनेश्वरी मुनिदीक्षा ही है। परन्तु ऐसा भी न समझना चाहिये कि जबतक किसी जीव से सर्वथा विषयासक्ति छूट कर नष्ट न हो जाय और मुनिधर्म का धारण न हो सके तब तक उसके लिए धर्म साधने का दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि पाप का कारण कषायों की तीव्रता है और पुण्य का कारण कषायों की मन्दता है। वह कषायों की मन्दता गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी जीव चाहे पूर्ण न कर सकता हो परन्तु कुछ कुछ तो भी कर सकता है। बस, गृहस्थी मे जितनी कषाय-मात्रा घटेगी उतना पुण्यकर्म का सचय वहाँ भी होगा। जैसा कि पहले कह चुके हैं "परिणाममेव कारणमाहु· खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञा."।

अब यह देखना चाहिए कि पाप का कारण जो कषायों की तीव्रता, वह कैसे होती है और पुण्य का कारण जो कषायों की मन्दता, वह कैसे हो सकती है? जो सहज प्राप्त हुए विषय सम्बन्धी इष्टानिष्ट पदार्थ, उनके सम्बन्धानुसार अनुद्विग्न रहकर भोग भोगना अप्राप्त इष्टानिष्ट विषयों की तरफ उत्कट राग द्वेष न रखना, अन्याय लोक या राज्य के विरुद्ध प्रवर्तने का साहस न करना और जैन मार्ग को ही परमार्थ कल्याणकारी समझना इत्यादि मन्द कषाय के भेद हैं। ऐसा होने से इन्द्रिय विषय का भोक्ता भी धर्म का संचय कर सकता है। इससे उल्टी प्रवृत्ति रखने से कषाय की तीव्रता होती है और वह पाप का कारण है। क्योंकि चाहें इससे होने वाला शुभा-शुभ वन्ध अनुभव गोचर न हो परन्तु कषायों की मन्दता से साक्षात् ही सुखशान्ती मिलती है; और तीव्रता होने से सुखशान्ती का भंग

होकर आकुलता दुःख नजर आते हैं; इसलिये कषायों की तीव्रता तथा मन्दता परोक्षरीत्या भी सुख दुःख के ही कारण होंगे, ऐसा अनुमान होता है।

धर्मघातक आरम्भ यदि दुःख का कारण ही हो तो शिकार वगैरह खेलते आनन्द क्यों होता है? इसका उत्तर.—

अप्येतन्मृगयादिकं यदि तव प्रत्यक्षदुःखास्पदं,
पापैराचरितं पुरातिभयदं सौख्याय संकल्पतः।
संकल्पं तमनुज्झितेन्द्रियसुखैरासेविते धीधनै-
र्धर्म्ये कर्मणि किं करोति न भवान् लोकद्वयश्रेयसि ॥ २८

अर्थः—शिकार का नाम मृगया है। श्लोक में आदिशब्द के होने से मद्यादि भी लिया जा सकता है। मृगया आदि कर्म करने में आकुलता उत्पन्न होती है, क्षोभ उत्पन्न होता है, शरीर और मन मे असावधानता उन्मत्तता वगैरह उत्पन्न होती हैं। इन सब के होने से शरीर तथा मन में सुखशान्ती नहीं रह सकती किन्तु क्रूरता या निर्दयता प्रगट हो जाती है। ऐसा विचार करने से मृगया आदि प्रत्यक्ष ही दुःख का कारण है। कभी कभी तो सिंहादि प्रबल जीवों की मृगया करते समय उनके द्वारा मृगया करनेवाले मनुष्य ही खुद मारे जाते है। दूसरी बात यह कि यह कर्म, विचारने पर भील चांडालादि पापी नीच मनुष्यों का प्रतीत होता है। परभव मे तो यह अत्यन्त भयंकर नरकादिदुःख देनेवाला है ही। ऐसा होने पर भी यदि तेरे मान लेने से सिर्फ यह कर्म तुझे सुखदाई जान पड़ता है तो उस संकल्प को तू उस उभयलोक सुखदाई धर्म में ही क्यों नहीं लगाता है? कि इन्द्रिय विषयों को पूर्ण भोगते हुए भी विचारवान् चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों ने जिसका पालन किया। अत. विचार करने पर जान पड़ता है कि मृगया आदिक दुःखदाई ही है, केवल अपने मन के संकल्पमात्र से उसमे प्रवृत्त हुए मनुष्य को सुखदाई से भासते है।

देखो, दुःख वही है जिससे शान्ती का भंग होकर आकुलता की वृद्धि हो तथा नीच कर्म समझ लोग जिसकी निन्दा करते हों। शिकार खेलने वाले जब शिकार में लगते हैं तब उन्हें जैसे सहज मिल सकने वाले तृण घास तथा अन्न की प्राप्ति करने मे उद्वेग

रहित थोड़ासा प्रयत्न करना पड़ता है वैसे उद्वेग रहित थोड़े से प्रयत्न से सफलता प्राप्त नहीं होती किन्तु सहज शान्त आत्मस्वभाव के विपरीत क्रूरता से भरा हुआ पूरा प्रयत्न करना पड़ता है। सहज शान्त आत्मस्वभाव का जितना जिस कार्य के करने से भंग हो उतना ही वहाँ दुःख तथा पाप समझना चाहिये। अन्नादि के मिलाने मे भी यदि किसी को क्रूरता अशान्ती से भरा हुआ उद्योग करना पड़ता हो तो वहाँ भी दुःख तथा पाप समझना ही चाहिये। परन्तु अन्नादि प्राप्ति के लिये उद्योग इच्छा रखने पर शांतिपूर्वक भी हो सकते है। इसलिये उन उद्योगों की अधिक बुराई नहीं की। किन्तु मृगया ऐसी नहीं है, इसमें सदा शांती का भंग कर क्रूरता पूर्ण आत्मविरुद्ध ही प्रवृत्ति करनी पड़ती है। इसीलिये इसका परित्याग करना सभी जगह अच्छा कहा है। सात्विक वृत्ती के मनुष्य इस कार्य में कभी नहीं पड़ते। किन्तु भील चाण्डालादि अबोध पामर मनुष्यों की ही इसमें विशेष प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इसलिये यह कार्य निंद्य तो अवश्य ही है।

मृगया कर्म करने वालों की और भी असीम निर्दयता:—

**भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिकाः।**
**दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥ २६**

**अर्थ**—जिनका शरीर सदा भययुक्त रहता है, कोई भी जिनका रक्षक नहीं है, जो सर्वथा अपराध रहित हैं, शरीर के अतिरिक्त कुछ भी जिनके पास संपत्ति नहीं है, दाँतों मे जिन्होंने तृण दबा रक्खे हैं ऐसी हरिणियों को ही जब हिंसक लोग मार देते है तो दूसरे जीवों मे तो वे दया करेंगे ही क्या ? जिनको अपने शौर्य का अभिमान होता है अथवा जो न्याय मार्ग पर चलने वाले होते हैं वे ऐसे जीवों का वध कभी नहीं करते कि जो भयभीत हो, अनाथ हो, निर्दोष हो, जिसने अपने दांतों मे तृण दबा लिया हो, निर्बल रंक हो अथवा कोई स्त्री हो। जिसमे उपर्युक्त कोई एक भी स्वभाव हो वही जब अवध्य है तो जिस हरिणी मे अवध्यता के उपर्युक्त सभी स्वभाव मिलते हैं उसको हिंसक लोग कैसे मार डालते हैं यह आश्चर्य की बात है। जबकि इस प्रकार वधक मनुष्यों की निर्दयतापूर्ण निःशंक प्रवृत्ति होती है तो वे आत्मस्वभाव प्रतिकूल

दु:ख तथा पाप के कर्ता हैं कि नहीं ? इस बात का विचार सहज हो सकता है। आत्मा के लिये अहित तथा दु:ख वही समझना चाहिये कि जो आत्मा के सहज स्वभाव से विरुद्ध हो।

अब चोरी आदि कुकर्मों का त्याग कराते हैं:—

**पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् ।**
**लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशःसुखाऽऽयार्थम् ॥ ३०**

**अर्थः**—चुगली खाना, दीनता रखना, कपट करना, चोरी करना, झूठ बोलना, मुनिहत्या आदि पातक करना इन कुकर्मों को छोड़कर रे भव्यात्मन् तू इह परलोक का हित सिद्ध कर, जिससे कि धर्म की प्राप्ति हो, सम्पत्ति की प्राप्ति हो, कीर्ति तथा सुख मिले, पुण्य कर्म का आगे के लिये सचय हो।

प्राणघात की तरह चोरी आदि कामों के करने मे आत्मा की सहजशाती नष्ट होकर आकुलता, दु ख बढ़ते है। नीच मनुष्यों के ये कार्य हैं। ऐसा करने से अन्याय मार्ग बढ़ता है। जिन जीवों के ऊपर ये कर्म किए जाते है उन्हें असीम दु ख होता है। इसलिए श्रेष्ठ आत्म हितेच्छु मष्नुयों को इन कुकर्मों से भी दूर रहना चाहिए। भावार्थ, अहिंसादि व्रत धारण करने से ये उपर्युक्त दोप दूर हो जाते हैं। अचौर्य व्रत के होने से कपट और सत्य व्रत के होने से चुगली तथा दीनता एवं अहिंसा व्रत के होने से मुनिहत्या आदिक पापक्रिया सहज ही छूट जाती हैं। इसलिए व्रती होने से सहज मे इह परलोक का सुधार हो सकता है।

व्रतियों को भी कभी कभी उपसर्गादि भयंकर वेदना के निमित्त उपस्थित हो जाने से अहिंसा, झूठ बोलने इत्यादि पापों मे प्रवृत्ति करनी पड़ती है यह शंका होना साहजिक है। परन्तु पुण्य के योग से सर्व उपद्रवों का दूर होना संभव है। देखो:—

**पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोपि नोपद्रवोभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ।**
**संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥**

**अर्थः**—रे भव्य, पुण्य का सचय कर। जिसने पुण्य का संचय किया हो उसको असामान्य उपद्रव भी कुछ दु:ख नहीं दे

सकते, किंतु उलटे संपत्ति मिलने के कभी-कभी कारण होते दीखते है। देखो, जो सूर्य सम्पूर्ण जग को संतापित करने वाला है, कमलों मे उसीसे विकाश रूप शोभा प्रगट होती है।

यहाँ शंका होगी कि उपद्रव या उपसर्ग से विभूति या सुख की प्राप्ति कैसे हो ? क्या कभी विष खाने से भी मनुष्य जिएगा या पुष्ट होगा ? इसका उत्तर यही है कि पुण्य की महिमा अकथनीय है। उपसर्गों से दु ख पापी जनों को ही होता है। इसके लिये सूर्य का दृष्टान्त वस है। देखो, जिस सूर्य से सभी जग को सन्ताप होता है पर कमल उसके किरण पाकर भी खिलते ही हैं।

कोई चाहे कि मैं पुण्य कर्म की परवाह न करके अपने पुरुषार्थ से ही दु.ख दूर कर सकता हूँ तो यह विचार सब व्यर्थ है। देखो —

**नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,**
**स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः।**
**इत्याश्चर्यबलान्वितोपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे,**
**तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग् वृथा पौरुषम् ॥३२॥**

**अर्थः**— जिसका मन्त्री बृहस्पति, प्रधान शस्त्र वज्र, सेना देवताओं की, स्वर्ग किला, हरि की जिस पर पूर्ण कृपा, जिसका वाहन ऐरावण हस्ती, इंद्र ऐसे आश्चर्यकारी असाधारण रक्षा के उपाय से युक्त था तो भी प्रतिपक्षी रावणादि राक्षसों द्वारा पराजित हो गया। इसलिये यह बात खुलासा हु. कि जीव को असली शरण दैव का ही हो सकता है। केवल पौरुष के भरोसे पर गर्व करना व्यर्थ है, ऐसे पौरुष को धिक्कार हो।

---

( १ )—यह इन्द्र जैनशास्त्रानुसार वह हो सकता है कि जिसने विद्याधर होकर इन्द्र की सी अपनी सर्व चेष्टा बना रक्खी थी और वह रावण के द्वारा अन्त मे पराजित हुआ। हिंदू धर्म के पुराणों मे यों लिखा है कि स्वर्ग का इन्द्र ही दैत्य, राक्षसों के साथ लड़कर एक बार परास्त हुआ है। परन्तु यह कथा बुद्धिमानों को विचार करने योग्य है, क्योंकि, देव और मनुष्यों का क्या जोड़ ? देवों के सामने मनुष्यों की शक्ति अत्यन्त तुच्छ है। रावणादिक भी अन्त को मनुष्य ही तो थे।

सारांश यह है कि इच्छानुसार प्रयत्न पूर्वक सिद्ध हुए कार्यों को पुरुषार्थजन्य मानना चाहिये और इच्छा से तथा प्रयत्न से विरुद्ध सिद्ध होने वाले कार्यों को दैवाधीन मानना चाहिये। परन्तु कारण प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिये दोनों ही लगते हैं। हाँ जहाँ एक मुख्य होता है वहाँ दूसरा गौण होता है, परन्तु जरूरत गौण की भी लगती है। नहीं तो वह गौण भी क्यों माना जाता है? गौण माना जाता है इसलिये वह उदासीन या कमजोर है परन्तु तो भी कारण अवश्य है। दैव को जो प्रधान माना जाता है उसका अभिप्राय एक तो यह है कि ससारी जीव अपनी इच्छानुसार सदा इष्टसिद्धि नहीं कर पाता इसलिये एक परोक्ष कारण दैव भी मानना पड़ता है। दूसरा अभिप्राय यह कि, आगामी भव सुधारने के लिये दैव मानने वाले की ही अच्छी प्रवृत्ति हो सकती है, नहीं तो नहीं। इसलिये दैव पर दृष्टि रहना बहुत जरूरी है।

किसी की समझ होगी कि दैव पर भरोसा रखकर उपवास ध्यान घोर तपश्चर्या आदि धर्म कार्यों मे प्रवृत्ति करने वाले मनुष्य पहले ही थे, अब नहीं है, परन्तु इस समझ को दूर करते हैं:—

**भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं,**
**रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः।**
**स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये,**
**सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोप्यमी ॥३३**

**अर्थः**—जैसे कुलाचल = हिमवान् आदि पर्वत भरतक्षेत्रादि भूमियों का विभाग करते हुए उन भूमियों के रक्षक हैं—स्वामी है, तो भी उन भूमियों के साथ कुछ मोहित नहीं होते हैं, इसी प्रकार जो जग का उद्धार करते हुए भी स्वयं जग मे फसे हुए नहीं है। जैसे समुद्र रत्नों की खानि होकर भी उनसे सर्वथा निर्लोभ रहता है इसी प्रकार जो रत्नतुल्य अनेक सद्गुणों की खानि होकर भी ध (उ)नसे अत्यन्त निस्पृह रहते हैं। आकाश जिस प्रकार सब जगह पसरा हुआ होकर भी किसी से लिप्त नहीं होता, पर सभी जगत् को विश्रांति देता है और क्लेश दूर करता है, इसी प्रकार जो ज्ञानादि अनेक गुणों के द्वारा सर्व जग भर मे व्यापक हैं और इसीलिये जग को सदुपदेश द्वारा विश्रान्ति देनेवाले हैं, तो भी जग से सर्वथा

अलिप्त रहने वाले हैं। ऐसे चिरंतन मुनियों के शिष्य कितने ही सन्त पुरुष आजकाल भी विद्यमान हैं जब कि, ऐसे पुरुषों की अत्यन्त विरलता हो रही है।

जिस समय यह ग्रन्थ बनाया गया था उस समय भी श्रेष्ठ साधुओं की बहुत कुछ विरलता हो चुकी थी। इसीलिये उत्कृष्ट चारित्र का जो वर्णन है वह वर्णनमात्र ही दीखता था। और यह शंका होना उस समय सहज था कि ऐसा उत्कृष्ट वर्णन वर्णनमात्र ही है। ऐसे उत्कृष्ट चारित्र का धारक कोई हो नहीं सकता। इस शंका के निरासार्थ यह उत्तररूप श्लोक लिखा गया है।

ऐसे उत्कृष्ट मार्ग को न स्वीकारने वालों की अवस्था:-

**पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा,**
**विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम्।**
**अहो मुग्धो लोको मृतिजननिदंष्ट्रान्तरगतो,**
**न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यमममुम् ॥३४**

**अर्थः**—पिता पुत्र को और पुत्र पिता को अनेक तरह से ठगकर विषय-सुख मे मोहित हुए दोनों ही, थोड़े से सुख के स्थानभूत राज्यपद को मिलाने की अनेक चेष्टा करते हैं। अहो, यमराज की जन्ममरण रूप दाढ़ों के बीच में फसा हुआ भी वह भोला प्राणी, निरंतर शरीर को चबाते हुए इस यम की तरफ दृष्टि तक नहीं देता।

भावार्थ—किसी भी मनुष्य का यह भरोसा नहीं है कि कब उसका मरण हो जायगा। और मरण के अनन्तर तो इस जन्म में संचित की हुई विषय सामग्री काम दे ही नहीं सकती। तो भी मनुष्य अपनी चालाकी मायाचार आदि करके अनेक तरह के विषयभोग राज्यसम्पदा आदि के संग्रह करने में कमी नहीं करता है। वे भी परस्पर वंचना करने से चूकते नहीं हैं, जिन पिता पुत्रों का कि परस्पर बड़ा भारी प्रेम माना गया है। जो धर्म पर चलता नहीं उसीके ऐसे विचार होते हैं कि मैं यदि विषय-सामग्री को बहुत-सा इकट्ठा कर लूँगा तो चिरकाल तक सुख भोगूँगा। वह समझता है कि यह संसार की विभूति शाश्वत है, कभी मुझसे जुदी नहीं होगी। ऐसा समझता है, तभी तो विषय संग्रह करने मे न्याय अन्याय, सुख दुःख, बुराई भलाई का कुछ भी विचार तथा परवाह

नहीं करता। जो कि धर्म को जानते हैं वे इस संसार की सम्पदा को क्षणिक समझते हैं, इसलिये वे इसमें रत क्यों होने लगे?।

विषयजन्य अन्धता को नेत्रों की अन्धता से भी अधिक दिखाते हैं—

**अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः।**
**चक्षुषाऽन्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥३५**

**अर्थः**—जो मनुष्य विषयवासना में अन्धा हो रहा है वह नेत्रान्ध मनुष्य से भी बहुत भारी अंधा है। क्योंकि, नेत्र का अन्धा तो बेचारा नेत्र से मात्र देख नहीं सकता, परन्तु यह विषयान्ध तो सभी तरह के ज्ञान से शून्य हो जाता है। आखों का अन्धा नेत्र से न देखने पर भी मन से विचार करता है, स्पर्शनादि बाकी इन्द्रियों द्वारा भी जानने की शक्ति रखता है, सावधान रहता हुआ चाहें जिस बात का हिताहित के अनुकूल अनुभवन कर सकता है। परन्तु विषयांध को सर्व इन्द्रियां होकर भी वह विवेक-शून्य हो जाता है, कुछ भी हिताहित की तरफ विचार नहीं कर सकता। इसलिये विषयान्ध ही सच्चा अन्धा है।

विषयों मे तीव्र वांछा रखने वाले की निन्दाः—

**आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।**
**कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥३६**

**अर्थः**—अरे, प्रत्येक जीव का आशारूप खड्डा इतना विस्तीर्ण है कि जिसमे सम्पूर्ण संसार यदि भरा जाय तो भी वह संसार उसमें अणुमात्र के तुल्य दीखेगा। अर्थात् सभी संसार उस खड्डे में डाल देने पर भी वह खड्डा पूरा नहीं हो सकता किन्तु वहाँ पड़ा हुआ सारा वह संसार एक अणुमात्र जगह मे ही आ सकता है। परन्तु तो भी ऐसी विशाल आशा रखने मात्र में क्या किसी जीव को कभी कुछ भी मिल जाता है? इसलिये ऐसी आशा रखना सर्वथा वृथा है। भावार्थ, यदि आशा रखने से कुछ मिलै भी तो किस किसको? आशा तो सभी संसारी जीवों को एकसी लग रही है। और प्रत्येक आशावान् यही चाहता है कि सर्व संसार की सम्पदा मुझे ही मिल जाय। अब कहो, वह एक ही सम्पदा किस किसको मिले? इधर यदि प्रत्येक प्राणी की आशा का प्रमाण देखा जाय तो इतना बड़ा है कि एक जग तो क्या, ऐसे अनन्तों जगत् की सम्पत्ति

उस आशा-गर्त में गर्क हो जाय, तो भी वह गर्त पूरा भर नहीं पावेगा। पर आता जाता क्या है ? केवल मनोराज्य की सी दशा है। केवल बड़ी बड़ी आशा करते बैठना प्रथम श्रेणी के मूर्ख का लक्षण है। आशा करनेवाला केवल अपनी धुनि में ही सारा समय निकालता है, करता धरता कुछ नहीं। उसकी बुद्धि धर्म मे भी लगती नहीं और कर्म मे भी लगती नहीं। इसलिये धर्म-कर्म बिना वह सुखी कहाँ से हो ? उसकी दशा एक शेख की सी हो जाती है कि जो सराय के द्वार पर बैठा हुआ भीतर आते हुए घोड़े, हाथी, धन, दौलत वगैरह को देखकर अपनाता हुआ खुशी होता था, और रात बसेरा कर, जाते हुए देख दिलगीर होता था। क्या उसको ऐसी केवल आशा धरके निष्कर्म बैठने से कुछ मिल जाता था ? कुछ नहीं। यही दशा केवल आशाग्रस्त सभी ससारी जीवों की है। इसलिये आशा छोड़कर निश्चय-व्यवहार रूप धर्म मे लगना सभी को उचित है।

पुण्य सचित करने का उपदेश —

**आयुःश्रीवपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जितं,**
**स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेप्यात्मनि।**
**इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येत्र मन्दोद्यमा,**
**द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम् ॥३७**

अर्थः—दीर्घ आयुष्य, लक्ष्मी, उत्तम शरीर इत्यादि सासारिक विषय-सुख की सामग्री 'उत्तम तभी मिल सकती है कि यदि पहले कभी पुण्य कर्म का उपार्जन किया हो। नहीं तो चाहें जितना निरतर आत्मा को क्लेशित किया जाय परन्तु कुछ भी प्राप्त नहीं होता। ऐसा विचार कर ही श्रेष्ठ पुरुष, जो कि समयानुसार अपना काम सिद्ध करने मे कुशल हैं, वे इस वर्तमान जन्म के लिये तो यह विचार कर उद्यम विशेष नहीं करते कि, जो कुछ पूर्व का पुण्यसञ्चय हमारे पास होगा तदनुसार ही हमको इस समय फल मिलेगा। क्या केवल उद्योग कार्यकारी हो सकता है ? नहीं। इसीलिये आगामी जन्म के लिये वे निरन्तर शीघ्रता के साथ और अत्यन्त प्रीति के साथ पुण्य सचय करने मे असीम प्रयत्न करते हैं।

**भावार्थः**—यह वर्तमान जीवन थोड़े से दिन का है। उसका निर्वाह चाहें जिस प्रकार से हो सकता है। यदि पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म है तो परिश्रम तथा चिन्ता न करते हुए भी विषय भोग अवश्य मिलेंगे। नहीं तो न मिलें या विपरीत मिलें। खैर, कुछ भी हो, तो भी इस जन्म का निर्वाह तो किसी प्रकार भी हो सकता है, क्योंकि बहुत ही थोड़े काल तक यहाँ रहना है। किन्तु आगामी भवों में चिरकाल तक भ्रमण करना है और तत्रापि वे भव सब परोक्ष हैं। इसलिए उनके सुधार की या उनसे छुटकारा पाने की चिन्ता करना बहुत जरूरी है।

प्राप्त हुए भी भोगों से मन्दोद्यमी रहने का हेतु सहित उपदेशः—

**कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना,**
**यानन्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचि कृतं येनाभिमानामृतम्।**
**आज्ञातं करणैर्मनःप्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्,**
**कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः ॥३८**

**अर्थः**— कटुक विष के समान इन विषयों मे ऐसा क्या स्वाद है कि जिससे तूने विषय सुख की वाछा उत्पन्न करके अत्यन्त दुःखी होकर उन विषयों की खोज करने मे अपना स्वतन्त्रता का अभिमान जो कि अमृत के तुल्य निर्मल और सुखदायक था, मलिन कर लिया, और इसीलिये मनरूप स्वामी की सेवक जो इन्द्रियां उनकी आज्ञा में तुझे रहना पड़ा। अरे, तू विवेकी था तो भी तेरा अनुभव, इन राग वासनाओं ने उलटा कर दिया। जैसे कि विवेकी मनुष्य के स्वाद को भी पित्तज्वर विपरीत कर डालता है। इसीलिये तो जिन विषयों में कुछ भी स्वाद नहीं है अथवा जो परिपाक मे विपरीत स्वाद देने वाले हैं उनके पीछे तू उन्हें इष्ट समझ कर लग रहा है। यह बड़ा खेद है।

विषय-तृष्णा की बहुतायत दिखाते हैं:—

**अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत्।**
**तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनोर्भानुसोमवत् ॥ ३९**

**अर्थः** आत्मन्, तुझे तृष्णा तो इतनी प्रवल है कि तीनों जग के भोगों से भी निवृत्त नहीं हो सकती। तो भी मुखादि इद्रियो द्वारा विषय ग्रहण करते-करते भी जो वहुत सी शेष रही हुई वस्तुएं दीख पड़ती हैं वे मुखादि के द्वारा सारा भोग लेने की असमर्थता के कारण समझना चाहिये, न कि मन का सन्तोष हो जाने के कारण। जैसे राहु, चन्द्र और सूर्य को निगलना तो पूरा ही चाहता है परन्तु शरीर रहित होने के कारण पूरा निगल नहीं सकता। इसलिये चन्द्र सूर्य दोनों अभी तक बचे हुए हैं।

कितने ही मनुष्यों का सदा यह विचार रहता है कि हम अपने तारुण्य तक तो तृप्ति भर भोग भोगे। वुढ़ापा जब आवेगा तब सर्व विषयों से विरक्त होकर विषयो को छोड़कर आत्म-कल्याण की फिक्र में लगेंगे। ऐसा करने से ये मिले हुए भोग भी यों ही नहीं जायगे और हम परभव का प्रबन्ध भी करलेंगे। ऐसों को समझाते हैं:—

**साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात् संसारसारं पुन--**
**स्तत्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम्।**
**त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते,**
**मा भूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम्॥ ४०॥**

**अर्थः**—रे जीव, तू यह विचार, कि यद्यपि चक्रवर्ती आदि वडे-वड़े नृपतियों ने कदाचित् विशाल राज्य भोग को पाकर भी उसको ससार का सारभूत समझकर वहुत काल तक भोगा, शीघ्र ही छोड़ा नहीं। तो भी उनको शाश्वत मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति तो तभी हुई ना, जब कि उस राज्यभार को छोड़कर उन्होंने घोर तपश्चरण किया। इसलिये जबकि ये विषय ग्रहण करने के बाद भी छोड़ने योग्य ही हैं तो तू उन्हें पहले ही क्यों न छोड़कर विरक्त हो, जिससे कि ग्रहण करके छोड़ने पर जो तेरी हसी होने वाली है वह न हो। जैसे किसी एक आदमी ने जादूगरी से लड्डू तयार किये या तयार कर किसी को दिये हों, और वे जब कि शीघ्र ही दीखते अदृश्य हो जांय तो, उस समय जिसने वे लड्डू ले रक्खे थे उसकी तरफ लोग हंसने लगते हैं। इसी प्रकार जिन विषयों को

पाकर तू मग्न होरहा है वे विषय सदा तेरे पास रहने वाले नहीं हैं। देखते-देखते किसी दिन चपला की तरह विलीन हो जांयगे। पाप कर्म का उदय यदि बीच मे ही आगया तो मरने से पहले ही वे विषय नष्ट हो जांयगे। और तेरे चाहते हुए भी हाथ से निकल जाने पर लोग तेरी हंसी करेंगे। इसलिये तू अपनी हंसी आप ही क्यों कराता है? अथवा जिस तरह मनुष्य माटी वगैरह के तयार हुए नकली लड्डू को भी दूर से देखकर तो उसे लेना चाहता है, पर हाथ मे आते ही समझ जाता है कि इसमे कुछ सार नहीं। तब छोड़ते देख लोग हंसते हैं। इसी प्रकार तू, जब तक प्राप्त नहीं हुए तभी तक भोगों को चाहता है। पर पाने पर निस्सार दीखेंगे और तू उन्हें छोड़ना चाहेगा, तब लोग तुझे देख, हसेंगे। इसलिये पहले ही उन्हें छोड़। भोग कर छोड़ने वालों की होड़ मत कर।

बहुतों का विचार ऐसा होता है- कि गृहाश्रम मे रहकर भी हम धर्म साधन करके अपना कल्याण कर सकते है। पर गृहाश्रम मे पूर्ण कल्याण हो नहीं सकता। देखो:—

सर्वं धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं,
क्वप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा,
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ ४१ ॥

**अर्थः**—बुद्धिमान मनुष्यों के चरित्र को भी यह गृहाश्रम कभी तो धर्ममय कर देता है, जब कि सामायिक आदि क्रिया की जाती हैं, कभी, अर्थात् स्त्री सभोगादि के करने मे केवल पाप मय ही सर्व चेष्टा कर देता है, और कहीं पर, जब कि जिन पूजनादि किये जाते है तब जीव के चरित्र को पाप पुण्य से मिला हुआ कर देता है। ये सब चेष्टाए ऐसी होती है, जैसी कि किसी पागल आदमी की उन्माद भरी हुई चेष्टाए हों। अथवा जैसे एक अन्धा आदमी रस्सी को आगे-आगे बटता जाता है और पीछे से उसके वल खुलते जाते हैं। अथवा हस्ती प्रथम तो स्नान करता है और पीछे से अपने ऊपर धूल डाल लेता है। ठीक, गृही मनुष्य की भी सर्व चेष्टाएं इसी तरह की होती है। इसका कारण केवल गृहाश्रम का सम्बन्ध है।

जब कि ऐसा है तो इस गृहाश्रम से किस प्रकार हित सिद्धि हो सकती है ? इसलिये जब कि तू हित चाहता है तो गृहाश्रम का सम्बन्ध सर्वथा छोड़ ।

बहुत से मनुष्य समझते हैं कि हम गृहस्थी होकर अपने पुरुषार्थ से धन कमा कर स्वतन्त्र होकर भोगों को भोगते हुए भी सुखी रहेंगे, घर त्यागने से क्या कल्याण हो सकता है ? घर में रह कर तो जैसा अधिक पौरुष करेंगे वैसा ही अधिक धन मिलने से अधिक सुखी होंगे । उनको दिखाते हैं कि गृहाश्रम में जो कार्य आजीविकार्थ किये जाते हैं वे सभी दुःखदायक हैं । देखोः—

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ,
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः ।
तैलं त्वं सिकतासु यन्मृगयसे वाञ्छेर्विषाज्जीवितुं,
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत् त्वया ॥ ४२ ॥

अर्थः— तू अपने उदर-निर्वाहार्थ तथा इन्द्रिय-भोगों के सेवनार्थ खेत जोतने में और बीज बोने में, एवं राजसेवा करने में तथा व्यापार के लिये जगलों में भटकने में अथवा समुद्र मार्ग से भ्रमण करने में चिरकाल से क्यों क्लेश उठा रहा है ? अरे, हा, अज्ञान के वश यह सब कष्ट तुझे भोगना पड़ता है । क्या इस प्रकार बहुत सा उद्योग करने पर भी तू सुखी हो सकता है ? नहीं । क्योंकि उद्योगमात्र सुख मिलने का कारण नहीं है । सुख का कारण धर्म है । इसीलिये जब तक धर्म है तब तक अनायास भी सुख मिलता है । नहीं तो बहुत सा क्लेश करने पर भी कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये तेरी ये सब क्रियाएं जब तक कि धर्म से शून्य हो रही है तब तक तू ऐसा समझ कि मैं बालू में से तेल निकालना चाहता हूँ । अथवा विष खाकर चिरकाल जीवित रहना चाहता हूँ । तू यह नहीं समझता है कि आशारूप पिशाच के निग्रह करने पर ही पुण्य बंध के होने से मुझे सुख शान्ति मिल सकेगी । धर्म की प्राप्ति का एकमात्र उपाय, उत्कट तृष्णा को त्याग कर सन्तोष धारण करना ही है । इससे धर्म तो होता ही है, किन्तु सुख का अनुभव साक्षात् ही होता दीखता है । इसलिये सुख यदि होगा तो साक्षात् तथा परम्परया सन्तोष से ही होगा ।

**आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां जनाः ।**
**हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखघर्मापनोदिनः ॥४३**

अर्थः—जैसे कोई मनुष्य सूर्य के सन्ताप से दुःखी होकर जलते हुए बाँसों की छाया में यदि बैठे तो वह कभी सुखी नहीं होगा, उलटा पीडित ही होगा, क्योंकि, एक तो बाँस की छाया बहुत ही कम, दूसरे, आपस मे घिसने से वे स्वयं जलने लगते हैं। इसीलिये संताप दूर होना तो दूर ही रहा, उलटा उससे अधिक संताप होगा। सुखाभिलाषा के वश यदि वह मनुष्य तो भी बहुत समय तक वहाँ बैठा ही रहा तो कदाचित् खुद जलकर भी मर जायगा। इसी प्रकार आशा तो अग्नि के समान है, उस आशाग्नि से व्यापे हुए उसके विषयभूत जो भोग-साधक पदार्थ है वे वांसों के तुल्य हैं, दुःख सूर्य सन्ताप के तुल्य है। एव छाया के भी दो अर्थ होते हैं, एक तो प्रकाश के रुकने से जो पड़छाँही पड़ती है वह, और दूसरा अर्थ अल्प या लेशमात्र। इसलिये दृष्टात से मिला-जुला यह अर्थ हुआ कि, देखो, दुःखरूप।सन्ताप से पीडित हुए मनुष्य, आशारूप अग्नि से व्यापे हुए भोग सम्बन्धी जो पदार्थरूप ऊँचे बाँस, उनसे उत्पन्न हुई जो छाया अर्थात् अल्पसुख, उसमे जाकर बैठना चाहते है और उससे विषय–वाञ्छारूप दुःख को दूर करना चाहते हैं। यह कितना बड़ा अज्ञान है ? एक तो तीन लोक की वस्तु इकट्ठी होकर भी आशा की पूर्ति के लिये बस नहीं होगी। दूसरी बात यह कि, वस्तुओं के भोगने से आशा और भी अधिक बढ़ती जायगी। जैसे कि दाद के खुजाने से दाहदुःख अधिक ही बढ़ता है, कम नहीं होता। तीसरी बात यह कि, उसीमे फसे फसे मर जानेपर नरकादि दुर्गतियों के दुःख भी भोगने पड़ेगे। क्योंकि, आशा के वश होने से परवस्तुओं मे ममता बढ़ती है और जीव के विचार अशुभ या मलिन होते हैं, जिनके कि कारण घोर पापों का सचय होने से दुर्गतियों में जाना ही पड़ता है। इन तीन बातों का विचार करने पर मालूम पड़ेगा कि, आशा के वश होकर विषय सामग्री के सचय करने मे लगना कभी सुखकारी नहीं है।

दैववश लेशमात्र सुख यदि प्राप्त भी हो तो वह स्थिर नहीं। देखोः—

**खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा,**
**भूयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृच्छ्रात् सुतुच्छं किल ।**

**क्षारं वार्युदगात्तदप्युपहतं पूतिक्रमिश्रेणिभिः,**
**शुष्कं तच्च पिपासतोस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम् ॥४४**

**अर्थः**—किसी मनुष्य ने तृषातुर होकर शीघ्र ही जल निकल-आने की आशा से भूमि को खोदा। परन्तु खोदते खोदते जल जहाँ निकलना चाहिये वहाँ पर एक पत्थर की शिला निकली। तो भी उसने अति साहसी होकर आरम्भ किये कार्य को पार तक पहुँचाने के लिये तृष्णावश और भी खोदना आरम्भ किया। परन्तु पाताल तक खोद देने पर भी बड़े कष्ट से कुछ थोड़ा सा जल निकला। पर वह भी अत्यन्त खारा तथा दुर्गंधमय और छोटे छोटे जल के कीड़ों से भरा हुआ था। खैर, परन्तु खोदने वाले ने उसे भी तृषावश पीना चाहा, किन्तु पी नहीं पाया कि इतने मे ही वह पानी सूख भी गया। देखो, भाग्य की लीला बड़ी ही विचित्र है; और जब तक जीव उस दैव के पराधीन है तब तक कष्ट ही कष्ट है। किसी ने ठीक कहा है कि 'विधौ विरुद्धे न पयः पयोनिधौ' अर्थात् दैव यदि अनुकूल न हो तो मनुष्य को समुद्र मे भी जल नहीं मिल सकता है।

न्यायपूर्वक धनी होकर भोग भोगने की इच्छा रखने वाले के लिये:—

**शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।**
**न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥४५**

**अर्थः**—श्रेष्ठ पुरुषों की सपत्ति भी केवल न्यायानुसार चलने से कभी इकट्ठी नहीं होती। जैसे नदियों की भरती केवल स्वच्छ जल से कभी नहीं हो पाती। इसीलिये ऐसा समझकर, न्यायोपार्जित धन के द्वारा समृद्ध होने की तृष्णा भी नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि, केवल न्यायपूर्वक धन की पूर्ण प्राप्ति होना साधारण जनों को नितान्त कठिन है। दूसरे गृहाश्रम में रहकर धन प्राप्त होने पर भी कभी चित्त सन्तुष्ट नहीं हो सकता, निरन्तर कोई न कोई आकुलता लगी ही रहती है। इसलिये यदि पूर्ण सुखी होना हो तो परिग्रह से सर्वथा विरक्त होना चाहिये। तभी पूर्ण सन्तोष होने पर अपूर्व सुख की प्राप्ति हो सकती है।

धन कैसा भी हो, परन्तु उससे धर्म सधता है, सुख ज्ञानादि भी प्राप्त होते हैं। ऐसा समझने वालों से कहते हैं.—

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥४६

अर्थः—गृहस्थाश्रम का धर्म धर्म नहीं है, सुख सुख नहीं है और वहाँ ज्ञान तो पूर्ण हो ही नहीं सकता। गृहाश्रम में रहकर धर्म धारण करने वाले को शुभगति भी यदि प्राप्त हो तो स्वर्ग तक हो सकती है। परन्तु ये सब तुच्छ हैं। असली धर्म तो उसे कहना चाहिये जहाँ पर अधर्म का लेशमात्र भी न हो। गृहाश्रम के धर्म में थोड़ा सा धर्म और शेष सब पाप ही पाप रहता है। गृहस्थी की क्रिया सर्वथा ऐसी हो ही नहीं सकती कि जिससे केवल धर्म का ही संचय होता रहे। जब कि गृहस्थी में पूर्ण धर्म ही नहीं तो पूर्ण सुख वहाँ कहाँ से मिल सकता है? सुख के कारण दो ही हैं, एक धर्म दूसरा सन्तोष। परन्तु सन्तोष भी गृहस्थ को रहता नहीं। इसीलिये यह कहा कि सुख वही है कि जिसमें दुःख का नाम भी न हो। ज्ञान तो गृहस्थ को पूर्ण हो ही नहीं सकता है; क्योंकि, जिस तपश्चर्या के द्वारा ज्ञानविघातक कर्म का सर्वथा नाश होने से पूर्ण ज्ञान मिलता है, वह तपश्चर्या घर में रहने से पूरी सधती नहीं। ज्ञानाभ्यास द्वारा जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है वह भी अनेक आकुलतावश स्थिर नहीं रह सकता है। इसलिये ज्ञान का प्राप्त होना भी असली साधु-अवस्था में ही हो सकता है। अतएव गृहस्थ के तुच्छ ज्ञान को ज्ञान में न मानते हुए ही यह कहा है कि, ज्ञान वही है जहाँ पर कुछ भी विच्छेद तथा अज्ञान न हो। गृहस्थ-धर्म से परभव की गति अधिक से अधिक स्वर्ग तक मिल सकती है। परन्तु वहाँ से फिर भी दूसरी गतियों में जाना पड़ता है। इसलिये वह गति भी सर्वोत्कृष्ट नहीं है। साधु पद से मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है, जहाँ से कि फिर कभी लौटना नहीं पड़ता। इसलिये वही गति प्राप्त करने योग्य है। इसी भाव को लेकर ग्रन्थकार कहते हैं कि गति वही असली है कि जहाँ फिर भी वापिस जाने का डर न रहता हो। इसलिये यदि पूरा हित सिद्ध करने की इच्छा है तो घर में रह कर धन कमाकर विषयभोगो को भोगकर अपने को सुखी समझना भूल है। सुख, घर के जंजाल को छोड़ने से ही मिल सकेगा।

विषयसुख की अपेक्षा मोक्षसुख का मिलना सुलभ है। देख —

वार्तादिभिर्विषयलोलविचारशून्यः,
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम् ।
तच्चेष्टितं यदि सकृत् परलोकबुद्धया,
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥४७

अर्थः—अरे, जैसा कि तू असि मसि कृषि आदि अनेक तरह के उद्योग करता हुआ निरन्तर इस विषयसुख की प्राप्ति के लिये क्लेश उठाता है, वैसा क्लेश यदि एक वार भी परलोकसिद्धि के लिये उठावे तो फिर तुझे जन्म मरणादिक दुःख कभी भोगने ही न पड़े। अर्थात् अविनाशी सुख की प्राप्ति हो जाय। परन्तु तू एक तो विषयों मे आसक्त हो रहा है और दूसरे, तुझे विवेक नहीं रहा। इसलिये तू ऐसा समझता है कि घर मे रहकर उद्योग से धन कमाकर विषय भोगना सहज भी है और उससे सुख भी होता है। पर, खूब पक्का समझले कि, इससे अविनाशी सच्चे मोक्ष सुख की प्राप्ति होना नितांत असम्भव है। इस विषय-सुख को तू सहज और सच्चा सुख समझता है। इसीसे तेरी इच्छा परिग्रह-जाल से हटती नहीं है। परन्तु यह तू निश्चय समझ कि, विषय संग्रह के लिये जितना तू क्लेश निरन्तर सहता है और तो भी वे विषय इच्छित प्राप्त नहीं हो पाते, उतना ही कष्ट यदि मोक्षसुखार्थ तेने कभी एक वार भी किया होता तो अवश्य अविनश्वर सुख प्राप्त हो गया होता। यदि अब भी वैसा करे तो अब भी कुछ विगड़ा नहीं है। तू डरै मत, विषयों के उपार्जन से मोक्ष—सुख का उपार्जन करना सहज है और वही असली सुख है।

वाह्य पदार्थों से राग द्वेष हटाने का उपदेश.—

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्म्यको,
वाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ?
अन्तः शान्तिमुपैहि यावदऽदयप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्-,
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥४८

अर्थः—अरे भव्य, तू वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता। इसीलिये स्त्री पुत्रादि इतर वस्तुओं मे मोहित होकर स्त्री पुत्रादि

या रत्न सुवर्णादि को हितकारी समझता है, शत्रु सर्प विषादि को अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों ही गमाता है? ऐसी कल्पना तेरी तभी तक होती है जब तक कि तू असली आत्मीय शान्ति को प्राप्त नहीं हुआ। ये तेरी सभी कल्पनाएँ झूठी हैं, क्योंकि, अन्य पदार्थों से तुझे सुख दुःख देने की शक्ति नहीं है? जो कुछ सुख दुःख होते तुझे दीखते हैं वे तेरी ही संकल्प-वासना के फल हैं। देख, इधर तो तू यों ही फसा रहेगा किन्तु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दबा लेगा। इसलिये उससे बचने का उपाय देख। वह यह है कि जब तक, चाहें जब आजाने वाले निर्दय काल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान जठराग्नि के मुख मे पड़कर तू भस्म नहीं हुआ तभी तक तू अपने अंतःकरण को पूर्ण शांत करले, जिससे कि उस काल का आक्रमण आगामी भव के लिये दुःखदायक न हो, क्योंकि, अन्तरंग मे शांति (संतोष) उत्पन्न हो जाने से शुभकर्म का बंध होगा अथवा परम शान्ति उत्पन्न होने पर मोक्ष—सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिये काल का भय मिट जायगा।

आशा से छुटकारा पाने का उपाय—

आयातोस्यतिदूरमङ्ग परवानाशासरित्प्रेरितः,
किं नावैपि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः।
स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक--
ग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥४६

अर्थः—अरे भाई, अन्य वस्तुओं को अपनाता हुआ तू आशा-रूप नदी के बीच प्रवाह मे पड़ा हुआ बहुत दूर से बहता चला आ रहा है। अर्थात्, अनादि काल से यों ही भ्रमण करता आ रहा है। यह जो अभी तक भ्रमण होता आया है उसका कारण यही है कि तू यह नहीं समझता था कि 'मैं ही अपने सामर्थ्य से स्वतन्त्र होने पर इसको तर सकता हूँ। अब भी तू पर वस्तुओं से ममत्व छोड़-कर सावधान हो, अपने स्वरूप को सँभाल, देख, किसी के अवलंबन विना, आप ही तू पार हो जायगा। नहीं तो—यदि अब भी साव-धान न हुआ तो, परिपाक मे दुःखदायक कालरूप ग्राह ने जिसमें गहरा मुख फाड़ रक्खा है और इसीलिये जो अत्यन्त भयंकर है, उस संसार-समुद्र के बीच मे जाकर तू शीघ्र ही पड़ेगा।

वहाँ जाकर फिर निकलने की तो क्या आशा है कि कब निकलेगा, अथवा निकलेगा भी या नहीं ? क्योंकि, संसार-समुद्र का असली मध्यभाग निगोदस्थान है, जहाँ से कि फिर निकलने के लिये कोई उद्योग काम ही नहीं देता। जैसे कोई मनुष्य किसी तीव्र वेग से वहने वाली नदी के बीच मे पड़कर वहुत दूर से वहता आ रहा हो तो वह जब तक समुद्र मे जा न पड़ा हो तब तक यदि अपनी सुध सँभाल कर कुछ प्रयत्न करे तो उससे निकल सकता है। नहीं ता उसके वेग में वहता वहता जब कि समुद्र मे जा पड़ा तो फिर वहाँ से क्या निकलना होता है ? वहाँ तो अवश्य किसी विकराल ग्राह के मुख मे पड़कर मरण ही पावेगा। इसी प्रकार एक ससारी जीव, जिसने कि चिरकाल से दु खदायक योनियों में भ्रमण करते करते मनुष्य पर्याय पालिया हैं, जहाँ कि चाहें जितना अपने कल्याणार्थ उद्योग किया जा सकता है; यदि वह कुछ न करै तो निगोदादि गतियों मे पड़ कर फिर चिरकाल तक वहाँ ही दुःख भोगते रहेगा, जहाँ कि अपने सुधार का कुछ भी उद्योग नहीं हो सकता है। इसीलिये फिर वहाँ से निकलना अपने स्वाधीन नहीं रहता। इसीलिये जो कुछ कल्याण सिद्ध करना हो वह अभी इस पर्याय मे कर लेना चाहिये।

विषयभोग झूँठन है, इसलिये उनसे आसक्ति करने का निषेध—

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद् भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषत्यप्राप्तपूर्वं यथा।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद्दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥५०

**अर्थः**—अरे जीव, विषयासक्त मनुष्यो ने वड़ी उत्कंठा के साथ जिनको अनेक वार भोगा और निस्सार समझ कर पीछे से छोड़ दिया, झूठन की कुछ भी ग्लानि न करके उन्हीं को तू आज ऐसे प्रेम के साथ भोग रहा है कि जैसे ये विषय पहले कभी मिले ही न हों। यद्यपि इन भोगों को इच्छा पूर्ण होने के लिये चाहें तू कितने ही वार क्यों न भोग; परन्तु तब तक क्या शांति उत्पन्न हो सकती है ? जब तक कि अपराधरूप प्रबल अनेक शत्रुओ के सैन्य की विजयपताका के समान जो यह विषयाशा ( असन्तोष ), इसे

गिरा नहीं देगा। अर्थात्, जैसे शत्रु राजाओं का परस्पर जब संग्राम होने लगता है तब एक दूसरे की विजयपताका गिरा देने के लिये दोनों ही अनेक प्रयत्न करते हैं। और जब तक एक की वह पताका गिर नहीं जाती तब तक दोनों ही बड़े व्यग्र रहते हैं। इसी प्रकार तुझे जो यह दुराशा लगी हुई है उसे तू पापकर्मरूप शत्रुओं के सैन्य की विजयपताका समझ। जब तक यह पताका तुझसे गिराई नहीं जाती तब तक पापरूप शत्रुओं की हार नहीं होगी। और तब तक उनसे अशांति उत्पन्न होती ही रहेगी। वह अशान्ति तभी मिटेगी जब कि तू उस दुराशा को मिटा देगा।

आशा के वश रहने से और भी जो कार्य होते हैं, वे ये हैं:—

**भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं,**
**संमृत्यापि शमस्तभीतिकरुणः सर्वं जिघांसुर्मुधा।**
**यद्यत् साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः,**
**कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥५१**

अर्थः—विसारे सर्प के तुल्य, अनेक भवपर्यंत दुःख देनेवाले भोगों को सेवने की अत्यन्त उत्सुकता धारण करके तेने आगे के लिये दुर्गति का बंध किया। अतएव अपने उत्तर भवों को नष्ट कर दिया। और अनादि काल से लेकर अभी तक मरण के दुःख भोगे। तो भी तू उन दुःखों से डरता नहीं है, निर्भय हो रहा है। जिस जिस कार्य को श्रेष्ठ जनों ने बुरा कहा उसी उसीको तेने अधिकतर चाहा और किया। इससे जान पड़ता है कि तेरी बुद्धि नष्ट हो गई है और तुझे आगामी सुखी होने की इच्छा नहीं है। इसीलिये तू निंदित कार्य करके अपने सर्व सुख वृथा नष्ट करना चाहता है। ठीक ही है, काम-क्रोधरूप बड़े भारी पिशाच का जिसके मन में प्रवेश हो जाता है वह क्या क्या नहीं करता है? उसको हिताहित का विवेक कहाँ से रह सकता है?

---

(१) 'मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वान् जिघांसुर्मुधा' ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ ऐसा होगा कि, विषयभोगों के लिये करुणा रहित सर्व प्राणियों का वृथा वध चाहते हुए तेरा स्वयं भी मरण हुआ तो भी तू उस मरने से डरा नहीं, और न अभी डरता है।

विषयों की क्षणिकता दिखाते हैं:—

श्वो यस्याऽजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते,
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसितरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं,
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥ ५२ ॥

अर्थः—अरे भाई, जो दिवस जिसके लिये आने वाला था वही दिवस उसी के लिये कुछ समय बाद ही बीता हुआ हो जाता है। यह बात, क्या तू भ्रम दूर करके साक्षात् अपने ही नेत्रों से नहीं देख रहा है, जो कि तू इन्हीं क्षणभंगुर स्त्री-पुत्रादिकों मे फिर फिर से अत्यन्त आसक्त होकर भटकता है ? भावार्थ, सभी वस्तुएं क्षण-क्षण मे और से और हो जाती है। एक भी वस्तु क्षणमात्र के लिये भी स्थिर नहीं है। जगत भर की जड़ कालरूप वायु के वेग से हली हुई है। अर्थात्, जिस दिवस का एक समय प्रभात होता है उसी का थोड़े समय बाद जिस प्रकार अन्त हो जाता है उसी प्रकार संसार की सभी चीजें क्षणभंगुर समझनी चाहिये, एक भी चीज चिरस्थायी नहीं है। जब कि ऐसा है तो संसार के लोग क्षण-नश्वर इन स्त्री-पुत्रादिकों मे ही बार-बार क्यों अत्यन्त आसक्त होकर अपने आपे को भूल रहे है ?

जग की क्षणभंगुरता न समझने से क्या होता है ?—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं,
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्।
तत्तावत् स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै—,
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत् प्राप्तवान् निधनः ॥५३॥

अर्थः—अरे, संसार से भ्रमते हुए तूने, नरकादि गतियों मे, जिनके स्मरण मात्र से भी अत्यन्त भय उत्पन्न होता है ऐसे जो दुस्सह दुःख अभी तक भोगे उन्हे तो तू यों ही रहने दे, वे अब साक्षात् दीखते नहीं है। परन्तु जैसे तुषार के पड़ने से छोटे-छोटे पौधे दग्ध हो जाते हैं उसी प्रकार काम के बाणों के तुल्य स्त्रियों की कामोद्दीपक मन्द-मन्द हंसी से तथा तीक्ष्ण कटाक्षों से विद्ध होते

हुए जो तुझे दुःख प्राप्त हुए, एवं दरिद्रता के कारण जो दुःख तुझे हुए, उन सबों का तो तू स्मरण कर। वे तो अभी वर्तमान भव के हैं। भावार्थ, तू अनादि काल से विवेक शून्य हो रहा है। इसलिये तूने जग की क्षणिक माया में फंसकर अनेक बार नरकादि के तीव्र दुःख भोगे हैं। परन्तु वे सभी दुःख परभव सम्बन्धी होने से तूने विसार दिये हैं। खैर, अब वर्तमान ही अवस्था में निर्धनता के कारण जो अनेक तरह के कष्ट तथा तिरस्कारादि दुःख सहे हैं. एवं काम के वशीभूत होकर जो स्त्रियों के तीव्र ताप उत्पन्न करने वाले कटाक्ष देखकर जो तीव्र वेदना निरन्तर सही है. उन्हीं को तू विचार। इनके विचारने से भी तुझे जग की निस्सारता समझ पड़ेगी।

शरीरादि दोष दिखाते हैं:—

उत्पन्नोस्यतिदोषधातुमलवद्देहोसि कोपादिमान्,
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोस्यऽस्यात्मनो वञ्चकः।
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोसि जरसा ग्रस्तोसि जन्मिन् वृथा,
किं मत्तोस्यसि किं हिताहितरिहितो किं वासि बद्धस्पृहः॥५४

अर्थः—अरे जीव, तूने अनादि काल से लेकर आज तक सदा ही जन्म धारण करने के कष्ट सहे हैं। अत्यन्त अपवित्र तथा दुर्गन्ध, दुःखदायक रुधिरादि धातुओं से और मूत्र विष्ठा आदि मलों से पूरित ऐसा तेरा देह है। क्रोध, मान, मायाचार लोभ आदि दुर्गुणों से तू पूरित हो रहा है। मानसिक सैंकड़ों चिन्ताओं से तथा वात्तपित्तादि जन्य शरीर सम्बन्धी रोगों से तू सदा पीड़ित बना रहता है। तेरी प्रवृत्ति सर्व निकृष्ट हो रही है। अपने कर्तव्य से पराङ्मुख होकर आत्मस्वरूप को भूलकर तूने वंचना कर रक्खी है। काल ने जो मुख फाड़ रक्खा है उसके बीच में तू पड़ा हुआ है। बुढ़ापे से तू बचा नहीं है जिसमें कि इन्द्रियां शिथल हो जाती हैं, शक्ती अत्यन्त क्षीण हो जाती है, विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है, यौवन का सर्व सौन्दर्य विलीन हो जाता है, कमर बलला जाती है, अनेक रोग आकर घेर लेते हैं भूख घट जाती है; परन्तु तृष्णा जहाँ बढ़ जाती है। तू यह भी याद रख कि यहाँ तू अनादि का नहीं है जिससे कि अपना नाश होना असम्भव सा समझ रहा

हो। किन्तु यहां भी कहीं से आकर ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये यहां से भी तुझे जाना पडेगा। ऐसी अवस्था मे भी तू आत्म-कल्याण से पराङ्मुख क्यों हो रहा है? क्यों उन्मत्त बन रहा है? क्यों तेरी वासनाए अहित कर्म से हटती नहीं हैं?

विषय से फंसने वाले को आपातमात्र भी सुख नहीं होता। देखो:—

**उग्रग्रीष्मकठोरधर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः,**
**संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः।**
**अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल,—**
**स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥ ५५ ॥**

**अर्थः**—जैसे,कोई बूढ़ा असमर्थ बैल पानी पीने की इच्छा से जल के पास जाकर वहां लम्बे चौड़े दलदल मे यदि फंस जाय तो वह बाहिर निकलने की चाहें जितनी खटपट करने का श्रम उठावै परन्तु क्या बाहिर निकल सकता है? नहीं। उल्टा श्रम करने से खिन्न होगा और ऊपर से सूर्य के तीक्ष्ण किरण पड़ेंगे उनसे अत्यन्त दुखित होगा, अन्त को उसी मे मर जायगा। इसी प्रकार जीव भी बढ़ी हुई विषय-तृष्णा के वश होकर सूर्य किरणों के समान कठोर तथा संतापकारी सपूर्ण इन्द्रियों से तप्तायमान होता हुआ जब अनेक तरह के अनवरत उपाय करके भी पूर्ण अभीष्ट को नहीं पाता है तब पाप के उदयवश तथा अनेक श्रम करने के कारण अत्यन्त खिन्न होता है। इसका कारण केवल यह है कि, उसको असली सुखोपायका और अपना अभी तक भान ही नहीं हुआ है कि, मैं कौन हूॅ, और असली सुख कैसे मिल सकता है? अज्ञानी की दशा सभी जगह ऐसी ही होती है।

विषयसामग्री मिलने पर भी सुख का अभाव दिखाते हैं —

**लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः।**
**ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥५६॥**

**अर्थः**—मोह के वश जीवों का शरीर सूख जाता है, मरण भी हो जाता है, और निरतर मन में रागद्वेषरूप दाह जाज्वल्य-मान बना ही रहता है। इसलिये मोह को विवेकी साधुओं ने एक तरह का अग्नि कहा है। परन्तु यह अग्नि से भी बढ़कर है। अग्नि

तो ईंधन का संबंध जब तक रहता है तभी तक जलता है=प्रदीप्त रहता है; ईंधन नहीं रहा कि बुझ जाता है, परन्तु मोहाग्नि तथा परिग्रह, विषयरूप ईंधन रहने पर भी जाज्वल्यमान होता रहता है. तथा वह ईंधन न रहते हुए भी अधिकाधिक प्रज्वलित होता है। जब कुछ थोड़ासा विषय भोग मिल जाता है तो फिर उससे अधिक की चांह होती है। उतना भी मिल जाता है तब उससे भी अधिक की तृष्णा बढ़ती है। यहाँ तक कि चक्रवर्ती की संपत्ति मिल जानेपर भी विषयासक्त कितने ही मनुष्यों को संतोष नहीं होता। वे चाहते हैं कि इससे भी अधिक जो कि जीवमात्र को असंभव है उनकी प्राप्ति हमें हो। ऐसे तीव्र विषयी जीव उसी आसक्ति में मर तक जाते हैं। जिनके पास कि विषयभोग हैं ही नहीं उनकी दुःखित स्थिति तो जग जाहिर है। दूसरी बात यों भी है कि जो धनवान् हैं वे धन के रक्षण में निरंतर दुःखी बने रहते हैं, उन्हें सदा धन की सब तरह से रक्षा करने में ही दिनरात बिताना पड़ता है। चोर, डाकू ईत, भीत, राजा, भागीदार, बंधु, अग्नि, अड़ोसी पड़ोसी आदि सभी धन के भक्षकों से उन्हें रक्षा करनी पड़ती है। जो कि निर्धन हैं वे धन नया कमाने में सदा व्यग्र बने रहते हैं, उन्हें पेट भरने तक की चिन्ता सल्य की तरह सदा चुभा करती है। किसी ने ठीक कहा है "धन हि विना निर्धन दुखी तृष्णावश धनवान्। कोई सुखी न जगत में सब जग देखा छान।"

मोह को तीव्र निद्रारूप सिद्ध करते हैं.—

किं मर्माण्यभिदन्न भीकरतरो दुष्कर्मगर्मुद्गरः,
किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्नालेढि देहश्चिरम्।
किं गर्जद्यमतूर्यभैरवरवान्नाकर्णयन्निर्णयन्,
येनायं न जहाति मोहविहितां निद्रामभद्रां जनः ॥५७॥

अर्थः—अत्यन्त भयंकर इस पाप कर्म ने मुद्गर की तरह जीव के मर्मों को क्या विदीर्ण नहीं किया है? विस्तृत अग्नि-ज्वालाओं की तरह दुःखपरंपरा ने जीव के शरीर को क्या जला नहीं डाला है? गर्जते हुए यमराज के वादित्रों का भयंकर घोर शब्द, इस जीव के सुनने में क्या कभी नहीं आया है? जिससे कि यह जगद्वर्ती

१ 'तूर' शब्द भी मिलता है।

जीव मोहजनित अविवेक रूप दुःखदायक निद्रा को विचार कर दूर नहीं करता है। ये सब बाते पापवश होती हैं। पापवश मुद्गरों की तरह जीव के मर्म छेदे भेदे भी जाते हैं, अग्नि के तुल्य अनेक दुखों से जीव का शरीर दग्ध भी होता ही रहता है और जो निरंतर जीवों के मरण का शब्द सुनने मे आता है वही यमराज की तुरई का घोर शब्द है, जो कि निरन्तर वजता हुआ बचे हुए जीवों को यह सुनाता है कि तुम्हें भी यहाँ से चाहे जब अचानक कभी न कभी विदा होना ही पड़ेगा। ये सब बाते निरन्तर वीतती ही रहती हैं तो भी जीव मोहजनित अत्यन्त दुःखदायक निद्रा मे से जागता नहीं है, यह आश्चर्य की बात है। मर्मस्थान पर कुछ ताड़ना होने से, अग्निका संताप लगने से अथवा वादित्रों की घोर ध्वनि होने पर मनुष्य की निद्रा हट जाती है। परन्तु मोहजनित अविवेक-निद्रा, ये सब कारण मिलते हुए भी हटती नहीं है इसलिये यह निद्रा सबसे वड़ी निद्रा है, और इसका दूर होना ही सच्चा जगना है।

मोहनिद्रा के वश होने से असार संसार से रति उत्पन्न होना दिखाते हैं:-

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो,<br>
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम्।<br>
निद्राविश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,<br>
जन्मिन् जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत्॥५८॥

अर्थः—शरीर जो कि सर्व दुःखों का निदान है, उसके साथ तेरा अनादिकाल से लेकर नियत सम्बन्ध हो रहा है। एक छूटता है तो दूसरा आ जुड़ता है, दूसरा छूटता है तो तीसरा आ बँधता है। उससे आज तक तेरा कभी भी छुटकारा नहीं हुआ। उस शरीर के रहने से ही अशुभ जो पापकर्म हैं उनके परिपाक का फल तुझे सदा भोगना पड़ता है। यदि शरीर न हो तो सुख दुख का अनुभव कौन करै? असाता वेदनीय का उदय होने पर जो अनेक तरह की आधि-व्याधिया आती हैं वे सब शरीर के होने से ही आती जान पड़ती हैं। शरीर न हो तो कांटा कहा चुभै? फोड़े, सीतला, ज्वर, खाँसी आदि रोग कहाँ हों? कारागृह आदि के बंधन किस को हों? वातपित्त के विकार से उत्पन्न हुए क्षुधातृषादि रोग किस को हों? क्या ये सब दुःख शरीर के विना अमूर्त आत्मा को हो सकते हैं?

कभी नहीं, इसलिये सर्व दुःखों के भोगने का निदान शरीर है। शरीर के होने से मूर्तिमान् हो जाने वाले जीव के प्रदेशों में निरंतर सर्व कर्मों का गाढ़ वंधन होता है। यही यहॉ उद्योग है और वह ही चलता रहता है। जब तक जीव के साथ शरीर का संवंध है तब तक कर्मवधन कभी वंधने से रुकने वाला नहीं है। अत्यन्त श्रम करके जब थकावट आ जाती है तब विश्राम के लिये निद्रा लेकर अचेत पड़ जाता है। मरने से सदा डरता है तो भी मरण अवश्य आता ही है। अरे जीव, तेरे जीवन मे ये सब व्यथाएँ लग ही रही हैं परन्तु तू तो भी उन शरीरादिकों से ही प्रीति करता है। विपयों को सुखसाधक समझकर निःशंक होकर उनमे रमता है। इनको दुःख के कारण समझता हुआ भी इनमे लीन होता है, यह वड़ा आश्चर्य है।

शरीर एक जेलखाना है। देखो.—

**अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-,**
**श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।**
**कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं,**
**कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५६॥**

**अर्थः**—अरे मूर्ख, तू इस शरीर मे वृथा क्यों आसक्त हो रहा है? इस शरीर को तू केवल जेलखाना समझ। जेलखाना वड़े वडे पत्थर सँतीर वगैरह लगकर वनता है, यह शरीर हड्डियों से बना हुआ है। जेलखाना लोह पत्थर आदि के परकोटे से घिरा हुआ होता है, यह शरीर शिरा स्नायुओं से जकड़ा हुआ है। जेलखाना भी, कैदी लोग कहीं से निकल न जायँ इसके लिये सव तरफ से ढका हुआ होता है, यह शरीर भी चमड़े से ढका हुआ है। जेलखानों मे जहॉ तहॉ कैदियों के आघात से रुधिर मास दृष्टिगोचर होता है परन्तु शरीर के भीतर सभी जगह वह भरा हुआ है। कैदी कहीं भाग न जांय इसके लिये जेलखाने के आसपास, जेल के स्वामी की तरफ से दुष्ट क्रूर मनुष्य पहरा दिया करते हैं, इसी प्रकार इस शरीर मे भी दुष्ट कर्मशत्रुओं का पहरा लगा रहता है। जेलखाने मे जगह जगह दरवाजों के वीच मे अर्गल की लकड़ी गली रहती है कि जिससे कैदी वाहिर न निकल जांय, यहॉ पर

जीवरूप कैदी को रोकने के लिये आयुरूप मजबूत अर्गल लगा रहता है। जब तक आयु-अर्गल हटता नहीं है तब तक जीवरूप कैदी शरीर में से बाहिर नहीं निकल सकता है। जब कि ऐसा है तो शरीर और जेलखाने में क्या अन्तर है? कुछ भी नहीं। अरे, जेलखाने से तो तू इतना डरता है कि, दिन दो दिन वहाँ रहना भी तुझे कष्ट जान पड़ता है; और तू निरन्तर विचार करता होगा कि इस कष्ट से कब छूटूंगा, अथवा उसमें कभी भी जाना न पड़े। परन्तु इस शरीर-जेल का तो यह हाल है कि एक से छुटकारा हो तो दूसरे में चला जाना पडता है, दूसरे से निकला तो तीसरे में घुसना पड़ता है। अनादि काल से लेकर आज तक तेरा इससे कभी क्षणभर के लिये भी छुटकारा नहीं हुआ। तो भी तू इसके बंधन से डरता नहीं है, यह आश्चर्य की बात है। अथवा इससे जान पड़ता है कि तू पूरा अज्ञानी है, तुझे कुछ भी हिताहित की समझ नहीं है।

शरीर के समान ही घर कुटुम्बादिक भी दु:खदायक हैं। देख:—

**शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं,**
**चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।**
**विपरिमृशतपुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्,**
**त्यजत भजत धर्मं निमलं शर्मकामाः ॥६०**

**अर्थ:**—शरण नाम घर का है परन्तु वह तेरा असली शरण नहीं हो सकता, क्योंकि घर के भीतर से भी जीव को मृत्यु छोड़ता नहीं है। बंधुजन भी सर्व पापकर्म का बंधन होने के लिये कारण है, क्योंकि, बन्धुजनों के प्रेमवश होकर जीव अनेक कुकर्म करता है। जिसका चिरकाल से परिचय हो रहा है ऐसी अपनी स्त्री को तू सुख का साधन समझता होगा परन्तु उसे भी तू विपत्तियों में प्रवेश कराने का द्वार ही समझ। पुत्रों को तू अपना सहायक समझता होगा परन्तु वे जन्म से ही 'माता का यौवन नष्ट कर देते है, बाल्यावस्था में माता-पिता को अनेक कष्ट देते हैं। उनके लालन के लिये अनेक कुकर्म करके भी धन कमाया जाता है जिसे कि वे यों ही खोदेते हैं। दुष्ट होने पर आगे वे मातापिता की कीर्ति को मलिन करते हैं। बहुत से कुपुत्र जीते जी भी मातापिता को अनेक

कष्ट देते हैं। इसलिये ये साक्षात् शत्रु हैं। इनसे बड़ा शत्रु और कौन होगा? इस प्रकार विचार करने पर ये सभी चीजें दुःख के ही कारण जान पड़ती हैं। इसलिये जिन्हें सुखी बनना हो उन्हें चाहिये कि वे इन सभी का सम्बन्ध तोड़कर एक निर्मल धर्म से प्रीति करें।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः,
संबन्धेन किमङ्ग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः।
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा,
देहिन् याहि सुखाय ते सममसुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१

अर्थः—अरे मित्र, जैसे सूखा ईंधन पड़ने से अग्नि बहुत ही जाज्वल्यमान होता है उसी प्रकार आशारूप अग्नि को प्रज्वलित करने में धन, ईंधन का काम देता है। जब कि धन से दुःख का कारण असन्तोष बढ़ता है तो वह किस काम का है? उससे सुख कैसे मिल सकता है? जो निरन्तर अशुभ कृत्य में भिड़ाने वाले तथा अशुभ कर्म का बंध जिनके योग से होता हो ऐसे सम्बन्धी तथा बन्धु जनों का सम्बन्ध भी किस काम का है? मोहरूप सर्प के बड़े भारी बिलसमान इस देह से तथा गेह से भी क्या प्रयोजन है कि जिसमें प्रवेश करने से मोहरूप सर्प अवश्य डसले, और फिर उसके विष का फल नरक निगोदादि खोटी गतियों में पड़कर अनंत काल तक भोगना पड़े। अरे जीव, तू निश्चय समझ, ये सर्व दुःख के ही कारण हैं। इसीलिये तू इनमें वृथा फसे मत—इनमें राग द्वेष मत कर। किन्तु इन पर-वस्तुओं में से राग द्वेष दूर करके समता धारण कर; तभी तुझे सुख प्राप्त होगा। सारांश, जीव के सुख का कारण सब अवस्थाओं में सन्तोष, समता ही है; और जहाँ जहाँ रागद्वेष का प्रादुर्भाव है वहीं वहीं दुःख है।

लक्ष्मी की अस्थिरता —

आदावेव महाबलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं,
रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता।
लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा पश्यतां नश्यति,
प्रायः पातितचामरानिलहतेवान्यत्र काऽऽशा नृणाम् ॥६२

अर्थः—पहले भी चक्रवर्ती आदि राजाओं ने महाबली वीर पुरुषों के मस्तक पर पट्ट बॉधकर इस लक्ष्मी को पट्टबंध के बहाने से रोकना चाहा, रक्षाधिकारी पुरुषों को रखकर उनकी भुजाओं मे पड़ी हुई जो तलवारे वे ही हुए पींजड़े, उनमे रोककर रखना चाहा, बड़े बडे सामन्तों के द्वारा उसकी रक्षा कराई, परन्तु वह क्या रुक सकती है। शिर के ऊपर इधर उधर से ढुलने वाली चौरियों के वायुवेग से कम्पित होकर ही वह लक्ष्मी मनुष्यो के देखते-देखते दीप-शिखा के समान विलीन हो गई। जब कि ऐसे यत्न से रखते हुए राजाओं की लक्ष्मी भी ठहर न सकी तो छोटे-मोटे लोगों के पास उसके रहजाने का क्या भरोसा है?

राजाओं के दरबार मे जो प्रधान योद्धा होते है उनके शिर पर एक उत्तम बहुमूल्य वस्त्र बॅधाया जाता है उसका अर्थ यही समझा जाता है कि अमुक पट्टधारी मनुष्य राजा के दरबार में महापराक्रमी है, सेना का नायक है, राज दरबार मे इसकी वीरता की बड़ी प्रतिष्ठा है। पट्टबंध की क्रिया पर से कवि ने कल्पना की है कि वह पट्ट राजलक्ष्मी को स्थिर रखने के लिये बंधाया जाता है। भावार्थ इतना ही है, कि बडे बडे पट्टधारी योद्धा जिसकी रक्षा करते हैं वह भी लक्ष्मी ठहरती नही है, कभी न कभी निकल ही जाती है। खजानों मे इकट्ठी हुई लक्ष्मी को पहरेदार योद्धा सॅभाल कर रखते ही है, दिन रात तलवारे लिये उसका पहरा देते ही रहते हैं, वह लक्ष्मी उनके हाथों की तलवारों के कठोर पींजड़ों में रोककर रक्खी जाती है तो भी चिरकाल तक ठहरती नहीं है। जो कि पहले राजा लोग हो गये उनमें से किसी की भी लक्ष्मी आज तक ठहरी नहीं दीखती।

जिस शरीर मे राजलक्ष्मी का पट्ट बॉधा जाता है वह शरीर कैसा है:—

**दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत् ।**
**जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ॥ ६३ ॥**

अर्थः—दोनों छोरों पर जिसमे आग लग गई हो ऐसी पोली लकड़ी के बीच में बैठा हुआ कीड़ा जिस तरह तल मल करता हुआ उसी मे जलकर मर जाता है, वहॉ से निकल भी नहीं सकता है और कुछ बचने का उपाय भी नहीं कर सकता है। अरे, उसी

प्रकार तू भी जिस शरीर के प्रथम और पीछे जन्म-मरणरूप दुर्निवार आग लग रही है, अवश्य ही उस शरीर मे वेदना सहता है, जन्ममरण के कष्ट भोगता है और अनेक तरह के कष्ट बीच मे आने पर भी वार वार तल-मल करता है। अंत में तुझे उसी में नष्ट होना पड़ता है। ये सब दुःख, शरीर के होने से ही भोगने पड़ते हैं। यदि शरीर न हो तो जन्म किसका और मरण किसका हो? आत्मा तो अजर अमर है, केवल शरीर कर्म के उदय से शरीर धारण करने के लिये जो इधर उधर दौड़ना पड़ता है यही तो जन्ममरण है। जब कि शरीरकर्म ही न हो तो शरीर धारण करने का कष्ट तथा शरीर मिलने पर बीच बीच के भूख, प्यास आदि अनेक कष्ट क्यों भोगने पड़ें? तब तो यह आत्मा एक स्थान पर शांत होकर लगै न? इसलिये दुःखों का जो वीज है वह शरीर ही है। यह शरीर तब तक अवश्य मिलता ही रहेगा जब तक कि विद्यमान शरीर से ममत्व नहीं छूटेगा। क्योंकि, ममत्व करने से नवीन कर्मबंध होता है और उस कर्म का यथासमय उदय होने पर नवीन नवीन शरीर की प्राप्ति होती रहती है। इसलिये उपदेश तेरे लिये यह है कि तू इस शरीर को अपना हित साधक मत समझ; इसको अहितकारी समझकर इससे प्रीति छोड़ जिससे कि नवीन पाप कर्मों का वंध होना रुक जाने पर क्रम से शरीर का सम्बन्ध छूट जाय।

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं,
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन्।
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा-,
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृतः ॥६४॥

अर्थः—अरे, तू नेत्रादि इन्द्रियों का तथा मनका दास वन गया है। ये अपने अपने समस्त विषयों के लिये जैसे तुझे प्रेरित करती हैं वैसे ही तू कलुषित होकर उन विषयों को तलास करता हुआ भटकता है और खिन्न होता है। उन्हीं इन्द्रियों के वश होकर अनेक तरह के खोटे काम करके पापों का संचय भी खूब करता है। परन्तु फिर समय पाकर उसके फल तू ही जब भोगता है तब अपने को दुःखी मानता है। इससे तू इन इंद्रियों को वश कर।

राग-द्वेष को दूर करके सर्व विषयों को छोड़, तथा अपने आत्मा को समझ और आत्मध्यान करके सच्चा सुखी हो, और आत्मीय सुख भोगता हुआ श्रेष्ठ शुद्ध आचरण द्वारा कर्म-मलका सर्वथा नाश करके इस संसार के दुःख से छूटकर निर्वृत हो। जब तक तू इन बाह्य विषयों से उपरत न होगा तुझे कभी सुख शांति प्राप्त नहीं होगी, यह तू निश्चय समझ।

धन सुख का साधन नहीं है। देखो:—

**अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोप्यवितृप्तितः।**
**कष्टं सर्वेपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी ॥६५॥**

**अर्थः**—जग के जो जीव निर्धन हैं वे तो धन न होने से दुःखी हैं और जो धनिक हैं वे तृष्णावश दुःखी हैं। धन न होने पर गृह का गुजारा न चलने से जीव कष्ट पाते हैं—अपने को महादुःखी समझते हैं। यदि धन हो तो उसको और भी अधिक बढ़ाने की फिकर मे तथा उसकी साल सँभाल की फिकर मे सदा मग्न रहते हैं। खाना पीना भी समय पर नहीं करते। इसलिये धनिक लोग भी दुःख से बचे नहीं हैं। इस प्रकार देखने पर संसार में सभी दुःखी हो रहे हैं, विचारे सभी जीव दिन रात खेद पा रहे हैं। यदि कोई यथार्थ सुखी है तो वह अकेला मुनि ही है, जिसका कि नाम भी 'सुखी' ऐसा शास्त्ररूढ़ है। इसका कारण यही है कि सुख की प्राप्ति का समर्थ कारण धन नहीं है किन्तु रागद्वेष का अभाव है। इसीलिये जबतक धनादिक के साथ रागद्वेष बड़ी तीव्रता से लग रहा है तब तक न धनी ही सुखी होता है, न निर्धन ही। जब कि रागद्वेष हट गया हो तो रचमात्र भी धन या दूसरा सुख-साधन न रखने पर भी साधुजन असीम सुखी कहे जाते हैं, और संभव भी ऐसा हो है।　　इसका कारण:—

**परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम्।**
**अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः ॥६६॥**

**अर्थः**—दुःख संसार मे वहीं है कि जहाँ परीधना है और जहाँ कि स्वाधीनता, वहीं सुख है। अथवा पराधीनता, यही दुःख है और स्वाधीनता, यही सुख है। इन्द्रियजनित जितने सुख हैं वे

१ 'परमेकः सुखी सुखी' यह पाठ भी है। 'सुखी' ऐसा नाम सन्यासी का है।

सब पराधीन हैं–विषयाधीन हैं इसलिये उन्हें, दुःख ही समझना चाहिये; क्योंकि, जब विषय को जोड़ना पड़ता है तब भी दुःख होता है और जब मिला हुआ विषय समाप्त हो जाता है तब भी दुःख होता है, बीच बीच में भी बाधा आते रहने से सुख का भंग होता रहता है। दूसरी बात यह है कि विषयजन्य उतना सुख नहीं हो पाता कि जितना चिंताजन्य दुःख सदा ही रहता है, और सुख तो कभी कभी होता है। इसीलिये जहाँ स्वाधीनता में कायक्लेशादिरूप थोड़ा सा दुःख भी दीखता हो तो भी वह दुःख स्वाधीनता रूप सुख के सामने कुछ नहीं है। एवं पराधीनता रूप महा दुःख के साथ थोड़ा सा सुख भी यदि होता दीखता हो तो भी वह सुख उस पराधीनता रूप कष्ट के सामने धूल है। यदि ऐसा न होता तो तपस्वी–जनों को ही सुखी ऐसा नाम क्यों मिलता ? सुखी यह नाम तपस्वियों का रूढ़ी है दूसरे किसी को जो सुखी कहा जाता है वह केवल विशेषण या उपचार की अपेक्षा से कहा जाता है। तपस्वी के अतिरिक्त 'सुखी' ऐसा नाम शब्दशास्त्रों में किसी का भी नहीं है।

दो श्लोकों से परिचर्यार्थ साधुओं के गुण कहते हैं.—

यदेतत् स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं,
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम्।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायातिविमृशन्,
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः॥ ६७॥

**अर्थः**—मुनियों की महिमा का वर्णन करना अशक्य है। जिनका विहार सदा स्वच्छन्द और विषय कामनारहित है। संसारी जितने जीव हैं वे सब इन्द्रियों के पराधीन हैं, कभी गमन भी करते हैं तो केवल विषय सिद्धि के प्रयोजन के वश। साधुओं का भोजन दीनतारहित होता है। वे कभी भोजन की याचना नहीं करते। किसी श्रद्धालु गृहस्थ ने भक्तिपुरस्सर प्रार्थना करके दिया तो लेते हैं। नहीं तो भोजन के विना भी अपने चित्त में खेद नहीं करते। पहले की तरह ही उनका परिणाम भोजन न मिलने पर भी प्रसन्न तथा सन्तुष्ट रहता है। परन्तु संसारी जीवों की यह बात नहीं है। इनका भोजन एक तो पराधीन है इसलिये दीनता धारण किये विना नहीं मिलता दूसरे, सन्तोष-रहित है। निर्धन को तो पराया आसरा

भोजन के लिये सदा ही करना पड़ता है, याचना भी करनी पड़ती है, जितना मिलता है उससे सन्तोष नहीं होता है। जो कि धनिक हैं उन्हें भी पूर्ण भोग-सामग्री न रहने से दुःख ही बना रहता है। सामग्री का पूर्ण इच्छित मिलना किसी को भी संभव नहीं होता, यह बात सभी के अनुभव गोचर है। मुनियो को सहवास सदा उत्कृष्ट श्रावक अथवा मुनि ऐसे आर्य पुरुषों का ही रहता है जो कि संसारी जीवों को मिलना बहुतेक दुस्साध्य है। संसारी जनों का व्यसन जिन शासन का अभ्यास करना ही है, जिससे कि उनको परमशांत दशा प्रगट होती है। संसारी जीव यदि शास्त्र का भी अभ्यास करें तो उस अभ्यास से अहंकार बढ़ता है, शांत दशा प्रगट नहीं होती। साधुओं के मन का वेग अत्यन्त मन्द हो जाता है जहाँ कि संसारियों का मन चंचल बना रहता है। अध्यात्म विचार करते-करते साधुओं का मन यदि बाह्य विषयों मे भी कदाचित् आता है तो वह भी उत्तम कामों मे आकर लगता है, न कि निकृष्ट कामों में। संसारी जनो का मन अध्यात्म चिंतन में तो लगता ही नहीं है किन्तु बाहिर जो लगता है वह भी खोटे विचारों में ही सदा आसक्त रहता है। हम नही कह सकते हैं कि मुनि-जनों की उत्कृष्ट लोकोत्तर परिणति होना, यह किस तपश्चर्या का फल है? अथवा ऐसे कौन साधु होंगे कि जिनको उत्कृष्ट तप का यह फल प्रगट हुआ होगा? भावार्थ, ऐसे विरले हैं परन्तु सच्चे साधु वे ही हैं। जो अपने को साधु बताकर लोगों को ठगते हैं वे साधु न समझने चाहिये।

**विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा,**<br>
**मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी।**<br>
**अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो,**<br>
**भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः॥ ६८॥**

**अर्थः**—उन महात्मा साधुओं की हम कहाँ तक प्रशंसा करें कि जिनमें संसार से वैराग्य ओतप्रोत सदा भरा ही रहता है, निरन्तर जो शास्त्रों का ही चिंतन करने वाले हैं, जिनका मन सदा करुणा से पूरित रहता है—जीवों का कल्याण किस तरह हो, जीव सांसारिक दु:खों से कब और कैसे मुक्त हों, यही विचार

जिनके अन्तःकरण में सदा जारी रहता है, जिनका ज्ञान, एकान्त दुराग्रह अथवा विपरीत ज्ञानरूप सघन अन्धकार का नाश करता है, मरण-समय जो समाधि धारण करते हैं अर्थात् भोजनादि बाह्य सामग्री को त्याग तथा भीतरी रागद्वेष को कृश करके जो शास्त्रानुसार आत्मा के स्वरूप चिंतन में लीन होते हैं। ऐसी परिणति महापुरुषों की ही हो सकती है। दीन पुरुष ऐसी आत्मोन्नति कहाँ से कर सकते हैं ? जो कि थोड़े से विघ्न से ही चलायमान हो जाते हैं उन से वह सर्वोत्कृष्ट तप की आराधना कैसे हो सकती है ? एवं जो कि निरन्तर विषय वासना मे लीन रहते हैं, शास्त्राभ्यास से पराङ्मुख रहते हैं जिनके चित्त मे करुणा का नाम भी नहीं है, एकान्त विपरीत श्रद्धा को जिन्होंने अपने अन्तःकरण में स्थान दे रक्खा है, मरते मरते भी जिनसे भोजनादि विषयवासना छूटती नहीं है ऐसे दीन जन क्या ऐसी आत्मोन्नति कर सकते हैं ? कभी नहीं। संसारवर्ती जीव भी कुछ थोड़ी सी धर्मवासना पाकर अपनी परिणति को सुधारते हैं, अनन्तानुबन्धी तीव्र कषायों का उपशम तथा क्षय करके विषयवासना को कृश करते हैं, तथा एक देश व्रत धारण करके विषयवासना को और भी अधिक कम करते हैं परन्तु तो भी क्या वे साधुओं के पद को पा सकते हैं ? कभी नहीं।

तपश्चरणादि कायक्लेश सहकर कष्ट क्यों भोगे ? धर्म के साधनभूत शरीर की तो रक्षा करना ही उचित है। इसका उत्तर:—

**उपायकोटिदूरक्ष्ये स्वतस्तत इतोन्यतः।**
**सर्वतः पतनप्राये काये कोयं तवाग्रहः॥ ६६**

**अर्थः**—अरे जीव, यह शरीर क्या रह सकता है ? कोटि यत्न इसकी रक्षा के लिये किये जांय तो भी यह शरीर इधर उधर से विशीर्ण ही होता रहता है, एक दिन सम्पूर्ण ही नष्ट हो जाता है। तू इसकी स्वयं रक्षा कर या दूसरों से करा, परन्तु यह कभी नहीं रहेगा। जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य कभी न कभी नष्ट होगा ही, यह न्याय तुझे क्या मालूम नहीं है ? फिर क्यों तेरा यह आग्रह है कि इसे मैं सम्भाल कर रक्खूं, कभी भी नष्ट न होने दूं ?

तो फिर क्या करना:—

**अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि।**
**शाश्वतं पदमायाति मुधाऽऽयातमवेहि ते॥ ७०**

अर्थः—अरे, बुद्धिमानी तो तेरी इस वात में है कि आयु कायादिक जब कि अवश्य नष्ट होने वाले हैं तो जब तक वे तुझे छोड़ने न पावे तभी तक तू उनसे प्रीति हटा कर शाश्वत पद को प्राप्त करले। क्योंकि तू उनसे विरक्त हो या मत हो परन्तु वे तो एक दिन तुझे अवश्य ही छोड़ेंगे। हाँ, तू उन्हें यदि पहले से स्वतः छोड़ देगा तो राग-द्वेषजन्य कर्मबन्ध न होकर अविनाशी पद तुझे मिल जायगा और यदि वे तुझे पहले से छोड़ जायंगे तो रागद्वेषजन्य तीव्र पाप का बन्ध होने से तुझे संसार के दुःखदायक भवों में रुलना पड़ेगा। पर जो शरीरादिक तुझे अभी मिले है वे शाश्वत रहने वाले कभी नहीं है यह तू निश्चय समझ, क्योंकि आज तक किसी दूसरे मनुष्य के शरीरादिक भी शाश्वत रहे हैं, जो कि तेरे भी शाश्वत रहेंगे ? जब कि ये अवश्य नष्ट होने ही वाले हैं तो तू उनसे पहले से नेह छोड कर यदि शाश्वत पद की प्राप्ति करले तो तेरी बुद्धिमानी है और तब तू ऐसा समझना कि यह पद मुझे सहज यों ही मिल गया। क्योंकि उस पद के प्राप्त होने मे तेरा गाँठ का क्या लग जायगा ? तपश्चरणादि द्वारा जो शरीर विशीर्ण होगा वह वैसे भी विशीर्ण तो होने ही वाला था।

आयु कायादिकों का नश्वर स्वभाव दो श्लोकों द्वारा दिखाते हैं:—

**गन्तुमुच्छ्वासनिश्वासैरभ्यस्यत्येष संततम्।**

**लोकः पृथगितो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम्॥ ७१**

अर्थः—जो श्वास निरन्तर आते जाते हैं उनके द्वारा यह आत्मा तो यहाँ से निकल जाने का निरन्तर अभ्यास कर रहा है परन्तु मनुष्य इससे एक उलटा ही सकल्प बाँधता रहता है कि मैं कभी यहाँ से मरूंगा ही नहीं, मेरा आत्मा अजर अमर है। अरे, क्या तुझे यह नहीं दीखता कि आयु के अश श्वासोच्छ्वास के मिष से निरन्तर कम हो रहे हैं, और इसी तरह का अभ्यास करते करते एक दिन यह आत्मा सभी निकल जायगा। अथवा कितने ही अज्ञानी तापस कुम्भक आदि योग साधन यह समझ कर करते हैं कि हम अजरामर हो जायंगे—इसी शरीर में सदा बने रहेगे। पर वे यह नहीं समझते कि हम कुम्भक के द्वारा जिन प्राणों को बार बार अपने भीतर भरते हैं वे ही बार बार रेचक योग से बाहिर

निकल जाने का अभ्यास कर रहे है। जब कि ऐसा है तो तू अपने को अजरामर क्यों समझ रहा है? क्यों आगे के भवों का सुधार करने की तुझे चिन्ता नहीं है? और भी:—

**गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं,**
**खलः कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम्।**
**किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह,**
**स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः ॥७२**

**अर्थः**—आयुष्य तो निरन्तर थोड़ा थोडा होकर क्षीण होता ही है परन्तु यह दुष्ट शरीर भी आयु के साथ ही साथ क्षीण होता जाता है। इस प्रकार कुछ समय वीतने पर ये दोनों ही सर्वथा नष्ट हो जाने वाले है। जब इन दोनों आयु काय का ही यह हाल है जो कि जीवन के खास आधार हैं तो प्रत्यक्ष जुदे दीखने वाले स्त्री पुत्रादि की क्या वात है? अर्थात् जब कि जीव के साथ घनिष्ट सम्वन्ध रखने वाले ये दोनों ही स्थिर नहीं है तो स्त्री पुत्रादि जो जीव से प्रत्यक्ष जुदे दीख रहे हैं वे कैसे चिरकाल तक स्थिर रह सकते हैं? उनकी स्थिति पूर्ण होने पर वे भी अवश्य तुझसे जुदे होंगे। ऐसी अवस्था मे तेरी यह समझ कि मैं कभी न मरूंगा, ठीक उसी के समान है कि जो मूर्ख चलती हुई नौका मे वैठा हुआ भ्रम से अपने को यह समझ रहा हो कि मैं स्थिर वैठा हुआ हूँ। यद्यपि उसे नौका में वैठे हुए चाहें यह भान प्रत्यक्ष से न हो कि मैं चल रहा हूँ, तो भी उसका चलना अवश्य सिद्ध है। उसी प्रकार उत्पन्न हुए जीव का मरना भी अवश्य सिद्ध है।

इसके समझने के लिये वहुत ही सुगम अनुमान है। देखो, जिस कुए का पानी अरहट यन्त्र के द्वारा थोड़ा थोड़ा वाहिर निकलता रहेगा वह क्यों न कम होगा? इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास द्वारा जिसका आयुष्य निरन्तर वाहिर चला जाता है उसका आयुष्य क्यों न घटेगा? अवश्य घटेगा ही। एवं जिसमे हानि निरन्तर होते हुए भी कुछ वढ़वारी न हो तो उसका कभी न कभी सर्वथा निश्शेष होना भी सम्भव ही है। कुए का जल जव वढ़ने से रुक जाता है तव जरूर नष्ट भी हो जाता है। आयु भी जो जन्म से पहले निश्चित हो जाता है उसमे वढ़वारी कुछ होने वाली नहीं है।

फिर जो आयु निरन्तर श्वासोच्छ्वास द्वारा घट रहा है वह कभी क्यों न नष्ट होगा ? अथवा नौका मे बैठा हुआ मनुष्य चाहे स्वयं गमन नहीं करता तो भी उसकी आश्रयभूत नौका जब कि विना रोक टोक चली जा रही है तो वह उसी मे बैठा रहकर क्यों न दूसरी जगह पहुँचेगा ? इसी प्रकार जिसके आधाररूप आयु-काय निरन्तर क्षीण हो रहे हैं वह चाहें थोड़ा भी इधर उधर होना न चाहें पर उसके आधार का जब सर्वथा क्षय हो जायगा तब वह कहाँ रह सकता है ? उसका मरण भी अवश्य होगा इस गति से दूसरी गति को प्राप्त अवश्य होगा।

अब यह दिखाते है कि जीते या मरते सुख कभी नहीं है:—

**उच्छ्वासखेदजन्यत्वाद्दुःखमेवात्र जीवितम्।**

**तद्विरामे भवेन्मृत्युर्नृणां भण कुतः सुखम् ॥७३**

**अर्थः**—अरे भाई, जब तक उच्छ्वास है, जीना भी तभी तक है। परन्तु श्वास लेने मे निरन्तर कष्ट होता है तो फिर जीना भी दुःखदायक ही हुआ, जीने मे सुख कैसा ? जब कि खेदकारी उच्छ्वास खतम हो जाय तो जीना ही नहीं हो सकता है, फिर भी मरण ही होगा। उस मरण में भी सुख नहीं मिल सकता है, क्योंकि, जहाँ सुखभोक्ता जीव ही नही है वहाँ सुख कैसा और किसको ? अथवा मरने को तो तू स्वयं ही दुःखमय मानता है। जब कि मरण होता है तब वेदना भी जीव को प्राय: इतनी होती है कि जिसका वर्णन करना भी कठिन है। जब कि जीवों को जीते हुए भी सुख नहीं है और मरने पर भी नहीं है तो कहो, संसार में सुख कैसा और कहाँ पर है ? सुख है तो एकमात्र शरीर से स्नेह छोड़ने पर है, जिससे कि आगे के लिये शरीर का सम्बन्ध ही टूट जाता है। शरीर रहते हुए तो कहीं कभी किसी को भी सुख नहीं है।

जीने मे सुख होना असम्भव और जीने की क्षणिकता.—

**जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः।**

**अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥७४**

**अर्थः**—जन्मरूप तालवृक्ष के ऊपर से टूटकर जन्तुरूप फल नीचे की तरफ जो गिर रहे हैं वे मरणरूप भूमितक न पहुँच कर बीच मे कितनी देर तक ठहरेंगे ?

**भावार्थः**—जैसे तालवृक्ष सभी वृक्षों मे ऊँचा वृक्ष है परन्तु उससे भी टूटकर नीचे पड़ते हुए उसके फल वीच में कितनी देर तक ठहरते है? वहुत ही शीघ्र वे भूमि पर आ पडते हैं। इसी प्रकार गर्भावतार से लेकर उत्पत्ति पर्यंत की अवस्था हुई तालवृक्ष और मरण हुआ नीचे की भूमि, एवं उत्पन्न होकर मरण प्राप्ति से पहले तक वीच की जो अवस्था है वह हुआ अंतराल। ऐसी अवस्था में जीव का जन्म लेने के अनन्तर अन्तराल में रहना कितनी देर तक हो सकता है? वहुत ही थोड़ी देर मे वह मरण-भूमि तक पहुँच जायगा। सम्भव भी यही है। जीव के जीने का कुछ भी ठिकाना नहीं रहता है। चाहें जव उसका मरण हो सकता है। प्रथम तो किसी को यही वात मालूम नहीं रहती कि मेरा या किसी का भी आयुष्य कव तक का है? किसी का आयुष्य यदि अधिक भी हुआ तो भी वीच मे अनेक कारणों से क्षीण हो जाने की संभावना रहती है जिससे कि छोटी भी अवस्था मे मरण हो जाना सम्भव है। विरला ही कोई ऐसा जीव होता है कि जो पूर्ण आयुष्य भोगकर मरता हो, नहीं तो सभी का आयुष्य कुछ न कुछ क्षीण होता ही है। चिन्ता रोग आदि आधिव्याधियाँ सभी जीवों को लगी रहती हैं जो कि आयु क्षय के खास कारण हैं। देखते भी हैं कि वहुत से जीव जन्म लेकर वहुत ही जल्दी जल्दी मर जाते हैं, वड़ी अवस्था तक वहुत ही थोड़े मनुष्य जीते जागते रहते हैं। इसलिये इस जीवन को अन्तराल की उपमा दी है। इस प्रकार जीवन को क्षणभंगुर समझ कर थोड़े से सुखाभास के लोभ से असली आत्महित का साधन छोड़ना नहीं चाहिये, जिससे कि अविनश्वर स्वाधीन सुख प्राप्त हो सकता है, और जहाँ से फिर मरना नहीं है।

मनुष्य की रक्षा का होना असम्भव है। देखो—

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः,
परिवृतमतः खेनाधस्तात् खलासुरनारकान्।
उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा,
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तकः ॥७५

**अर्थः**—ईश्वर के सृष्टि-कार्य करने मे मत्री का काम देने वाला जो विधाता, उसने मनुष्यों को निर्वल समझकर अनेक प्रकार

से उनकी रक्षा करना चाहा। जहाँ मनुष्यों को रहना था उसके आस पास तो असंख्यातों द्वीप समुद्र, खाई कोटों की जगह तैयार कराये, उनके भी आगे सबके बाहिर बीस बीस हजार योजन मोटे बातवलयों के तीन कोट तैयार कराये, और उनके भी आगे सर्व व्यापक आकाश को रक्खा। इतने कोट खाइयों के बीच मनुष्यों को रक्खा। ऊपर नीचे की भी रक्षा करना उसने छोड़ा नहीं। नीचे की तरफ से दुष्ट स्वभाव वाले क्रूर असुर तथा नारकियों को बसाया और ऊपर की तरफ देवों का वास कराया। निरन्तर मनुष्यों की रक्षा होने के लिये मनुष्यों मे से ही बलवानों को राजा बनाया। परन्तु मनुष्यों के स्वामी राजा भी उनकी रक्षा नहीं कर सके और खाई कोट आदि से भी उनकी रक्षा नहीं हुई। जब कि सर्वतोबली यम आकर मनुष्य को पकड़ लेता है तब उसका रोकना सर्वथा असाध्य हो जाता है।

परन्तु वह यम करता क्या है? जीव को तो नष्ट कर ही नहीं सकता है, केवल उस जीव का पुराने शरीर से वियोग करा देता है। तो भी शरीर तो नवीन मिल जाता है परन्तु पहिला शरीर छोड़ने में जीव को बहुत से कष्ट अवश्य होते हैं और जिन वस्तुओं के साथ इष्ट मानकर प्रीति उत्पन्न हुई है उन वस्तुओं का वियोग होने से अत्यन्त कष्ट होता है। इसीलिये जब कि शरीर की रक्षा होना असाध्य है और यहाँ की सभी वस्तुओं से वियोग अवश्य होने वाला है तो फिर इधर प्रीति करना पूरी मूर्खता है। प्रीति आत्मस्वभाव के साथ करनी चाहिये जो सदा शाश्वत होने से कभी अपने से जुदा होने वाला नहीं है। ऐसा करने से आगामी नवीन शरीर धारण करना नहीं पडेगा जिससे कि बार बार ऐसे दुःख भोगने की बारी आया करे। क्योंकि, पर वस्तुओं मे रागद्वेष होने के कारण विभाव परिणाम होने से जो शरीरजनक पापकर्म बँधता है वह जीव की परिस्थिति स्वाभाविक रहने पर नहीं बँधेगा। जब कि शरीर का बीज ही नहीं रहेगा तो नवीन शरीर का अंकुर किस तरह प्रगट होगा? इस प्रकार स्वाभाविक परिणति रखने से क्रमशः शरीर का अभाव, तज्जन्य दुखों का उच्छेद तथा अव्याबाध सुख-मय मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

काल की अनिवार्य गति का दृष्टान्तः—

**अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः,**

**खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम् ।**
**स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरम्,**
**परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान् ॥७६॥**

**अर्थः**—पहले से जिसका इतना पता भी नहीं लग पाता कि यह कहां पर है, कहां होकर आवेगा, जिसको लोग शरीर रहित कहते हैं, दूसरों को निगल जाता है इसलिये जो पापी है, जिसका देह काला अत्यन्त मलिन है। ऐसा दुष्ट राहु, प्रकाशमान उस सूर्य को भी समय पाकर गिल जाता है जो कि सूर्य अपने देदीप्यमान हज़ारों किरणों द्वारा सपूर्ण लोक को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार जिस जीव का भी आयुः-कर्म भोगकर चुक जाता है ‚उसका अन्त-काल आ जाने पर पापोदय होने से ऐसा कौन बलवान् है जो फिर उस जीव को बचा सकता हो? अहा, वह कष्ट अवाच्य है। यह यम भी ठीक राहु के समान ही है, क्योंकि, यह भी शरीर रहित अमूर्तिक है, इसके रहने का भी कोई नियत स्थान नहीं है, यह भी पापी है, मलिन है। जो घातकी हो उसी को लोग मलिन, दुष्ट कहते हैं। इसीलिये कविजन काल का स्वरूप काला, भयंकर, क्रूर, हिंसक वर्णन करते हैं।

काल को ऐसा मानना केवल उपचरित नयके अनुसार है, न कि उसका ऐसा स्वरूप यथार्थ ही है। क्योंकि, काल–द्रव्य के जो दो भेद हैं उनमें से निश्चय–नयाश्रित काल तो द्रव्यस्वरूप है जिसको कि वस्तुओं की उत्पत्ति तथा विपत्ति मे सीधा सहायक माना ही नहीं जाता है। रहा व्यवहार–नयाधीन काल, परन्तु वह भी जान–बूझ कर किसी का कर्ता हर्ता नहीं है, क्योंकि वह जड़ वस्तु है। जड़ में करने हरने की कल्पना तात्त्विक विचार से नितान्त दूर है। वस्तु की स्थिति उसके बंधनादि की योग्यता पर रहती है। जैसे एक घड़े को यदि खूब ठोककर मजबूत बनाया या अग्नि में खूब अच्छा पकाया अथवा उसमे कोई आघात जल्दी न लग गया हो तो वह अधिक समय तक ठहरता है, नहीं तो नहीं। इसी प्रकार सभी वस्तुओं की स्थिति निरनिराले कारणवश हीनाधिक हुआ करती है। इसलिये काल मे कुछ भी समर्थ कारणता नहीं है। यथार्थ देखा जाय तो व्यवहार काल कोः निराली चीज भी तो नहीं है किंतु निश्चय काल के द्वारा उत्पन्न हुई जो वस्तुओं में निरनिराली स्थिति

वही व्यवहार काल कहाता है। उसे कहीं पर तो उन उन वस्तुओं का ही पर्याय कहा है और कहीं कहीं पर वस्तु-पर्यायों की मर्यादा सूचित करने वाला, परन्तु निश्चय कालासंबंधी पर्याय ऐसा कहा है। वस्तु की स्थितिपूर्ण होने पर अवश्य ही पलटन होगी। इसी अर्थ का भयंकर रूप दिखाने के लिये लोगों मे यह कल्पना चल गई है कि काल जीवों को मारता है, उसके आ जाने पर जीव को कोई भी बचा नहीं सकता है, इत्यादि, इत्यादि।

दूसरा दृष्टान्त.—

**उत्पाद्य मोहमदविभ्रममेव विश्वं, वेधाः स्वयं गतघृणाष्ठगवद्यथेष्टम्। संसारभीकरमहागहनान्तराले, हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥७७॥**

**अर्थः**—वेधा नाम पूर्वोपार्जित कर्म का है। यह पूरा ठग है। निर्दय ठग जिस तरह लोगों को मादक वस्तु खिला पिलाकर असावधान करके किसी निर्जन स्थान में माल-टाल लूट-लाटकर मार डालते हैं उसी तरह निर्दय विधाता भी संसारी जनों को मोह-कर्मोदय-जनित रागद्वेष के द्वारा हिताहित-परीक्षा मे असावधान वनाकर, महाभयकर संसार बन के बीच आत्मीय धनको लूटकर मार डालता है। जब कि वह मारने लगता हैं तब किसका सामर्थ्य है कि उससे जीव को बचावै?

जिस निमित्त से एक पर्याय से पर्यायान्तर हो जाता है वह निमित्त ही काल है। वर्तमान आयु कर्म के समाप्त होने से तथा आनुपूर्वी आदि कर्मों के नवीन उदय होने से जीव का एक पर्याय बदल कर दूसरा पर्याय उत्पन्न होता है इसलिये दैव या कर्म ही सच्चा काल है। वही इस श्लोक मे काल की जगह कहा गया है। यह कार्य का कारण मे उपचार किया गया है। काल नाम किसी पर्याय के अन्त समय का है। जीवों के पर्यायों का अन्त दैवनिमित्त द्वारा होता है इसलिये कारण मे कार्य का आरोपण युक्तिसंगत कहा जाता है। इस पर से यह भी सिद्ध होता है कि जब तक

---

७६वें श्लोक का नोट:—

१ 'विलसितविधे' ऐसा भी पाठ है। ऐसा पाठ मानने से 'विलसितो भुक्तो, विधिरायु. कर्म यस्य तस्य पु स.' अर्थात् भोगकर खतम हो गया है आयुःकर्म जिसका उस पुरुष का ऐसा नाम वन जाता है।

जीव के साथ कर्म लगा हुआ है तब तक काल से वचना नहीं हो सकता है। सिद्ध भगवान ही कर्मरहित हैं इसलिये वे काल से भी बचे हुए हैं।

अनियत आजाने वाले काल से सावधान रहने का उपदेशः—

**कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः।**
**प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः ॥७८॥**

**अर्थः**—अरे सुज्ञ मनुष्यो, काल तुम्हें छोड़ने वाला तो है नहीं, आवेगा तो अवश्य ही। फिर तुम यों ही क्यों वैठे हो? अपने कल्याणार्थ यत्न क्यों नहीं करते? वह आने वाला अवश्य है यह निश्चय होकर भी कव आवेगा, किस तरह आवेगा, कहां से आवेगा और कहां पर आवेगा यह निश्चय ही नहीं है। कौन जाने, कब आवेगा, किस तरह आवेगा, कहाँ से आवेगा, कहाँ पर आवेगा? ऐसी हालत में कुछ भी यत्न न करके निश्चिन्त वैठे रहना, अथवा यह विचार करना कि जब वह आवेगा तभी हर उपाय करेंगे, कितनी वड़ी भूल है? क्या ठीक उस समय यत्न करने से कुछ भी होगा? आग लग जाने पर कुआ खोदना क्या कुछ भी उपयोगी पड़ सकता है? यत्न भी जो तुम करो वह शरीर रक्षार्थ नहीं, किंतु आगे शरीर का संवध न रहकर निरतिशय सुख की प्राप्ति हो इसलिये करो। शरीर की तो हजार रक्षा करने पर भी वह नहीं रहेगा यह निश्चय हो चुका है। इसलिये,

**असामवायिकं मृत्योरेकमालोक्य कञ्चन।**
**देशं कालं विधिं हेतुं निश्चिन्ताः सन्तु जन्तवः ॥७९॥**

**अर्थः**—तुम ऐसे किसी एक देश में जाकर निश्चित वास करो जहाँ मृत्यु का कुछ भी संवंध न हो। ऐसा कोई एक काल देखो कि जिसमे मृत्यु न आ सकता हो। कोई एक ऐसा ढंग सोधो जिस तरह चलने से मृत्यु आक्रमण न कर सके। कोई एक कारण ऐसा मिलाओ कि जिसके अवलम्बन से मृत्यु की दाद न लग सकती हो यह सब जव तुम करलो। तव तुम्हें निश्चिंत होना चाहिये। परन्तु यह ध्यान रक्खो कि जब तक तुमने शरीर का संवंध छोड़ा नहीं है तव तक ऐसा देश, काल, विधि तथा हेतु कभी नहीं मिलने वाला है। ऐसे देशादिक तो तुम्हें तभी मिलेंगे जब कि तुम शरीर से

स्नेह हटाकर वीतराग होकर अध्यात्म चिंतन करने लगोगे। क्योंकि; ऐसा सम्बन्ध संसार मे तो कहीं पर भी नहीं है; एकमात्र है तो ससार छूटकर होनेवाली चिदानंद दशा के प्राप्त होने पर है। इसलिये शरीर रक्षा के प्रयत्न मे लगने से तुह्मारा मृत्यु से छुटकारा होना असंभव है। इसलिये इस धुनको छोड़कर आत्म कल्याण करने के लिये तुम्हें यत्न करना चाहिए।

स्त्री को अनुपसेव्य दिखाते हैं:—

**अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा,—**
**मुपकृतवतो भूयः किं तेन चेदपकरोत् ।**
**कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे,**
**कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे ॥८०॥**

**अर्थः**—स्त्री मे असर्यादित आसक्त होने वाले मनुष्य, क्या आत्महित से वंचित होकर अनेक पाप सचित करके नरक में नहीं पड़ेंगे ? अवश्य पड़ेंगे। जब कि ऐसा निश्चित है तो स्त्रीरत मनुष्यों को नरक की घोर आपत्तियों मे प्रवेश कराने के लिये स्त्रीका शरीर, खुला हुआ बड़ा सा दरवाजा ही समझना चाहिये। इसीलिये अनेक उपकार करनेवाले जीव का भी इससे अपकार ही हुआ कहना चाहिये और मनुष्य के कल्याण को भस्म करने के लिये इसे प्रखर अग्नि ज्वाला समझना चाहिये। अरे, यह कलत्र का कलेवर, नीच, पासर, अज्ञानी जनों को दुर्लभ सरीखा जान पड़ता है। तू इसका स्वरूप अकल्याणकारी समझकर भी क्यों इससे प्रीति करता है ?

पुरुषों को मुख्य मानकर उनको संबोधकर यह उपदेश दिया गया है किन्तु स्त्री के लिये जब यह उपदेश समझना हो तब ऐसा अर्थ करना चाहिये कि, स्त्रियां कुत्सित व्यभिचारी पुरुषों के संबंध से व्यसनों मे आसक्त होकर आत्महित से वचित रहती हुई अनेक पाप संचित करके क्या नरकों मे नहीं पड़ती ? अवश्य पड़ती हैं, और उनको नरकों मे पाड़ने के निमित्त पुरुष होते हैं। इसलिये वे नरक के घोर दुखों मे प्रवेश करने के लिये उघड़े हुए विशाल द्वार के समान हैं। एवं पुरुषों का कामपूर्ण अङ्ग, स्त्रियों के समस्त कल्याणको जला डालने वाला जाज्वल्यमान अग्निस्फुलिंग के समान है। गृहधर्म में स्त्रियों के द्वारा पुरुषों को जो अनेक उपकार मिलते हैं उनके बदले मे, वे पापी पुरुष हैं कि जो उनको नरकों मे डालकर

उनका अपकार करने वाले है। काम सेवन के लिये समर्थ ऐसे पुरुषों का प्राप्त होना वे ही स्त्रियाँ दुर्लभ समझती हैं जो नीच, क्षुद्र, अज्ञानपूर्ण हैं। उत्तम स्त्रियों को वह शरीर कुछ भी अपूर्व अनुपम तथा दुर्लभ नहीं जान पड़ता है; क्योंकि, पुण्य के उदय से उत्तम से उत्तम पुरुषों का संबंध होना सहज है तो भी निस्सार होने से आदरणीय नहीं है। इसीलिए हे कुलीन भगिनियो, तुम इसमे आसक्त मत हो जिससे कि तुम्हे अनेक भवोंतक नरकादि के घोर दुःख भोगने पड़े।

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेप्यभोग्योचितं,
विश्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्टकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम्।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षु सदृशं नाम्नैकरम्यं पुन,-
र्निस्सारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥

अर्थः—ईख के सांठे, आदि अंत में तो सभी निरुपयोगी ही है, बीच बीच मे निस्सत्व गाँठे भी सभी से रहती हैं। गाँठों की जगह अतिशय कठोर तथा नीरस होती है इसलिये वह किसी भी काम की नहीं होती। रही नीचे की जड़, वह भूमि के भीतर रहने से सर्वथा नीरस कठोर हो जाती है इसलिये वह भी निरुपयोगी ही है। ऊपरी भाग तक तो रस पहुँच ही नहीं पाता, वह केवल नीरस नीर से भरा रहता है इसलिये उसे भी लोग निरुपयोगी समझकर फेंक ही देते हैं। गांठों के बीच बीच मे कुछ थोड़ासा भाग ऐसा होता है कि जो खाया जा सकता है। प्रथम तो बुद्धिमान् मनुष्य को यह चाहिये कि वह उसे भोग्य होने पर भी संपूर्ण न भोगकर कुछ बीज के लिये भी शेष रक्खे नहीं तो फिर आगे वैसा भोगना कहाँ मिल सकेगा? परन्तु वह साठा जितना कि भोगने योग्य है उतना भी यदि सड़ गया हो, कांना पड़ गया हो तो फिर वह जरासा भी भोगने योग्य नहीं रहता। ऐसी हालत मे यदि कोई मूर्ख मनुष्य उसे खाने के लिए चीड़ फाड़ डाले तो उस मनुष्य को उस सांठे मे से कुछ खाने के लायक तो मिल ही नहीं सकता, उलटा यों ही फेक देना पड़ेगा। यदि खाया भी तो जरासा भी मीठा स्वाद न आकर उलटा वह चित्त को ग्लानि उत्पन्न करेगा। इसलिए उसको खाने का उद्योग करने से खानेवाले का तो कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता और वह साठा यों ही खराब जाता

है। ऐसी हालत में वह मनुष्य बुद्धिमान् समझा जायगा कि जो उसे यों ही न खोकर कहीं पर बोदे, जिससे कि आगामी बहुत से अच्छे अच्छे सांठे खाने के लायक उस एक सड़े हुए सांठे से उत्पन्न हो सकते हैं।

इसी प्रकार मनुष्यजीवन भी एक सड़े हुए सांठे के तुल्य है। इसमें गांठों की तरह तो बीच बीच में अनेक आपत्तियाँ आया करती हैं और बुढ़ापा ऊपरी अँगोले की तरह सर्वथा नीरस होता ही है, जिसमे कि सर्व इन्द्रियाँ और शक्ति क्षीण हो जाने से किसी भी भोग्य विषय का सेवन नहीं हो पाता है। रही बाल्य अवस्था, वह भी अत्यन्त अज्ञानपूर्ण होने से सुखसाधक नहीं है। यौवन के समय जो आपत्तिरूप गांठों के बीच बीच मे कुछ थोड़ी सी भोग्य अवस्था है वह भी जब कि क्षुधा, व्रण, फोड़े, विशीर्ण होना, कुष्ट रोग हो जाना तथा व्रणों मे सड़कर कीड़े पड़ जाना इत्यादि भीषण रोगों स व्याप्त है तो उसमें भी रति करने से क्या सुख होगा? कुछ भी नहीं। इसलिये यह मनुष्य भव काने सांठे की तरह है। जिस तरह सांठे का नाम अच्छा मालूम पड़ता है परन्तु सड़ जाने पर उस सांठे का स्वरूप बहुत ही बुरा दीखता है इसी तरह मनुष्य भव का भी नाम तो बहुत ही अच्छा है परन्तु विचारने पर स्वरूप बहुत ही बुरा दुःखदायक जान पड़ता है। इसलिये इसको भोगों मे खिपा देना तो मूर्खता है और इससे तपश्चरणद्वारा आगे के भव को सुधार लेना बुद्धिमानी है।

शरीर की क्षणिकता पुष्ट करते हैं:—

प्रसुप्तो मरणाशङ्कां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम्।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम्॥ ८२॥

**अर्थः**—जब जीव सो जाता है तब तो मरा हुआ सा दीखा करता है और जाग उठता है तब जीने की खूब चेष्टा करने लगता है। ऐसा हाल किसी एक दिन का नहीं है किन्तु प्रतिदिन ऐसा ही हुआ करता है। जो कि इस तरह प्रतिदिन अन्त होने का सा अभ्यास किया करता है वह कहा तक इस शरीर मे ठहरेगा, बहुत ही शीघ्र कभी न कभी सचमुच ही निकल जायगा। अथवा जो सदा ऐसा धोखा देता है उसका कहाँ तक यह विश्वास किया जा सकता है कि यह कभी सचमुच ही न निकल जायगा? वह तो

कभी न कभी अवश्य निकलेगा। इसलिये उसके रहते रहते जो करना हो वह कर लेना चाहिये। करना यही है कि विषय से प्रीति हटाकर तपश्चरण द्वारा परभव का सुधार कर लिया जाय। इस प्रकार शरीर से आत्मा के हित की आशा रखना सर्वथा निर्मूल है।

अब यह विचार करिये कि कुटुम्ब से आत्महित होता है या नहीं ?

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य,—
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्,
संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥ ८३ ॥

अर्थः—अरे जीव, तू सांच कह, इस जन्म भर मे तुझे बन्धुजनों से होने योग्य क्या कुछ थोड़ा सा भी उपकार आज तक कभी मिला है? सच्चा बधु तो वही कहाता है जो निरंतर कुछ भी उपकार करता रहता हो। हाँ, इतना उपकार बंधुजनों से अवश्य हुआ करता है कि जो जीव को दुःख देने वाला अतएव जीव का शत्रु था उस शरीर को मरने के पीछे वे सब मिलकर जला देते हैं। तेरे भी शरीर को इसी तरह तेरे बधुजन एक दिन सब मिलकर जला देंगे। इतना तेरा उपकार उनके हाथ से अवश्य हुआ समझना चाहिये; क्योंकि, जो दुःख देने वाला शत्रु होता है उस शत्रु से जो दुःख का कुछ भी बदला ले वही अपना मित्र तथा बंधु समझना चाहिये। परन्तु तू यदि यथार्थ विचार करेगा तो तुझे विश्वास होगा कि मेरे जीतेजी बन्धुओं ने मेरा कभी कुछ भी हित नहीं किया। सभी बंधु अपने अपने मतलब के गरजी हैं। जो तेरे कुछ भी उपकारी नहीं हैं उनके साथ तू क्यों असमान स्नेह करता है ?

बन्धुजनों के द्वारा जो विवाहादि उपकार होते हैं उन्हें अपकार सिद्ध करते हैं —

जन्मसंतानसंपादिविवाहादिविधायिनः।
स्वाः[1] परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥ ८४ ॥

अर्थः—चिरकालपर्यंत जन्ममरणों के दुःख देने वाले अशुभ कर्मों का सम्बन्ध, विवाहादिक रागवर्धक कार्यों के करने से होता

१ 'स्व' नाम अपना, अथवा बन्धुजन। 'पर' शब्द का अर्थ शत्रु है।

है। इसलिये जो कुटुम्बी जन हित समझ कर विवाहादिक कराकर जीव को संसार वासनाओं मे फसाते है वे असली वैरी हैं, क्योंकि, उनके उपकार करने से जीव को चिरकाल तक संसार दु:ख भोगने पड़ेगे। जो कि एक वार प्राण हर लेते है उन वैरियों को असली वैरी नहीं समझना चाहिये; क्यो।क, एक तो एकवार प्राण हर लेने मात्र से उन बन्धुजनों की बराबर उनका अपराध नहीं होता कि जो वन्धुजन, रागभाववर्धक कारण मिला कर जीव को चिरकाल तक दु:खदायक कर्मों से वद्ध करा देते है, दूसरी यह वात कि जो प्राण हरने वाले है वे अपराधी ही नहीं हैं। अपराधी वह होता है जिसने स्वयं कुछ अपराध किया हो। जबतक आयुष्य कर्म की उदयावली प्रबल है तथा दूसरे भी शुभ कर्मों का उदय हो रहा है तबतक जीव का मारने वाला कौन है? जब कि आयुकर्म पूर्ण हुआ तब विना मारे भी जीव मर जाता है। इसलिये वेचारे पामर जीव को प्राणघात मे निमित्तमात्र हो जाने से प्राणहर्ता कहना भूल है। तीसरी बात यह भी है कि जो ऋण को छुड़ाता है वह ऋण छुड़ाते समय चाहे दु:खदायक जान पड़ता हो परन्तु असली दु:खदाता नहीं है और जो ऋण करता है वह उस समय चाहें सुखदायक ही जान पड़ता हो तो भी उसे दु.खदाता ही कहना चाहिये। जो आयु-कर्म पहले वॉध लिया है और अब उदय मे आरहा है वह पूरा हुए विना तो दूर हो नहीं सकता, परन्तु जो कोई उसे शीघ्र ही पूरा कर दे उसे ऋणमोचक कहना चाहिये। और इसीलिये उसे अपना उपकर्ता समझना चाहिये। जिसने प्राणघात किया हो उसने शेष रहे हुए आयु को तत्काल ही पूरा कराकर उससे जीव को छुटकारा करा दिया इसलिये उसे उपकर्ता न कहा जाय तो क्या कहना चाहिये? हॉ, जिन वन्धुओं ने विवाहादि रागद्वेषवर्धक कार्यों में फसाया उन्होंने पाप-कर्मरूप नवीन ऋण से जीव को लिप्त किया इसलिये ये वन्धुजन अवश्य पूरे शत्रु हैं।

वन्धुजन जब कि धन की मदत करते है तो वे सुख के कारण हुए, दु:ख के कारण कैसे हो सकते हैं? इस भ्रम को हटाते हैं:—

**रे धनेन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।**
**ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणे क्षणे ॥ ८५ ॥**

**अर्थः**—अरे मूर्ख, बहुत-सा ईंधन डाल कर आप ही अग्नि

को इधर उधर से खूब चेता कर उसके वीच में पड़कर जलना कौन पसन्द करेगा ? और यदि इस तरह अपने ही हाथ से ईंधन पड़कर अग्नि चेत गया हो तथा उसमे फसकर आप स्वयं जलने लगा हो तो भी उस समय अपने को सुखी कौन मानेगा ? यदि उस समय भी जो सुखी समझ रहा हो तो उसके वरावर दूसरा मूर्ख कौन होगा ? कहना चाहिये कि वह पूरा पागल है। इसी तरह जिसने वन्धुजनों की प्रेरणा से अपनी आशारूप अग्नि मे धनरूप ईंधन डालकर उसे खूब प्रदीप्त कर लिया हो और उसके वीच मे फसकर आप ही जलने लगा हो, तो भी अज्ञानवश समझता हो कि मैं खूब सुखी हो गया, तो उसके वरावर कौन दूसरा मूर्ख होगा ? जव कि धन के वढ़ने से तृष्णा, चिंता वढ़ती है तो वह सुखी कैसे कहा जा सकता है ? जव कि तृष्णा, चिंता आदि दु खों का कारण होने से धन सर्वथा दुःख का ही कारण है तो उसके सग्रह करने मे जो वन्धुजन सहायी होते हैं वे सच्चे हितकर्ता वन्धु कैसे कहे जा सकते हैं ? सच्चा वन्धु तो वही है कि जो तृष्णा के कारणभूत धन से तृष्णा हटवा कर सन्तोष तथा स्वाधीन अध्यात्म सुख मे लगावे।

युवावस्था में विषय सुख भोगकर वृद्धावस्था मे धर्म साधने की इच्छा रखने वाले से कहते हैं:—

**पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव वुद्धेः।**
**कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥८६**

**अर्थः**—वुढ़ापा आने पर लोगों के वाल काले से सफेद हो जाते हैं, वुद्धि की सावधानी भी नष्ट हो जाती है। वुद्धिविकास का स्वरूप ठीक सफेद वर्णन किया जा सकता है परन्तु वह अदृश्य चीज है इसलिये उस वुद्धि की सावधानी का निकल जाना, एक चीज को वाहिर प्रगट होते हुए देख कर कवि ने सिद्ध किया है। इसको कवि लोग उत्प्रेक्षा कहते हैं। वह यों कि, अरे मूर्ख, तू समझता होगा कि युवावस्था में भोगों को खूव भोगकर भी वुढ़ापे के समय धर्मसेवन करलूँगा जिससे कि परलोक का सुधार हो सकता है। परन्तु तेरी यह समझ वहुत भूल की है, क्योंकि वुढ़ापा आजाने पर जो तेरे वाल सफेद पड़ जाते हैं, उन्हें हम ऐसा समझते हैं कि वे वाल नहीं हैं। तो, इस छल से तेरी सुध वुध शरीर से निकल रही है। इसीलिये तो वुढ़ापे मे वुद्धि सावधान नहीं रहती।

सावधानी जो बुद्धि की थी वह जब शरीर से निकल गई तो सावधानी के रहते हुए जो काम हो सकते हैं वे काम फिर कैसे पूरे पड़ेगे ? इसीसे तो बुढ़ापा आ जाने पर छोटी छोटी बातों तक का स्मरण नहीं रहता, समझ भी उल्टी ही हो जाती है। ऐसी हालत में जब कि ऐहिक छोटी छोटी बाते भी ठीक नहीं रह सकतीं तो फिर परलोक सम्बन्धी पूरा लक्ष्य रखकर करने योग्य धर्मकार्य कैसे किये जा सकते हैं ? करना तो दूर रहा, उन कामों का स्मरण भी ठीक ठीक कहाँ से रह सकता है ? अरे भाई, इसलिये तुझे जो कुछ करना हो उसे इसी समय करले।

विषय मे न फसकर परमार्थ प्रवृत्ति करनेवालों की दुर्लभता:—

**इष्टार्थाद्यदवाप्तद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर,—**
**न्नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे ।**
**मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे,**
**मोहग्राहविदारितास्यविवराद् रेचरा दुर्लभाः ॥८७**

अर्थः—संसार, एक भयकर विस्तीर्ण समुद्र के समान है। समुद्र मे खारा जल भरा रहता है जिसको यदि कोई भी पीता है तो उसकी तृप्ति नहीं होती, उल्टा दाह बढ़ता है। इसी तरह ससार-समुद्र मे विषयजन्य सुख है कि जो क्षणभंगुर होने से तथा दु.खपूर्ण होने से पीनेवाले की तृप्ति नहीं कर सकते। समुद्र मे जैसे वडवानल अग्नि जलता रहता है जिससे कि समुद्र भीतर से निरन्तर जला करता है और स्थिरता नहीं पड़ती उसी तरह संसार मे मानसिक तीव्र वेदनाएँ हैं कि जो निरन्तर जाज्वल्यमान रहती है जिनसे कि जीवों का अन्त करण निरन्तर जला करता है किन्तु शान्ति क्षणभर के लिये भी नहीं मिलती। समुद्र मे तरंगें निरन्तर उठती हैं और विलीन होती हैं; संसार मे भी जन्म-मरण-जरारूप तरगों की माला निरंतर उठती ही रहती है जिससे कि एक क्षणभर के लिये भी स्थिरता नहीं होती। इस गति से उसमें, उससे भी और तीसरी गति मे, इस तरह जीव सदा भ्रमता ही रहता है। समुद्र मे बड़े-बड़े मगर नाके आदि मुख फाड़े हुए पड़े रहते हैं कि जो किसी भी जन्तु को पास आते ही गिल जाते हैं। इस संसार में भी मोहरूप मगर नाके आदि भयानक जलचर जीव निरन्तर मुख फाड़े हुए

पडे रहते हैं; कोई भी पास आया कि झट गिल जाते हैं। रागद्वेप की उत्पत्ति निरन्तर होती ही रहती है जिससे कि सदा अशुभ कर्मों से यह जीव लिप्त होता रहता है। यही मोहग्राह का गिलना है। इस ससार समुद्र मे रहते हुए भी जो इन मोहग्राहों से वचे रहते हैं वे अत्यन्त विरल हैं। इस दु खसागर से पार होते है तो वे ही होते हैं। अरे भव्य, तुझे भी इस संसार समुद्र मे रहकर इसी तरह वचना चाहिये तभी तेरा वेढ़ा पार होगा।

वचकर भी क्या करना चाहियेः –

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः,
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम्।
धन्योसि त्वं यदि तनुरियं लब्धवोधो मृगीभि–,
र्दग्धारण्यस्थलकमलिनीशङ्कयालोक्यते ते ॥८८

**अर्थः**—अन्तराय रहित जो विविध सुख, उनसे जिस शरीर की लालना हुई हो, सुन्दर स्त्रियो के चचल रमणीय नेत्रकमलों से जिस शरीर का निरन्तर सत्कार होता रहा हो, अर्थात् जिसने स्त्रियों के चंचल नेत्र देखने में अपना आज तक का समय गमाया हो, ऐसा तेरा जन्म से लेकर सुख मे लीन रहा हुआ जो शरीर है वह यदि ज्ञान प्राप्त होकर सच्चे तपश्चरण करने मे ऐसा लीन हो कि विचरती हुई हरिणी उस शरीर को देखकर जले हुए जंगल का मुरझाया हुआ गुलाव ( स्थलकमलिनी ) समझ कर निर्भय देखने लग जाय, तो मैं तुझे धन्य समझता हूँ। भावार्थ, जिस दिन तेरी ऐसी अवस्था होगी तभी मै तुझे धन्य मानूँगा। जो जन्म से लेकर दु खी है वे यदि तपश्चरणादि कष्टों को सहे तो सहज सह सकते हैं, क्योंकि, उन्हें दु ख सहन करने का अभ्यास हो चुका है। परन्तु जो जन्म के सुखी हैं, कभी कष्ट का नाम तक नहीं सुनते, वे यदि इस उत्तम धर्म को धारण करे तो अधिक महत्व की वात है। ऐसे मनुष्य विपय से रहित सच्चे धर्म को तभी धारण कर सकते हैं कि यदि उन्हे सच्चा धर्म से प्रेम उत्पन्न हो चुका हो।

वाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं,
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने।

**मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसुपशो क्लिश्नासि कृष्यादिभि--,**
**वृद्धो वार्धमृतः क्व [1]जन्मफलितं धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८९**

**अर्थः**—बाल्य अवस्था मे पूरा समर्थ न होने से तू अपने हिताहित को थोड़ा सा भी समझ नहीं पाता; किंतु युवावस्था मे जब कि समझने योग्य हुआ तब, जैसे कोई वन मे क्रीड़ा करता फिरे, तू स्त्रियों के झुण्ड में कामान्ध हुआ विचरने लगता है। यौवन अवस्था के आगे जब कि बाल बच्चे हो गये तब, उस मध्यावस्था में तृष्णा बढ़ती है जिससे कि खेती या व्यापारादि काम करके धन कमाने की चिंता से व्याकुल होता है। उस समय भी तू ठीक पशुओं की तरह अज्ञानी और भारवाही बन जाता है। अब जब कि बुढ़ापा आ गया तो सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, स्मरणशक्ति तथा शरीरशक्ति अतिक्षीण हो चली। मन भी उस समय स्थिर विचार नहीं कर सकता। इसलिये वह बुढ़ापा क्या है, आधा मरण ही हो चुका समझना चाहिए। अब कहिये, धर्म कब हो सकेगा ? भावार्थ, विषयासक्त प्राणी का जन्म से लेकर अन्त हुए तक सारा आयुष्य यों ही बीत जाता है, धर्म एक रत्तीभर भी सध नहीं पाता। पर यह खूब ध्यान रक्खो कि, जन्म धारण करने का निर्मल फल एक मात्र धर्म ही है। इसमें लेशमात्र भी मल—दुःख, संकट नहीं रहते इसीलिये यह धर्म निर्मल माना गया है। इसके बिना जन्म लेना सफल नहीं हो सकता।

वर्तमान पर्याय के दुःख—

**बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं,**
**मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नार्पितं[2] यत्त्वयि।**
**वार्द्धक्येऽप्यभिभूय दन्तदलनाद्या[3]चेष्टितं निष्ठुरं,**
**पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते ॥९०**

**अर्थः**—अरे दुर्बुद्धे, बाल्यावस्था मे तुझे अज्ञानी बनाकर जो कुछ दुःख इस कर्म ने दिये—जो-जो बेहाल किये उनका विचारना भी

१. 'जन्मफलिते' ऐसा मूल पाठ मिला था पर जन्म का फलभूत ऐसा 'धर्म' का विशेषण करदेने से अर्थ ठीक बैठता है।

२. स्तन्नर्पित ( प्रापित ) ऐसा पाठ सटीक पुस्तक में है।

३. 'दाचेष्टितं' ऐसा पाठ सटीक पुस्तक में है।

भयानक है। मध्यावस्था मे धन उपार्जन के साधनों में फसाकर जो तुझे दु:खी किया वह दु:ख भी कुछ कम नहीं, और ऐसा कोई दु:ख बचा भी नहीं कि जो तुझे भोगना न पड़ा हो। वुढ़ापे मे भी तुझे कमजोर समझ कर अपमानित किया और तेरे दॉत तक तोड़ दिये; और भी अनेक कठोर कष्ट दिये, वे भी तू देख। फिर भी तू बड़ा मूर्ख है कि जो उसी कर्म के वश रहकर चलना चाहता है। भावार्थ, यदि किसी से एक वार भी धोखा हो गया हो—किसी ने एक वार भी किसी को थोडा सा कष्ट दिया हो तो फिर वह प्राणी कभी उसके फन्दे मे फसना नहीं चाहता। पर, दुष्ट कर्म ने तुझे अनेक वार दुस्सह दु ख दिये है जो कि बाल्यावस्था से लेकर वुढ़ापे तक तेने पराधीन होकर भोगे है, जिनका कि तू स्मरण भी करता ही होगा। तो भी तू उससे सावधान होकर छुटकारा कर लेना नहीं चाहता। इस तेरी मूर्खता पर क्या कहैं ?

वुढ़ापे मे इन्द्रियादि क्षीण होने का हेतु.—

**अश्रोत्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुति-,**
**श्चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दुष्यामिवान्ध्यं गतम्।**
**भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते,**
**निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे जराजर्जरे ॥६१**

**अर्थः**—वुढ़ापे मे असमर्थ हो जाने के कारण जो तुझे दूसरे लोग अनेक अपमान तथा निन्दा-जनक शब्द बोलने लगते है उन्हें कान सुनना नहीं चाहते इसीलिये शायद वे सुनने के काम से विरक्त होकर वहरे वन गये हैं। नेत्र भी तेरी निन्दित और दु:खापन्न दशा देखने के लिये असमर्थ होकर शायद अन्धे वन गये है। तेरा शरीर भी सन्मुख आते यमराज को देखकर ही क्या डर गया है जिससे कि अत्यन्त कपने लगा है। यह तेरा शरीर—मन्दिर जरा-अग्नि से जर्जरित हो चला है, थोड़ी ही देर मे जलकर खाक हो जाने वाला है तो भी तू उससे निश्चिन्त वना वैठा है।

**भावार्थः**— इस शरीर मे से प्राणों के निकल जाने की शंका तो सदा ही वनी हुई है। वालक से वूढे तक सभी मरते दीखते हैं। इसलिये आगे के भव की सँभाल करना तो सदा ही चाहिये। पर वुढ़ापे से आगे तो अधिक कदापि रह ही नहीं सकता। इसलिये

बुढ़ापा आ पहुँचने पर परलोक की चिन्ता सभी को करनी ही चाहिये। यदि कोई प्राणी बुढ़ापा आ जाने पर भी निश्चिन्त बैठा रहे तो कहना चाहिए कि वह अग्नि से जलते हुये मकान के भीतर जानता बूझता निश्चिन्त बैठा हुआ है। उसकी मूर्खता का क्या ठिकाना है ? जिस बुढ़ापे में आँखों की जोति मन्द हो जाती है, कान वहरे हो जाते हैं, शरीर, शक्ति घट जाने से शिथिल होकर कपने लगता है उस बुढ़ापे का ठहरना क्या चिरकाल तक हो सकेगा ? नहीं। तो फिर यहाँ से छूटकर जहाँ पहुँचना है उसकी चिन्ता अब भी क्यों नहीं करते ? और भी देख:—

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः ।

त्वं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥६२

**अर्थः**—जीवों में यह स्वभाव दीख पड़ता है कि चिरपरिचित वस्तुओं से स्नेह घट जाया करता है और नये पदार्थों में स्नेह पैदा होता है। पर तू इस कहावत को भी झूठा कर रहा है कि, चिरकाल के परिचित होने पर भी रागद्वेषादि दोषों से तेरी प्रीति घटी नहीं और नये प्राप्त हुये या होने वाले सम्यक्त्वादि गुणों से प्रीति जुड़ती नहीं।

**भावार्थः**—अरे जीव, यदि तू इस कहावत के अनुसार भी चल सके तो सम्यक्त्वादि नूतन गुणों की प्रीति तथा वृद्धि होने से, एवं चिरकाल से गाढ़ परिचित हुए राग द्वेषादि दोषों का अभाव होने से तेरे परलोक का सुधार हो जाय। क्योंकि, रागद्वेषादि द्वारा बंध होने वाला पापकर्म जब कि रागद्वेषादि के अभाव होने से रुकेगा और तीव्र पुण्य कर्म का बंध तथा पूर्वसंचित पापकर्मों की निर्जरा करदेने वाले सम्यक्त्वादि गुणों की वढ़वारी से पापकर्मों का नाश तथा पुण्यकर्म का लाभ होगा तो सुतरां तेरा आगामी समय सुखमयी बन जायगा। विषयों के सेवन में तेने आज तक का सारा समय विताया पर, रत्ती भर कभी साराश न मिला। तो फिर उन विषयों से विरक्त न होने का क्या कारण है ? अरे, इतने दिन तक तो विषयों में मग्न रहकर उनका दु.खमय परिपाक तेने पूरा समझ लिया पर, गुण नये हैं इसलिये उनसे प्रीति करके भी तो देख; क्या फल मिलता है ?

विषय दुःखों का दृष्टान्त —

**हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि,**
**नो संगतं दिनविकाशि सरोजमित्थम् ।**
**नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव**
**प्रायः कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः ॥६३**

**अर्थः**—यह सरोज ( कमल ) जल से पैदा होकर भी उसमें लिप्त नहीं हुआ - सदा उस जल से जुदा ही रहा। इससे यह जान पड़ता है कि यह कमल अति कठोर हृदय है। इसीलिये शायद हंसों ने इसको खाया नहीं। केवल दिन में ही खिला रहकर रात को मुंद जाता है—सदा विकसित भी नहीं रह पाता। अरे भौंरा, इस कमल के ऐस स्वभाव की तरफ तेने कुछ ध्यान नहीं दिया। स्वभाव का विचार न करके उसमे फसा, इसलिये उसी मे वृथा प्राणान्त हुआ।

विषयों का भी ठीक यही स्वभाव है। पुण्य कर्म का उदय जब तक रहता है तभी तक विषय भोग टिकते हैं, नहीं तो रात को कमल की तरह पुण्य कर्म के खतम होते ही वे विलीन हो जाते हैं। आत्मा मे उपजकर भी आत्मीय शुद्ध भावों से सदा ही ये विषय जुदे रहते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मीय शुद्ध भावों का स्वरूप प्रकाशमान रहता है वहाँ इन विषयों की गति नहीं हो पाती। इसीलिये शायद इन्हें तीर्थंकरादि श्रेष्ठ पुरुषों ने कठोर हृदय दुःख-दायक समझकर भोगने से छोड दिया। ऐसे निःस्नेह निःसार क्षणभंगुर इन विषयों मे जो जीव फसते हैं वे वृथा ही मरण पाते हैं। पर व्यसनी जनों को व्यसन के सामने अपने हिताहित का भान प्राय कहाँ रहता है ? नहीं। इसीलिये तो यह कहावत है कि व्यसनी जनों को अपने हिताहित का विवेक प्राय नहीं रहता। अरे, जीव, तू ऐसे निरर्थक, उलटे दुःखदायक विषयों में भौंरे की तरह फसकर प्राण क्यों गमाता है ? ये विषय भोगते समय तो ठीक कमल की तरह कोमल लगते हैं। पर कमल जिस प्रकार फंसे हुए भौरे को आखिर मारकर छोडता है उसी प्रकार ये विषय अपने में फसे हुए जीवों को अनेक वार प्राणान्त के दुःख देने वाले हैं। इसीलिये हंससदृश श्रेष्ठ पुरुषों ने इन्हे दूर से ही छोड रक्खा है।

अथवा[1] ये विषयभोग उस पत्थर के समान हैं कि जिस पर पानी के संसर्ग से काई लग जाती है। छूते तो वह काई अति कोमल जान पड़ती है पर, पैर रखते ज्यों ही मनुष्य गिरता है कि सारे अंजर पंजर टूट जाते हैं। व्यसन भी प्रथम स्पर्श के समय तो आपात रमणीय जान पड़ते हैं पर, ज्यों ही प्राणी उनमें फसा कि आधि व्याधि निर्धनता आदि अनेक दुःखमय कीचड़ में गिर पड़ता है कि जहां से निकलना तथा संभलना कठिन। देखते ही ऐसे दुःख तो भोगने पड़ते हैं किन्तु पापसंचित करके जब परभव में पहुँचता है तो और भी अधिक दु.खों की खानि में पड़ना पड़ता है। इसलिये विषयों से प्रीति करना अच्छा नहीं है।

विवेक तथा सावधानी की दुर्लभता:—

**प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने ।**
**तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥९४॥**

**अर्थः**—प्रथम तो विचार होना ही कठिन है, पर परलोक के सुधार की तरफ विचार जाना और भी कठिन है। भाग्यवश यदि उस तरफ लग भी गया हो तो भी करने में मनुष्य आलसी बने रहते हैं। विचार तो ढेरों करें पर तो भी जिन्हें अपने कर्तव्य की कुछ परवार ही नहीं है ऐसे जीवों को देखकर संतपुरुषों को बड़ा खेद होता है। क्योंकि, वे समर्थ होकर भी हाथ से मौका जाने देते हैं।

**भावार्थः**—संसार में एकेन्द्रियादि पशु नारकादि ऐसे पर्याय बहुत हैं कि जिनमे पडे हुए जीवों को सच्चा कल्याण मार्ग सूझता ही नहीं है। कहीं कही कुछ सूझता भी है तो बाकी साधन नहीं मिलते जिससे कि वे कुछ कर सकें। एकमात्र मनुष्य पर्याय ही ऐसा है कि जिसमें विवेक, कुल, सगति, संत-उपदेश आदि कल्याण साधने की पूरी सामग्री मिल सकती है। पर उसमें भी सबों को वह सारा जोग मिलता नहीं है। और जहाँ तक ऐसा है वहाँ तक यदि कुछ हाथ से हो नहीं पाता तो भी देखकर गम नहीं होता। किन्तु जो सर्व प्रकार इस मनुष्य-पर्याय मे सभव साधन पा लेते हैं और अनुभव तथा विवेक भी जिन्हें परलोक का हो जाता है वे जब कि

---

१ 'सेवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत् केवलदुःखहेतुः' इसका भाव है।

सारा जन्म 'आज का कल' करते ही निकाल देते हैं तो उन पर साधु संतों को बड़ा पश्चात्ताप होता है। क्योंकि, जो समर्थ और धर्म धारण के अधिकारी हो चुके हैं वे यदि धर्म धारण नहीं करते तो कौन करेगा? इसलिये जिन्हें परलोक के सुधार का विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ है उन्हें चाहिये कि वे धर्म धारण तथा सेवन करने में विलम्ब न करें। किसी का यह कहना ठीक है कि—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल मे परलय होयगा, फेरि करेगा कब्ब?

जीने का कुछ भरोसा नहीं है कि कब यहाँ से चल बसेगा?

धर्म का आराधन छोड़ परसेवा करनेवाले को उपदेश।—

लोकाधिपाः[1] क्षितिभुजो भुवि येन जाता,—
स्तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या,—
स्तेषां बुधाश्च बत किंकरतां प्रयान्ति॥ ६५॥

अर्थ;—यह बात जग-जाहिर हो रही है कि संपत्ति धर्म करने से मिलती है। सर्व जग में श्रेष्ठ जग के स्वामी ऐसे राजा महाराजाओं का पद मिलना, अतुल पराक्रम होना यह सब जिसके सामर्थ्य से प्राप्त होता है वह एकमात्र सच्चा पुण्य है जो कि केवल धर्म सेवन से सचित होता है। इसलिये जिन्हें राजाओं के से धन ऐश्वर्य की चाह है उन्हें चाहिये कि उसी धर्म का सेवन करें। पर, मूर्ख लोग ऐसा न करके क्या करते हैं? राजा महाराजाओं की सेवा करते हैं। और केवल मूर्ख ही नहीं किन्तु बड़े बड़े पराक्रमी, बड़े बड़े विद्वान् तक उन्हीं की सेवा करते हैं। अरे भाई, तुम यह तो विचार करो कि वे भी जो राजा महाराजा बने हैं वह धर्म के ही सेवन से बने हैं। और धर्म का बल घट जाता है तो वे भी राजा से रंक होते दीखते हैं। तो फिर तुम भी उसी धर्मकी सेवा क्यों नहीं करते हो? यदि तुमने धर्म सेवन करके पुण्य कमाया होगा तो जगवासी जनों की सेवा न करते भी तुम्हें सुख-संपत्ति मिलती रहेगी। और यदि पुण्य का संचय तुमने नहीं किया या तुम्हारे पास पुण्य शेष नहीं

१ 'लोकाधिकाः' ऐसा पाठ भी सस्कृत टीकाकार ने लिखा है।

रहा तो हजार राजाओं की सेवा करने से भी तुम्हें कुछ हाथ न लगेगा, दुःखी के दुःखी ही रहोगे। इसलिये जब कि तुम्हें राजाओं की सेवा करके भी पूरा और सीधा सुख नहीं मिल सकता तो वृथा जग मे नीचे बनकर अपमान क्यो सहते हो ? धर्म की सेवा करो कि जिससे तुम अवश्य सुखी हो, लक्ष्मीवान् बनो, जग के अपमान से बचो और लोग तुम्हारी उलटी सेवा करने लगे।

**यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः,**
**प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधना मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रियै।**
**भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निरासस्ततो,**
**व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्थसाक्षात्कृतः ॥६६॥**

**अर्थः**—दूसरों को जिसका उपदेश किया जाता है उसका नाम प्रदेश हो सकता है। उपदेश धर्म का होता है इसलिये प्रदेश नाम धर्म का हुआ। धर्म वही उत्तम है कि जिसके धारण करने से मनुष्य इक्ष्वाकु आदि सर्वश्रेष्ठ कुलों मे जन्म लेकर राजा-महाराजा बन सकते है और आजतक बने। वे भी ऐसे वैसे नहीं, किन्तु जो ज्ञान का पार पाने वाले हों, अपरिमित धन-सम्पत्ति तथा हर तरह की उन्नति प्राप्त करने वाले हों, एव जिन्हें लोग लक्ष्मी की लालसा से मस्तक पर धारण करते हों।

उस धर्म का मार्ग अनेक प्रकार से है। अर्थात् दान देना, व्रत करना, ज्ञानाभ्यास करना, उपवासादि इन्द्रिय संयम धारण करना ये सब धर्म के ही मार्ग हैं। परन्तु जब ससार के विषयों की वाछा रख कर ये सब काम किये जाँय तबतक धर्म नहीं होता। इसीलिये इसे निराश कहा है। अर्थात्, ऐहिक आशा छूट जाने पर यह धर्म बन सकता है। इसीलिये भुजंग अर्थात् जो विषय भोगी जीव है उनको यह सर्वथा अगम्य है। विषय भोग और धर्म सेवन ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। जिसके एक होता है उसके दूसरा नहीं हो सकता[१]। इस धर्म को सभी श्रेष्ठ पुरुष समझते हैं। दान, दया, देव-पूजा, व्रत, इन्द्रिय-सयम इन्हें कौन नहीं जानता है कि इनसे आत्मा पवित्र होता है और ये धर्म है ? तो भी बड़े-बड़े आचार्य तक इसे

---

१ पुण्णापि जो समीहदि संसारो तेण ईहिदो होदि।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥

मूर्तिमान् पदार्थ की तरह प्रत्यक्ष दिखा नहीं सकते; क्योंकि, घट-पटादि की तरह यह कोई मूर्तिक पदार्थ नहीं है। फक्त मन से ही इसका चिंतन हो सकता है। अथवा दीर्घ संसारी विषयासक्त जीवों को हम कह कर गले उतार नहीं सकते किन्तु आर्य पुरुषों मे से तो यह सभी के प्रतीति-गोचर हो रहा है।

इस श्लोक का पहले श्लोक के साथ सम्बन्ध हो रहा है। अर्थात् यह धर्म ही ऐसी अपूर्व वस्तु है कि जिसके धारण करने से श्रेष्ठ से श्रेष्ठ राजपद और बड़े-बड़े कुलों मे जन्म, सर्वोत्कृष्ट ज्ञान का लाभ, इतर जनों द्वारा सत्कार का लाभ ये सब बातें मिल सकती हैं। और जब कि धर्म से ही ये सब मनोरथ पूर्ण हो सकते हैं तो उस धर्म का ही साक्षात् सेवन क्यों न किया जाय? क्यों फिर संसारी जनों की सेवा मे दिन विताये जॉय?

साधुओं को विना निमित्त वन्धुता :—

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि वहुदुःखेपि निवसन्,<br>
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम्।<br>
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते,<br>
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥९७॥

अर्थः—अनेक दुःखों के कारण तथा मल मूत्रादि की अपवित्रता से भरे हुए इस शरीर से जीव विरक्त नहीं होता यह बात तो अलग ही रही, पर ऐसे के साथ अधिक प्रीति न करता हो यह भी तो उससे नहीं बनता है। उलटा उस शरीर के साथ अधिकाधिक प्रीति करता है। खैर, यह प्राणी तो भूल ही रहा है पर, इसे कोई यह सुझाता भी तो नहीं है कि तू ऐसा मत कर। इस प्राणी के जितने वन्धुजन तथा मित्र हैं वे सब कर्कश तथा अप्रिय लगने के डर से ऐसा एक शब्द भी कभी नहीं बोलते कि जिससे उस प्राणी की शरीर सम्बन्धी प्रीति कम हो। परिपाक के समय चाहे वह कितना ही दुःखी होने वाला क्यों न हो पर, उसके मित्र बाँधव सदा वही बात सुनाते और रटाते हैं कि जिससे उसे तत्काल अनिष्ट न भासता हो। इसीलिये वे सच्चे मित्र बांधव नहीं है, क्योंकि, वे अहित से उसे रोकते नहीं हैं। तो फिर सच्चा मित्र या बांधव कौन है? जो उस अहित प्रवृत्ति से उसे बचाता हो। ऐसा कौन है? ऐसे

साधु सन्तपुरुष होते हैं कि जो जीवों की शरीरादि के साथ उत्कट प्रीति देख कर भी यह विचार नहीं करते कि इन जीवों को हमारा उपदेश कठोर लगेगा किन्तु, फलसमय में हितावह समझ कर अपने सार उपदेश को सुनाते ही हे और परिपाक समय में दुखदाई ऐसे शरीर-प्रेम को छुड़ाने का यत्न करते ही रहते है। अहो संसार के जीवो, ऐसे महापुरुषों के निष्कारण परहित की तरफ देखो। ये महापुरुष ही सच्चे मित्र या हितू है। क्या जीवों को हितोपदेश सुनाने के वदले उन जीवों से उनें कुछ मिलेगा ? नहीं। उनका स्वभाव ही परम दयालु होता है कि जिससे वे सदा सर्वो का निष्कारण हित साधन करने मे प्रवर्तते है।

**भावार्थः**—अरे भाइयो, जब कि वे महापुरुष निर्निमित्त तुम्हें शरीरादि के साथ प्रीति करने से रोकते हैं तो समझना चाहिये कि सचमुच वह प्रीति दु खदायक होगी। और इतना तो अपने अनुभवगोचर भी हो सकता है कि जो शरीर से प्रेम करते हैं वे शरीर के ही रक्षण-पोषण मे लगे रहकर अपना जीवन नष्ट कर देते है। वे थोड़े से शरीर के कष्ट को वड़ा समझ कर कायर और कष्टी होते है। वे जीव शरीर की हितचिंतना मे सदा मग्न रहने से आत्मकल्याण की तरफ से सदा ही विमुख रहते हैं। शरीर की रक्षा के लिये अन्याय भी करने से कभी कभी चूकते नहीं हैं। इन्द्रियों से प्रेरित हुए अनेक सकटों का सामना करते हैं। पर यह शरीर तथा इन्द्रियाँ क्या सदा वनी ही रहेंगी ? नहीं। कभी न कभी अवश्य इन्हें छोड़ परलोक जाना ही पड़ेगा। इसीलिये विनश्वर इस शरीरादि के फदे में फसकर जीव अपने अविनाशी आत्म-कल्याण को हाथ से जाने न दें, यह विचार कर संतपुरुष कर्कश या अप्रियपने की तरफ लक्ष्य न देकर जीवों को इस शरीर प्रेम से हटाने का सदा उपदेश देते हैं। किसी ने साधुओं की यह स्तुति जो की है वह ठीक ही की है कि 'परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्' सतों की सर्व चेष्टा परोपकार के लिये ही केवल होती है, उसमे स्वार्थ का लेशमात्र भी नहीं रहता।

सारांश.—

**इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन,**
**भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।**

एतावदेव कथितं तव संकलय्य,
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥ ९८ ॥

**अर्थः**—अहो, हम तुझे वार वार यह क्या कहें कि तेने ऐसे ऐसे दुःख भोगे हैं और इस इस तरह से भोगे हैं ? क्योंकि तेने ही तो जन्म धारण करके आज तक वे दुःख तथा शरीर भोगे और छोड़ छोड़ दिये हैं। इसलिये संक्षेप मे तुझ से इतना ही कहना वस है कि जीवों का यह शरीर ही सर्व आपदाओं का ठिकाना है। भावार्थ, इसका सम्वन्ध जव तक है तव तक आगे भी दुःख भोगने मे आवेंगे। इसलिये इसका सम्वन्ध और स्नेह छोड़ना ही तेरे लिये हितसाधक हो सकेगा।

गर्भ के दुःखः—

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन्,
कर्मायत्तं सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्या[1] ।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो,
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ॥ ९९ ॥

**अर्थः**—उदर एक मलमूत्र का कुण्ड है। उस कुण्ड मे आयु-कर्म के आधीन हुए तेने वहुत से समय तक वास किया है। उस समय तुझे भूख प्यास के दुःख भी अत्यन्त सहने पड़े हैं। वहाँ रहते हुए भी तेरी तृष्णा कम नहीं हुई। शरीर वढ़ाने पोसने की लालसा वढ़ती ही रही। माता ने जो खाया पिया उसकी सदा तू यह इच्छा करता रहा कि मेरे फाडे हुए मुख मे यह अन्न-जल आकर पड़े। गर्भाशय का स्थान छोटासा रहने से कभी तुझे वहा हलने चलने को भी नहीं आया। पेट मे अनेक प्रकार के जतु उत्पन्न होते हैं और रहते है वहीं पर तू रहा। जन्मते समय तुझे और भी अकथनीय क्लेश सहने पड़े हैं। इस सव दुःख से तू डर चुका है। मरण होगा तो उसके आगे फिर जन्म भी धारण करना ही पड़ेगा। अरे प्राणी, यह समझकर ही मालूम पड़ता है कि तू मरने से डर रहा है। यह उत्प्रेक्षा अलंकार कहाता है। कवि ने इसमे मरण से डरने का कारण कल्पना द्वारा सिद्ध किया है।

---

१ 'वृद्धिगृद्धया' ऐसा भी पाठ हो सकता है पर, देखने में नहीं आया।

अज्ञान से अपना नाश आप ही किया । देखोः—

**अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा ।**
**यदत्र किंचित् सुखरूपमाप्यते तदार्य विद्ध्यन्धकवर्तकीयकम् ॥१००**

अर्थः—अब कदाचित् तू उपदेश पाकर सुधर जायगा । पर अभी तक तो तुझे कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रहा । तेने आज तक आपने ही हाथ से अपने ही नाश के कारण इकट्ठे किये । जैसे कोई बकरा कटने के लिये आप ही जमीन मे गढ़ी हुई छुरी को पैरों से खोद खाद करके काटने वाले के सामने करदे । अथवा ऊपर से पड़ती हुई तलवार के नीचे आप ही अपना शिर झुकादे, जिससे कि बेमौत ही उसका मरण हो जाय । ठीक ही है, जब तक हिताहित का ज्ञान ही नहीं है तब तक अपने हाथ से अपना अहित कर लेना भी क्या बड़ी बात है ?

यहा शंका है कि जीवों के सभी काम जब कि दुःखदायक नहीं हैं तो सभी को अजाकृपाणीय या आप ही अपना घातक कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि, जो जीव जब तक आत्मकल्याण की खोज मे नहीं लगा है तब तक उसकी सारी क्रियायें चाहे सुखसाधक दीखती हो या दुःखसाधक, पर बाहिरी मोह से भरी हुई होने के कारण उन्हें पाप तथा दुःख के ही कारण कहना चाहिये । और कदाचित् पचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोपभोग की सिद्धि होते देखकर उन क्रियाओं को सुखसाधक भी मान लिया जाय तो यह विचारना चाहिये कि ऐसी क्रियाएँ कितनी है ? सुख कितनी जगह होते हुए दीख पड़ता है ? इस प्रकार विचार करेंगे तो जान पड़ेगा कि सुख का मिलना बहुत ही कठिन है । दुःख कष्ट आपत्ति विपत्ति पर्वत के बराबर तो सुख-शाति सरसों के बराबर । इसलिये ऐसा कहा कि जो कुछ इस दुःखमय संसार में थोड़ा सा सुख दीख पड़ता हो उसे ऐसा समझो जैसे अंधे के हाथ बटेर । अंधा हाथ पसारे और बटेर उसके हाथ मे पड़ जाय, यह जैसा असम्भव नहीं पर, अति कठिन है वैसे ही संसार जहाँ कि दुःख ही दुःख नजर आते है उसमे कभी कहीं सुख का लेश मिल जाना

---

१ इसी को 'अजाकृपाणीय' न्याय संस्कृत भाषा में कहते हैं ।

२ इसी को संस्कृत भाषा मे 'अन्धकवर्तकीय' कहते हैं ।

असम्भव नहीं तो भी अति कठिन तो है ही।

जो काम सहज रीति से सब जगह होते रहते हैं उन्हें 'अजाकृपाणीय' कहते हैं। यह शब्द उपमाद्योतक है। 'अंधकवर्तकीय' शब्द भी उपमार्थ का द्योतक है। अतिकष्ट-साध्य कामों के लिये यह शब्द बोला जाता है। भावार्थ, दुःख के साधन तो सदा सभी कामों में मिलते रहते हैं पर सुख के साधनों का मिलना अति दुर्लभ है। किन्तु चाह तुझे सुख की ही हो रही है। इसलिये सुख के साधन तुझे तभी मिल सकेंगे जब कि तू बहुत ही सोच समझ कर चलेगा और आत्मा का कल्याण विषयों से विमुख होकर साधना चाहेगा।

काम-सुख चाहने वाले की दशा:—

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड[1] एव,
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोपि।
पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते,
दग्धुं तपोग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते ॥१०१

अर्थः—कोई मनुष्य किसी को यदि धनुष लेकर प्रत्यक्ष मारना चाहे तथा शस्त्रादि अप्रिय वस्तु से मारना चाहे तो उससे मनुष्य सावधान हो सकता है, अपनी रक्षा के लिये कभी-कभी उलटा मारने भी लगता है और धोखा नहीं खाता। यदि पूरा मूर्ख ही कोई मनुष्य हो तो कदाचित् उससे मार खा रहेगा। परन्तु कितने कष्ट की बात है कि प्रचण्ड काम, धनुष के बिना ही प्राणियों को विदीर्ण करता है, शस्त्रादि अनिष्ट साधन नहीं लेता किन्तु अतिप्रिय वस्तु जो कान्ता, उसीसे लेकर विखण्डित करता रहता है और इसीलिये किसी भोले मनुष्य को ही नहीं किन्तु, उन मनुष्यों को भी कि जो अपने को ज्ञानी मानते हैं। और फिर भी देखो यह आश्चर्य है कि, उस काम की वेदनाओं को लोग धीरता के साथ सह लेते

---

१ 'काण्ड' यह नाम धनुष तथा समय का है। इसलिये सप्तमी विभक्ति मानने से 'असमय में' ऐसा इसका अर्थ होगा। और यदि प्रथमा विभक्ति मानकर बहुव्रीहि समास मानें तो काम का विशेषण हो सकेगा और तब अर्थ होगा कि 'धनुषरहित'।

हैं, पर तपश्चरण रूप अग्नि को प्रदीप्त कर काम को भस्म कर देने का साहस कभी नहीं करते ।

ठीक ही है, उसके धोखे मे चाहे जो आ जाता है कि जो प्रत्यक्ष विरोध प्रकाशित न करके किसी को मारने का प्रयत्न करता हो, एवं विना शस्त्र लिये ही किसी गुप्त चीज से मारना चाहता हो। काम भी ठीक ऐसा ही ठग है। वह मारने के लिये कोई शस्त्र धारण नहीं करता, किसी से विरोध जाहिर नहीं करता। जीवों को जो इष्ट जान पड़ते हैं ऐसे वनिता आदि साधनों के द्वारा जीवों को सताता है, और जीव तो भी उसे मित्रतुल्य ही मानते हैं। इसी-लिये उसके नाश का प्रयत्न न करके उलटा उसे सवल बनाने की फिक्र मे रहते हैं। तभी तो काम के उत्पादक शरीर को जहाँ कि तपश्चरण-द्वारा सुखा देना चाहिये वहाँ उसको हर तरह पुष्ट बनाने की प्राणी चेष्टा करते हैं ; यह कितना विपर्यय है ?

यदि वह काम नष्ट करना हो तो क्या करे ?—

**अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान् ,**
**पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान् ।**
**प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रही,–**
**देते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥१०२**

अर्थः—भोगों की प्रवृत्ति तथा इच्छा को काम कहते हैं। इस काम का मुख्य साधन लक्ष्मी है। इस लक्ष्मी के छोड़ देने से काम नहीं रह सकता। इसलिये लक्ष्मी का त्यागना यही काम के नाश का यथार्थ उपाय है। इस लक्ष्मी के त्यागने के अनेक ढंग हैं। (१) कोई जीव जव विषयों को तिनके की भाँति असार समझ जाता है तो वह उस लक्ष्मी को याचक जनों के लिये दे डालता है; और पहले इसी तरह वहुतों ने दिया है। (२) कोई जीव उस लक्ष्मी को ऐसा समझता है कि यह पाप के वढ़ाने वाली है और सन्तोष का नाश करने वाली है। यह समझ कर भी किसी को दी तो नहीं, पर पुत्रादिकों के आधीन घर में छोड़कर वह त्यागी वन गया। या (३) उसके लेने से लेने वाला भी पापी वन जायगा यह समझकर किसी को दी तो नहीं किन्तु यों ही उसे छोड़कर तपस्वी वन गया। (४) और कोई विवेकी ऐसा होता है कि जो उसे अहित-कारिणी

मानकर छूता ही नहीं किन्तु उस लक्ष्मी का सम्बन्ध होने से पहले ही घर छोड़कर वीतरागी तपस्वी बन गया हो। ये सभी त्यागी उत्तम हैं; पर उत्तरोत्तर अधिक अधिक श्रेष्ठ है। सबसे उत्कृष्ट वे ही त्यागी हैं कि जिन्होंने लक्ष्मी का ग्रहण ही नहीं किया किन्तु अनर्थ की जड़ समझ कर उसे पहले से ही छोड़कर वनवासी बन गये हों क्यों ?—

विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम्।
मावमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥१०३

अर्थः—जब तक विषयों में राग भाव बना हुआ है तब तक तो हाथ से लक्ष्मी छूटती नहीं है किन्तु अकस्मात् जाने पर भी उन्हें उसके वियोग का दुःसह दुःख होता है। पर जो सन्त पुरुष संपदा को निस्सार जान उससे विरक्त हो चुके हैं वे उसे सहज में ही छोड़ देते हैं उनके छोड़ देने का कुछ अचिरज नहीं करना चाहिये। जब उसकी निस्सारता प्रगट हो चुकी तो उससे विमुख होना क्या बड़ी बात है ? यदि किसी भोजन से किसी को ग्लानि हो चुकी हो तो फिर वह भोजन चाहे कितना ही अच्छी तरह क्यों न खाया गया हो पर तो भी क्या उसका वमन नहीं हो जायगा ? अवश्य हो जायगा।

[1]इसीलिये (१) जो विषयों को पूर्ण निस्सार समझ चुके हैं, (२) जो लक्ष्मी को पाप तथा असन्तोष का कारण मान चुके हैं और (३) जो इसीलिये दूसरों को दे देना भी उचित नहीं समझते ऐसे तीनों प्रकार के मनुष्य ग्रहण की हुई लक्ष्मी को सहज में ही छोड़ देंगे। उन्हें वह बिना छोड़े चैन भी नहीं पड़ेगा। क्योंकि, वे उस लक्ष्मी का सारा अन्तरंग स्वभाव प्रत्यक्ष अनुभव कर चुके हैं। उन्हें पूरा विश्वास हो गया है कि लक्ष्मी असली सुख का कारण नहीं है; उलटी सदा दुःखदायक ही है। इसीलिये उन महात्माओं से वह लक्ष्मी अपने आप छूट जाती है। उन्हें उसके छोड़ने में प्रयत्न करना नहीं पड़ता। परन्तु (४) जिन्होंने अभी उस लक्ष्मी को छुआ तक ही नहीं है—जो अभी बाल्य अवस्था छोड़कर स्त्री-पुत्रादि के उपभोक्ता और अत एव लक्ष्मी संग्रह करने के लिये प्रवृत्त ही नहीं हुए हैं वे यदि पहले से ही उसे छोड़ दें तो अधिक आश्चर्य

१ पहले श्लोक का खुलासा।

है। क्योंकि, उन्हें उसका प्रत्यक्ष परिचय नहीं हुआ इसलिये वे उसके सुख-दुःख से पूरे परिचित नहीं हो पाये हैं; तो भी उसे छोड़ने के लिये उत्कंठित हो गये हैं। तब, इस त्याग में परम वैराग्य हो जाने के सिवा दूसरा कोई कारण नहीं है। जब परम वैराग्य उपज जाता है तब विषयों के छोड़ने में उनके अनुभव करने की आवश्यकता नहीं रहती। क्षणिक तथा जड़ पदार्थों से उस समय अपने आप विरक्तता उत्पन्न होती है और वह विरक्तता आत्मा को उन विषयों से द्वेष न कराकर सहज निराला कर लेती है। किन्तु जो भोग भोगकर उन भोगों के दुःखों से परिचित होकर उन्हें छोड़ने की इच्छा करते हैं उनमें से सम्भव है कि एक दो, उन दुःखों का विसर पड़ने पर फिर भी कदाचित् उनमे मोहित हो जांय। इसीलिये जो न भोगकर विरक्त हुए हों वे छोड़ते समय पूर्वोक्त तीनों के वैराग्य से उत्कृष्ट वीतराग हैं। या यों कहिये कि, वे ही परम विरागी हैं। उनका वैराग्य आत्मा मे ओतप्रोत भर चुका है। इसीलिये उनके निःस्वार्थ लक्ष्मी-त्याग की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी ही है।

लक्ष्मी के छूटते समय की दशाः—

**श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम्।**
**करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥१०४॥**

**अर्थः**—जो मनुष्य आलसी है उसे लक्ष्मी के कमाने मे बड़ा भारी कष्ट दीख पड़ता है। इसीलिये यदि उसके हाथ से लक्ष्मी छूटने लगे या छुट गई हो तो उसे अत्यन्त शोक होता है। जो सात्त्विक अर्थात् पराक्रमी है वह लक्ष्मी का कमाना सहज समझता है और इसीलिये उसे लक्ष्मी के जाते दुःख नहीं होता, किन्तु इस बात का उलटा गर्व होता है कि मैं जैसी जल्दी लक्ष्मी को त्याग सकता हूँ वैसा दूसरा नहीं। क्योंकि, जो मेरे बराबर लक्ष्मी कमा नहीं सकता वह खर्च या त्याग भी कैसे कर सकता है? इस प्रकार पराक्रमी मनुष्य को लक्ष्मी के त्याग करते अहंकार हो जाता है। पर जो मनुष्य तत्त्वज्ञानी है—जिसे यह मालूम हो चुका है कि लक्ष्मी के आने जाने मे पुण्य पाप का उदय कारण है। मेरे उद्योग करने न करने से न आती है न जाती है। मुझ से कम उद्योग करने वाले भी अधिक धनी हैं और अधिक उद्योग करने वाले भी

बहुत से दुःखी हैं। जब कि ऐसा है तो मैं इसके हानि लाभ का मुख्य कारण नहीं हो सकता हूँ। ऐसा विवेक-ज्ञान जिन्हें हो चुका है उन्हें लक्ष्मी के जाते या त्यागते हुए न शोक ही होता है और न अहंकार या हर्ष ही होता है। यही आश्चर्य है; क्योंकि, संसारी मनुष्यों को लक्ष्मी जाते हुए शोक, नहीं तो अहंकार अवश्य होता है। इसलिये जिसे शोक या अहंकार कुछ भी नहीं होता उसे देखकर आश्चर्य होना सहज बात है। पर तत्त्वज्ञानियों को इस बात मे आश्चर्य भी नहीं है।

विवेकी मनुष्य को लक्ष्मी जाते तो दु.ख सुख नहीं ही होता किन्तु अत्यन्त सलग्न शरीर के छोड़ते भी उसे कुछ सुख दु·ख नहीं होता। देखो:—

**विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं**
**मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम्।**
**बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः,**
**स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥१०५**

**अर्थः**—खूब विचार करो तो मालूम पड़ेगा कि गर्भ से लेकर आखिर तक यह शरीर क्लेशों से भरा हुआ है, अति अपवित्र है, सदा भयदायक है, कुटिलता का पुंज है, तिरस्कार कराने का मुख्य हेतु है, पापों की सदा उत्पत्ति करता रहता है। इसीलिये विवेकी मनुष्य इसे छोड़ना पसन्द करते हैं। और फिर भी जिसके छोड़ने से यदि मुक्ति प्राप्त होने वाली हो, या सब तरह के क्लेश दुःख दूर हो सकते हों तो उसे कौन ऐसा मूर्ख होगा जो छोड़ना न चाहता हो? ठीक इस शरीर का सम्बन्ध एक दुष्ट जन के सम्बन्ध के तुल्य है। दुष्ट जनों के सम्बन्ध से क्लेश होता है, अपवित्रता रहती है, अनेक प्रकार के भय होते रहते हैं, तिरस्कार सहने पड़ते हैं। वैसे ही इस शरीर के सम्बन्ध से भी ये सब बातें पैदा होती हैं। दुष्ट जन निष्कारण दु.खदायक होते हैं, शरीर भी निष्कारण ही दुःख देता है। इसलिये जब कि दुष्ट जन के समागम से सभी दूर रहना चाहते हैं तो शरीर से भी दूर होने का प्रयत्न करना चाहिये। इसका जब तक सम्बन्ध है तब तक दु खों से छुटकारा मिलना या परम कल्याण प्राप्त होना भी असम्भव है। इसलिये इसका छोड़ना सभी विवेकी जनों को पसन्द होना चाहिये।

परन्तु सीधा शरीर को छोड़ने से शरीर थोड़ा ही छूटता है ? एक शरीर छूटेगा तो दूसरा नवीन शरीर धारण करना होगा। रागद्वेष तथा मिथ्या ज्ञान जब तक निर्मूल नहीं हुए हों तब तक शरीर का सम्बन्ध इसी प्रकार लगा रहेगा। पूर्वबद्ध कर्म के उदय समय मे नवीन रागद्वेष उत्पन्न होते हैं जिससे कि नूतन कर्मबंध हो जाता है। इस कर्म का भी उदय प्राप्त करके फिर नये कर्म को बांधता है। इस प्रकार कर्म तथा रागद्वेष की लड़ी बराबर लगी रहती है और वही लड़ी शरीरों को उत्पन्न किया करती है। इसलिये शरीर नाश करने से पहले इस लड़ी का धीरे धीरे ह्रास करना चाहिए। तब सम्भव है कि शरीर का नाश किसी समय पूरा हो जाय। यही बात ग्रन्थकार आगे दिखाते हैं :—

**कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं,**
**त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।**
**प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवर्तिभि,--**
**ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्॥१०६**

**अर्थः**—अहो भव्य, तू आज तक जन्म-मरण के अनेक दुःख सहता आया है। यह किसका फल है ? विपरीत ज्ञान तथा रागद्वेष के द्वारा उत्पन्न हुई अनेक कुचेष्टाओं का यह फल है। ऐसे दुःख कुछ एक दो वार ही नहीं भोगने पडे हैं। तो ? बार बार। और तू ही उनका भोक्ता है दूसरा कोई नहीं है। जब कि बार बार उन्हीं रागद्वेषादि की चेष्टाओं के होने से वे दुःख सदा आज तक मिलते आये हैं तो इस कार्य कारण सम्बन्ध का तू विचार कर। जिस क्रिया के होने से जिस फल की प्राप्ति बार बार देखने मे आ चुकी हो उस क्रिया को उस फल का कारण मान लेना बहुत ही सीधी सी बात है। चाहे एक दो बार धुए को गीला ईंधन तथा अग्नि से उपजते हुए देखकर भी कार्य कारण का ज्ञान न हो पाता हो पर, बार बार वैसा देखने से अवश्य उनके कार्यकारण सम्बन्ध का निश्चय हो जायगा। इसी प्रकार जब कि अनेक बार प्राणी यह बात देख चुका हो कि रागद्वेष तथा मिथ्याज्ञान द्वारा होने वाली बाहिरी प्रवृत्ति से मैं शरीर धारण करता हूँ, विषयों मे फसता हूँ और दुःखी होता हूँ, तो उसे क्यों न इस बात का विश्वास होगा कि ये ही रागद्वेषादि मेरे दुःख के कारण है। जब कि यह निश्चय

हो चुका हो कि ये रागद्वेषादि मेरे दुःख के कारण हैं तो यह भी समझ लेना सुगम है कि इनसे उलटा चलने पर वह दुःख नष्ट हो जायगा। इसीलिये आचार्य कहते हैं कि भव्य, तेने रागद्वेषादि के द्वारा ससार के जन्म-मरण सम्बन्धी दुःख तो निरन्तर अनुभव किये; अब इससे उलटी प्रवृत्ति से चलकर भी देख, और एक वार ही देख, कि क्या होता है? इस रागद्वेषादि से उलटी प्रवृत्ति धारण करने पर निश्चय से तुझे उसका उलटा ही फल मिलेगा। अर्थात्, जब कि रागद्वेषादि से जन्म मरण के दुःख प्राप्त हुए हैं तो उससे उलटी प्रवृत्ति का फल यह होगा कि जन्म मरणादि दुःखों का नाश हो जाय। रागद्वेष से उलटी प्रवृत्ति अर्थात समीचीन चारित्र; एवं मिथ्याज्ञान का उलटा श्रेष्ठ ज्ञान हो सकता है इसी उलटी प्रवृत्ति को तथा उसके फल को आगे दिखाते हैं:—

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः,<br>
पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।<br>
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं,<br>
विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७

**अर्थः**—अरे भव्य भाई, दया दम त्याग और समाधि, इनकी जहा सदा प्रवृत्ति रहती है उस मार्ग में तू सरलता के साथ चलने का प्रयत्न कर। यह मार्ग इतना अच्छा है कि इसमे चलने से एक दिन उस अपूर्व स्थान मे जीव पहुँच सकता है कि जिसकी प्रशंसा वचनों से नहीं हो सकती और जिसे हम मन से भी विचार नहीं सकते हैं। वह सुख स्थान इतना परोक्ष है कि आज तक संसारी जीव को एक वार देखने तक को नहीं मिला। इसीलिये उसका हमें नाम तक मालूम नहीं है। पर वह स्थान है अवश्य, और इस पूर्वोक्त प्रकार से चलने वाले को ही मिल सकता है।

**भावार्थः**—अपने को या दूसरों को दुःखी समझकर उन पर करुणा धारण करना, ये जीव कब सुखी होंगे, ऐसी भावना करना, इसे दया कहते हैं। इन्द्रिय, मन वश करने को दम कहते हैं। विषय तथा परिग्रह मे से आसक्ति छोड़ना, एव धन धरती आदि चौदह बाह्य परिग्रह, क्रोधादि दश अन्तर के परिग्रह, इन सवों को छोड़ना वह त्याग है। सर्व विषयो को दुःखदायक समझकर आत्मचिंतन

में लीन होना और उससे अपने को सुखी मानना वह समाधि कहाती है। इन चारों साधनों के संग्रह करने का यत्न करने से जीव इन्हें पा सकता है; और इसका पा लेना ही सुख का सच्चा मार्ग है। इस मार्ग को पकड़े रहने से अवश्य पमात्म-पद की प्राप्ति होगी। वह परम पद इतना उत्कृष्ट है कि आज तक यदि इंद्रादिकों के सुख भी भोगे हों तो वे भी उसके सामने धूल हैं। इस लिये उसका वर्णन संसारवर्ती जीव नहीं कर सकता और न उसका मनद्वारा चितन ही कर सकता है। जिसका आज तक जिसने अनुभव ही नहीं किया वह उसका यदि विचार करै तो क्या करै? संसार का कोई सुख उसकी तुलना भी तो नहीं रखता जिससे कि अंदाजन वह समझा जा सकै। इसीलिये किमपि अर्थात्, कोई एक परम पद है ऐसा कह कर ग्रन्थकर्ता भी थक गये। परन्तु दया दम त्याग और समाधि के धारण करने से जब कि अंशत सच्चा स्वाधीन अभेद्य सुख प्राप्त होता हुआ अनुभवगोचर होता है जो कि विषयासक्ति में आज तक कभी प्राप्त नहीं हुआ तो अनुमान से यह बात समझ मे आजाती है कि इसी मार्ग से परम और पूर्ण उस सुखकी प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। दया, दम, त्याग, समाधि ये सब चारित्र के भेद हैं जो कि मोक्ष-प्राप्ति का अन्तिम साधन है। चारित्र का यही माहात्म्य और भी दिखाते हैं—

**विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।**
**त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥ १०८ ॥**

**अर्थः**—जीवाजीव के स्वरूप को सत्य, निरनिराला दिखाने वाला जो ज्ञान उसे विज्ञान समझना चाहिये। उसके द्वारा जब मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है तब सम्यग्दर्शन का लाभ होता है। क्योंकि, भेदज्ञान के होने पर सम्यग्दर्शन के घातक दर्शनमोह-नीयनामा कर्म का नाश होगा और फिर सम्यग्दर्शन का लाभ अवश्य ही होगा। इस प्रकार सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान ये मोक्ष के दो साधन जब कि मिल चुके तो तीसरे एकमात्र चारित्र का मिलाना बाकी रह गया। यह तीसरा साधन जब प्राप्त हो जाता है तब मोक्ष का प्राप्त होना दूर नहीं और उसमे विलम्ब नहीं समझना चाहिये। परिग्रहों का त्याग होने से चारित्र प्राप्त होता है। या यों कहिये कि, परिग्रह का त्याग होना ही चारित्र है; क्योंकि, विषयों में

रागद्वेष होने से संसार बढ़ता है इसलिये संसार के असार स्वरूप से जो विरक्त होगा उसका परिग्रहों से मन हटेगा और इसीलिये परिग्रह का छूट जाना उसके लिये एक सहज बात है। जो जिसे अच्छा बुरा समझता है उसका उसमे रागद्वेष होना सहज सिद्ध है। इसी प्रकार जो जिसे निस्सार समझता है उसका उससे मोह छूट जाना भी सहज बात है इसीलिये जो विषयों के दुःखदायक फल को समझ चुका है वह उनसे क्यों न उदास होगा? जब कि विषयों से उदास हो गया तो विषयों के ही लिये इकट्ठे किये जाने वाले परिग्रहों से क्यों न हटेगा? बस, इसीलिये परिग्रहों का छूट जाना अंतरंग के चारित्र परिणाम का प्रकाशक हो सकता है। जब कि इतनी सूक्ष्म दृष्टि से विचार न करना हो तो यों कह लीजिये कि, परिग्रहों का त्यागना ही चारित्र है। जब ये तीनों रत्न प्राप्त हो चुके तो समझना चाहिये कि मोक्ष-प्राप्ति के पूरे साधन जुड़ गये। ऐसी अवस्था मे जरामरणादि शरीर सम्बन्धी दुःखों से रहित मोक्ष-पद की प्राप्ति क्यों न होगी? क्योंकि, कुल कारणों के मिल जाने पर कार्य का सिद्ध होना अवश्य ही न्याययुक्त है। इसके लिए एक दृष्टान्त कहते हैं जिससे कि ऊपर का अर्थ खुलासा हो।

वह यह कि, जैसे दूषित शरीर को शुद्ध करने के लिये योग के ग्रंथों मे पवनसाधन का विधान दिखाया गया है। उसी पवन-साधन के अतर्गत सर्व विधि समाप्त हो जाने पर अन्त मे कुटी-प्रवेश नाम एक क्रिया की जाती है। वह क्रिया पूरी हुइ कि शरीर की शुद्धि हो जाती है। कुटीप्रवेश-क्रिया से पहले के साधन मिल जाने पर भी जब तक कुटीप्रवेश नहीं हो पाता तब तक शरीर की शुद्धी नहीं हो पाती। पूर्व क्रिया कर लेने पर यदि कुटीप्रवेश भी हो जाय तो अवश्य शरीर-शुद्धि होती है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक चारित्र का ग्रहण करने स ससार छूट कर मोक्ष प्राप्ति नियम से हो जाती है। केवल सम्यग्दर्शन-ज्ञान से वह मोक्ष नहीं मिलता और चारित्र की प्राप्ति दर्शन-ज्ञान के पहले नहीं होती, ये बातें इस उपर्युक्त दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती हैं।

मोक्ष चीज तो बड़ी ही अपूर्व है, अनुपम है, अनन्त अविनाशी अचिन्त्य सुख का धाम है, पर, उसकी ऐसी महिमा का प्रत्यक्ष कर देना संसारी जनों के सामने कठिन बात है। इसलिये संसारी जनों को 'अजरामर' विशेषण कहकर उसका अनुभव कराना ग्रंथ-कर्ता ने

उचित समझा। मनुष्यों को जरा मरण के दुःख सबसे बड़े दीखते हैं। इसलिये आचार्य यह दिखाते हैं कि ये भी दुःख उस मोक्ष में नहीं रहते तो औरों की क्या बात है? अथवा यों कहिये कि, मोक्ष तथा संसार में यदि स्थूल अंतर देखना हो तो जरामरण का ही अंतर है। संसार मे मनुष्यों को जहां कि निरन्तर और असह्य जरामरण के दुःख भोगने पड़ते हैं, वहां मोक्ष प्राप्त होने पर वे सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं-स्पर्श भी उनका फिर कभी नहीं हो पाता। बस, इतने से ही अनुभव हो सकता है कि मोक्ष कितने सुख का पिण्ड है। इसकी प्राप्ति का जब कि अंतिम साधन चारित्र या त्याग है तो उस त्याग का सर्वोत्कृष्ट प्रकार कैसा होगा यह बात विचारने योग्य हुई। इसलिये,

सर्वोत्कृष्ट त्याग का स्वरूप और वैसे त्यागियों की प्रशंसा:—

**अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्[1] ।**
**येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे[2] ॥ १०९ ॥**

**अर्थः**— जिनका विवाह होना निश्चित होगया, तो भी विवाह न करके जो बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचारी बन गये उनके लिये हमारा नमस्कार है। केवल ब्रह्मचारी ही नहीं किंतु वंशपरंपरागत लक्ष्मी तथा राज्यसंपदा को पाकर भी बिना भोगे जिन्होंने छोड़ दिया और दीक्षा धारण करली। किसी चीज को भोगने का अधिकार पाकर या भोगने के लिये सामने आजाने पर यद्यपि न भोगकर ही छोड़ दिया जाय तो भी वह चीज उच्छिष्ट या झूंठन मान ली जाती है। क्योंकि, कोई चीज चाहें भोग लेने पर बाकी रह जाय या न भोगकर ही छोड़ दी जाय, पर उसे भोगने से बाकी रही हुई तो कहना ही पडेगा। बस, बाकी रहे हुए का ही नाम उच्छिष्ट है। उत् नाम बाकी, शिष्ट नाम छूट गया। इन्हीं दोनों शब्दों के मिलाने से 'उच्छिष्ट' बन जाता है। इसीलिये जो चीज न भोगकर भी छोड़ दी गई हो वह उच्छिष्ट होगई समझना चाहिये। जिसने उसे पाकर छोड़ दिया उसके लिये वह उपभुक्त भी हो ही चुकी। इसीलिये उन ब्रह्मचारियों ने चाहे जग की विभूति को न भोगकर ही छोड़ दिया पर वह विभूति, वह जग उनका उपभुक्त हो चुका। जग

---

१. 'विश्वमाशितम्' ऐसा भी पाठ है।
२. 'कुमारब्रह्मचारिणे' ऐसा भी पाठ है।

की रीति की तरफ देखें तो जो भोग लिया हो उसे उपभुक्त कहते हैं और जो भोगते भोगते बाकी रह जाय उसे उच्छिष्ट कहते हैं। पर इन्होंने भोगा ही नहीं तो भी जगभर उपभुक्त हो गया और छूट गया इसलिये उच्छिष्ट भी हो गया यह आश्चर्य की-सी बात है। और सच्चा आश्चर्य यह है कि बिना भोगे हुए पाई हुई संपदा को तृणवत् समझकर उन्होंने त्याग कैसे किया? भोगसंपदा न मिलते हुए भी जीव जहां कि शतशः मनोराज्य बनाता रहता है और विषयों से लालसा छूट नहीं पाती, यों करूंगा तब ये सुख मिलेंगे, ऐसा उद्योग करूंगा तब ऐसी धन-दौलत मिलेगी ऐसी मानसिक भावना सदा ही इस जीव के अंतरंग मे लह लहाती रहती है, और चाहें मिले रत्ती भर भी नहीं, वहा पाकर भी अतुल संपत्ति को छोड़ जाना और आत्मा के समाधि सुख मे जाकर रत होना कितने आश्चर्य की बात है? उनके इस त्याग पर से यही कहना पड़ता है कि वे परम विरक्त हो चुके थे। इसलिये उन्होंने उस सारी सपदा को तिनके की तरह तुच्छ मानकर छोड़ दिया और असली आत्म सुख के रसिया बने। ऐसे सर्वोत्कृष्ट साधुओं को सिर झुकाए बिना नहीं रहा जाता। उनको बार बार हमारा नमस्कार हो।

विषयों को न भोगकर छोड़नेवाले की भावना और उसका फल.—

**अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।**
**योगिगम्यं[1] तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥ ११० ॥**

**अर्थः**—पर पदार्थ कभी अपना नहीं बन सकता है। पर पदार्थ इकट्ठे करने की भावना कितनी ही चाहें की जाय और किनने ही उपाय किये जांय, पर वे अपने निज स्वरूप मे आकर मिल नहीं सकते हैं। आत्मा आत्मा ही रहेगा और पर पर ही रहेंगे। यह वस्तु स्वभाव की स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्तिक और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान् हैं और जड़ हैं। इस प्रकार जीव और बाकी कुल पदार्थ अपने अपने निरनिराले स्वभावों को रखने वाले जब कि माने गये है तो उनका एक दूसरे में मिल जाना या एक दूसरे की एक दूसरे से भलाई-बुराई होना असम्भव बात है। जड़-चेतन का, मूर्तिमान्—अमूर्तिक का मेल होना ही

१ 'योगगम्य' ऐसा पाठ भी हो सकता है।

कठिन है तो एक दूसरे की वे भलाई-बुराई क्या करेंगे? दूसरी बात यह कि, आत्मा में वह आनन्द भरा हुआ है कि जो जड़ पदार्थों में असम्भव है। शरीर से चेतना निकल जाने पर वह शरीर तुच्छ और फीका भासने लगता है। इसका कारण यही है कि शरीर जड़ है, उसमें आनन्द या सुख की मात्रा क्या रह सकती है? शरीर मे रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतन का ही चिन्ह है, न कि जड़ शरीर का। क्योंकि, आनन्द या सुख, ज्ञान के बिना नहीं होता। वह ज्ञान का ही कार्य है, ज्ञान का ही रूपांतर है। तो फिर जड़ मे वह कैसे मिल सकता है। इसीलिए सुख की लालसा से जड़ विषयों का सेवन करना, उनसे सुख चाहना पूरी-पूरी भूल है। तब? केवल आत्मा के स्वभाव जानने के लिये उसीका ध्यान करो--चिंतन करो तो सम्भव है कि कभी आत्मा का पूरा ज्ञान हो जाने से पूरा निश्चल सुख प्राप्त हो जाय। जब कि अज्ञान अवस्था में भी थोड़ा-सा ज्ञान शेष रहने के कारण जीवों को कुछ सुख अनुभव गोचर होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी बनने पर पूरा सुख क्यों न मिलेगा? जब कि चेतना ही आनन्ददायक है तो जड़ पदार्थों मे फंसने से आनन्द कैसे मिल सकता है? क्योंकि जड़ पदार्थों मे फसने से ज्ञान नष्ट, या हीन अवस्था को प्राप्त होता है जिससे कि आनन्द की मात्रा घट जाना सम्भव है। जड़ पदार्थों मे फंसने वाला जीव आत्मज्ञान से तो वंचित होता है और इधर जड़ पदार्थों से कुछ मिलने वाला नहीं है इसलिये दोनों तरफ के काम से जाता है। उसे न इधर का सुख न उधर का सुख। यदि वही जीव सब तजकर अकेले आपको भजने लगे तो पूर्ण तीनों जग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। फिर उससे बचा ही क्या रहा? इसीलिये मानना चाहिये कि वह तीनों लोक का स्वामी बन चुका।

जब कि यह जीव सब झगड़े छोड़कर आत्मज्ञान को प्राप्त करके सारे असार संसार मे से अपने चिदानन्द को सारभूत समझने लगा और उस लोक श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करने लगा तो इससे बड़ा और तीन लोक का स्वामी कौन होगा? कोई नहीं। उस समय यही तीन लोक का स्वामी बन जायगा। क्योंकि, जो जिसका स्वामी होता है वह उसके सार सुख को भोगता है। जीव जब कि तीनों लोक के एकमात्र सार सुख आत्मानन्द को भोगने

लगा तो वह तीनों ही लोक का स्वामी हो चुका। इसीलिये यह कहा कि—

तू ऐसी भावना कर कि मैं अकिंचन हूँ—सभी जड़ पदार्थों से मेरा ज्ञानमय स्वरूप निराला है। ऐसी भावना करते-करते जब तू अर्हं-अर्हन्, आत्मस्वरूप को अभिन्न अपना स्वरूप समझ जायगा तब तू तीनों लोक का पूर्ण स्वामी बन जायगा। इसलिये तू सब झंझटों से अपने को निराला समझ कर अपने स्वरूप मे ठहरने का प्रयत्न कर। ऐसे स्वरूप की प्राप्ति योगियों को ही हो सकती है। एकाकी आत्मा का ध्यान करने से त्रैलोक्यपति कैसे बन जाता है यह बात भी योगियों को ही पूरी समझ में आई है। अथवा यों कहिये कि, एकाकीपने की भावना से प्राप्त होने वाला सुख योगियों को ही मिल सकता है, केवल कहने सुनने से वह प्राप्त नहीं होता। एकाकी आत्मा को मानकर उसका चिंतन-ध्यान करने स तू भी योगी हो सकता है। योगी बनने से तुझे भी उस परमात्मा के पद की प्राप्ति होगी और तभी उस पद का पूरा आनन्द तुझे अनुभव गोचर होगा। यह योगगम्य परमात्म पद की प्राप्ति का रहस्य तुझे कहा।

यहाँ तक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों गुणों की तीन आराधना कहीं। आगे तपश्चरण की आराधना कहते हैं।

**दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः ।**
**मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ॥१११॥**

**अर्थः**—मनुष्य के पर्याय का मिलना तो अत्यन्त कठिन बात है पर है यह अत्यन्त अपवित्र और सुख रहित। इस पर्याय से अधिक देवादि पर्यायों मे सुख प्राप्त होते हैं इसलिये यह सुख का जनक पर्याय भी नहीं कहा जा सकता है। दूसरे, इस पर्याय मे विपत्ति इतने प्रकार की भोगनी पड़ती है कि इस पर्याय को भी जीव भारभूत समझने लगते हैं। और सचमुच ही इसमे दुःखों के सिवा है क्या? मरने के समय तक की खबर नहीं रहती कि कब किसका मरण होगा। इसलिये और भी यह एक चिन्ता मनुष्यों के पीछे सदा लगी ही रहती है। पूरा जीवनकाल ही एक तो बहुत थोड़ा, पर उसके भी बीच मे ही मरण हो जाने का भी भरोसा

नहीं है। परन्तु तपश्चरण इसी पर्याय मे हो सकता है। और मुक्ति तप के बिना होती नहीं है। तो फिर मुक्ति प्राप्त करना हो तो मानुष्य पर्याय पाकर के तप करना ही चाहिये।

भावार्थः—मुक्ति के विना निश्चिन्त सुख कहीं कभी किसी को नहीं मिल सकता है। और वह सुख प्राप्त करना सभी को इष्ट है। तो फिर तप के द्वारा कर्मों का नाश करके मुक्ति-सुख इस मानुष्य भव को पाकर क्यों न कर लेना चाहिये? क्योंकि मनुष्य भव के विना तप नहीं हो सकता और तप के विना कर्म नहीं जल सकते, जो कि मुक्ति होने से रोकने वाले हैं। यह मनुष्य भव भी वार-वार मिलने वाला नहीं है कि अब तप न किया तो फिर किसी बार हो सकेगा। यह मनुष्य भव अत्यन्त ही दुर्लभ है। समुद्र मे डाली हुई सरसों कदाचित् फिर भी हाथ लग सकेगी पर, मनुष्य भव गया हुआ फिर सहज तो क्या, अति क्लेश करने पर भी जल्दी हाथ न लगेगा। और इस भव मे ऐसी कोई वात भी नहीं है कि जिसके लिये तप छोड़ दिया जाय। अपवित्र-मलमूत्र रक्त मास वगैरह का यह पिंड है। क्षुधा, तृषा, रोग, शोक आदि दुःखो से पूरा कभी छूट ही नहीं पाता। इसके जीने का क्षणभर का भी पक्का भरोसा नहीं है। चाहें जब चाहें जिसके शरीर से चेतना निकल जाती है। असली आधार जो आयुःकर्म, वह तो किसी को जान ही नहीं पड़ता है कि कब खतम होने वाला है। पर वह कर्म बना रहते हुए भी रोग वेदना शस्त्राघात विप आदि क्षुद्र कारण मिल जाने पर शरीर की स्थिरता नष्ट हो जाती है। नारकियों तक का शरीर नियत समय पूरा होने पर छूटता है पर, मनुष्य के शरीर का कुछ भी भरोसा नहीं है। जब कि मनोरंजक पवित्र नहीं, सुख जनक नहीं और इसके नाश का भरोसा नहीं, तो फिर किसके लिये इसमें प्रेम किया जाय और तपश्चरण द्वारा इससे प्राप्त होने वाला निरा-कुल निश्चल सुख प्राप्त न कर लिया जाय? इस प्रकार देखने से मालूम होगा कि तप करने से ही इसका पाना सार्थक है, नहीं तो इसका पाना दुर्लभ होकर भी निस्सार है।

तप बहुत प्रकार के है पर, मुक्ति की सीधी प्राप्ति समाधि-तप से ही हो सकती है। उसी से साक्षात् कर्मों का नाश हो सकता है। वह समाधि किसमे लगाना चाहिये और उसका फल क्या है? वह देखो:—

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता,
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम्।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं,
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किंवा समाधौ बुधाः ॥११२

**अर्थः**—परम ज्ञानसम्पन्न तीनों जगत का स्वामी ऐसा परमात्मा समाधि में चिंतन करना यह तो हुआ काम, जिसे कि सभी श्रेष्ठ पुरुष अच्छा समझते हैं। उसी परमात्मा के चरणों का चिंतन करना बस, इतना क्लेश हुआ समझिये। इससे कर्मों का धीरे-धीरे क्षय हो जाता है इतना नुकसान हुआ समझिये। इस समाधि के धारण करने से फल क्या है? मुक्ति का सुख प्राप्त होना फल है। इसके सिद्ध करने में समय बहुत सा लगता होगा? नहीं, थोडे से समय में ही इस समाधि की सिद्धि हो सकती है। इसके लिये सामग्री इकट्ठी करने में बहुत दिक्कत उठानी पड़ती होगी? नहीं, अपना मन, यही केवल साधनोपाय है। अब देखिये, समाधि के साधने में कितनी कठिनाई है? थोड़ी सी भी है या नहीं? इस बात का बुद्धिमान् मनुष्यों को खूब विचार करना चाहिये।

**भावार्थः**—तप से आत्मा की शुद्धि होना माना गया है। जैसे अग्नि में सुवर्ण को तपाने से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है वैसे ही बाह्य अन्तर दोनों प्रकार के तपों द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाता है।

सुख शान्ति ज्ञान ये आत्मा के स्वभाव ऐसे विलक्षण हैं कि दूसरे किसी भी पदार्थ में नहीं मिलते। इसीलिये आत्मा को अनुभव गोचर, बाकी सर्व वस्तुओं से निराला कहना पड़ता है। जैसे एक खास तरह का पीलापन सुवर्ण का ऐसा स्वभाव है कि वह दूसरे किसी में भी नहीं मिलता। इसीलिये सुवर्ण सब धातुओं से एक निराली चीज मानी जाती है। और इसीलिये वह पीलापन जितना कम अधिक हो, सुवर्ण में दूसरी चीजों का मेल भी उतना ही कम अधिक देखने से मालूम पड़ सकता है। जिस समय सुवर्ण का वह पीलापन पूरा पूरा हो उस समय उसमें किसी दूसरी चीज का मेल भी नहीं माना जाता, वह सुवर्ण पूरा शुद्ध मानने में आता है। इसी प्रकार जब कि आत्मा के सुख शान्ति तथा ज्ञानादिक खास स्वभाव हैं तो उनके कम अधिक होने से या विपरीत होने से उनके

विघातक दूसरे विजातीय कारणों का मेल होना भी उस समय के आत्मा मे मानना मुनासिब है। संसारवर्ती जीवों मे सुख-शान्ति तथा ज्ञान, ये गुण पूरे पूरे प्रकाशमान् नहीं रहते या विपरीत रहते है यह बात बहुत ही सरलता के साथ जानी जा सकती है। क्योंकि, संसार का सुख है वह आकुलता तथा इष्ट वियोगादि दुःखों से पूरित रहता है, शान्ति का भी भग इससे होता ही रहता है ज्ञान सभी जीवों के परस्पर निरनिराले तथा हीनाधिक रहते दीखते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि खान मे से तत्काल निकले हुए सुवर्ण की तरह संसारवर्ती जीव भी पूरा स्वच्छ निर्मल नहीं है। तो? अग्नि से जैसे वह सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही जीव की भी बाह्य तप से बाह्य शुद्धि तथा अंतर तप से अतर शुद्धि हो सकती है।

इस तप के करने मे कष्ट जान पड़ता है, पर किनको? उन्हीं को कि जो अज्ञानी हैं—आत्मा की अशुद्ध अवस्था का जिन्हें ज्ञान नहीं हुआ है। जो सुवर्ण के परीक्षक नहीं हैं उन्हें सुवर्ण को अग्नि मे तपाना व्यर्थ की दिक्कत जान पड़ेगी, पर जो परीक्षक हैं वे कभी उसको व्यर्थ की दिक्कत नहीं मानेंगे। इसी प्रकार ससारवर्ती जीव की अशुद्धता पर जिनका विश्वास नहीं है वे इस तप को चाहें व्यर्थ की दिक्कत समझें, पर जो इसके परीक्षक हैं—ज्ञानी है वे, उसे व्यर्थ की दिक्कत कभी नहीं मानेंगे जिससे उत्तर काल में अनुपम लाभ होने वाला हो उस काम को समझदार क्यों दिक्कत का मानने लगें? फिर भी बाह्य तप उपवासादि या अन्तर के कुछ तप चाहें थोड़ी दिक्कत के हों पर, जिससे साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ऐसे समाधि तप मे तो दिक्कत है ही नहीं। वहाँ जितना देखो उतना आनन्द ही आनन्द।

परमात्मा की आराधना समाधि मे की जाती है। इसे कौन बुरा कहेगा? सभी सन्त पुरुष इसे श्रेष्ठ कार्य समझते हैं। इसमें लगने से थोड़ी सी शान्ति तो तत्काल ही प्राप्त होने लगती है। इसलिये इसमे कष्ट तो माना ही नहीं जा सकता है। हाँ, प्रारम्भ मे ही थोड़ा सा सुखजनक होने से परिपाक में इससे पूर्ण सुख का होना मानना अवश्य पड़ता है। परमात्मा के चरणों का जो ध्यान करना पड़ता है उसे चाहे क्लेश कह लीजिये या आनन्द। क्योंकि, भगवच्चरणों का ध्यान और अपनी शुद्ध अवस्था का चिंतन यह एक ही बात है, जिसे कि प्राप्त करना जीव का परम कर्तव्य है। भगवच्चरणों

के चिंतन से अपनी अवस्था की सुध आती है और उस तरफ चिरकाल तक टकटकी लगने से कर्म-कलंक नष्ट होकर आत्मा धीरे धीरे शुद्ध हो जाता है,—परमात्मा बन जाता है। इसीलिये यह कहा कि इस ध्यान के करने से कर्मों का अत्यन्त नाश हो जाता है, इतना मात्र नुकसान है। पर कर्मों का नाश कर शुद्ध अवस्था का प्रगट करना तो हमें इष्ट ही है। इसमें नुकसान कैसा ? इसलिये आगे चलकर यह भी लिख रहे हैं कि कर्मों के नाश से सिद्धि का सुख मिलना ही तो हमारा साध्य है। और वही हमे प्राप्त होगा। दिक्कत भी बहुत देर तक नहीं उठानी पड़ेगी, किन्तु सच्ची समाधि यदि लग गई हो तो अंतर्मुहूर्त मे भी कर्मों का नाश हो जाना सम्भव है। इसके लिये सामग्री भी कहीं बाहिर से लानी नहीं पड़ती। अपना अंतःकरण ही साधन है। मन जोड़ा कि बेड़ा पार। मन तो वैसे भी इधर उधर फिरता ही रहता है। उसे निस्सार कामों में से हटाकर इधर लगा देना, कुछ कठिन बात नहीं है। अब देखिये, इस थोड़ी सी एकाग्रता से ही जब कि परम कल्याण हो सकता है तो इसको कौन बुद्धिमान् कष्ट मानेगा ? बुद्धिमानों को स्वस्थ चित्त करके इस पर खूब विचार करना चाहिये। हम तो कहेंगे कि समाधि के बराबर कहीं भी सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता है। और फिर इसके परिपाक के आनन्द का तो कहना ही क्या है। और भी देखिये:—

**द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्षते,**
**किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः।**
**चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांशवो,**
**वदत तपसोऽप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम् ॥ ११३ ॥**

अर्थः—अहो भव्य जीवो, तुम समझते होगे कि धन दौलत तथा विषयसेवन सुखके कारण है। तप धारण करने वाले को ये छोड़ने पड़ते हैं। इसीलिये तप कोई अच्छी चीज नहीं है। तप करना अर्थात् अपने आप न आये हुए दुःखों के बीच आकर फसना है—न पैदा हुए दुःखों को पैदा करना है—न आने वाले दुःखों को आग्रह करके बुलाना है। तप की तरफ न झुककर यदि विषयसेवन किया जाय तो बड़ा ही आनन्द आता है। धन दौलत से विषयों का

सुगमता के साथ संग्रह हो सकता है इसलिये धन दौलत भी इकट्ठा करना बहुत जरूरी है।

पर यह तो कहो कि आंधी पवन के जोरदार झकोरे लगने पर जब जीव इधर उधर डगमगाने लगता है तब क्या उसे थोड़ा भी आनन्द प्रतीत होता है या क्लेश ? उस अवस्था में आनन्द कैसा ? अपने सँभालने की उलटी पंचायत पड़ती है, मन स्थिर नहीं रहता। उस समय यह विचार होने लगता है कि मैं कहीं गिर न जाऊँ, इसमे कैसे सँभलना होगा ? इत्यादि। ऐसी तरह की जब मन मे चिन्ता लग गई तो सुख कैसा ? वहा तो अपने को सँभालते सँभालते वेजार होना पड़ता हैं। बस, यही हालत धन-दौलत की है। जो इसके चक्कर मे पड़ जाता है वह अपने को सँभालते सँभालते वेजार होता है। वहा क्या थोड़ा सा भी सुख किसी को दीख पड़ता है ? नहीं। तो फिर धन-दौलत मे आनन्द क्या रहा ? रहा विषयसेवन, पर यह भी एक व्याध के समान अत्यंत दुष्ट है। व्याध जिस प्रकार पक्षियों को अपने जाल मे फसा लेता है और उन्हें परतन्त्र बांधकर रखता है; कभी कभी मार भी डालता है। इसी प्रकार विषय भी जीवों को फसाते हैं और फिर अपने चंगुल मे आये हुए उन जीवों को कभी निकलने नहीं देते, सदा उसी फंदे के पराधीन रखते हैं; कभी कभी उन्हें मार भी डालते है। विषयों मे अति लुब्ध हुआ प्राणी अन्त मे उन्हीं में फसकर प्राण गमाता है। काम की दुःखमयी अनेक अवस्थाओं मे से अंत की मरण अवस्था ही है। काम-भोग का वियोग होने पर अति लुब्ध हुआ प्राणी अति विचारकर संताप उत्पन्न कर शरीर को सुखा देता है और कालान्तर में कदाचित् तीव्र आर्तध्यान के वश होकर या तीव्र वेदना बढ़ने पर अपने प्राण पखेरुओं को शरीर मे रोक नहीं सकता। काम के संयोग में शरीर क्षीण होने से प्राणान्त होने की बारी आती है और वियोग में संताप वेदना बढ़ने से मरण तक होता है। इसलिये विषयो की लालसा हर हालत मे दुःखदायक है। इसके सतत संयोग रखने की इच्छा से जीव नोकरी सेवा आदि अनेक प्रकार के अपमान दुःख सहते हैं।

क्या ये सब दुःख सर्व विषयों को छोड़कर तपश्चरण में रत होने बाले को होते हैं ? नहीं। तप तो इसीलिये किया जाता है कि शरीर से स्नेह छूट जाय और आत्मतत्त्व की सच्ची पहिचान तथा

प्राप्ति हो। कामादि विकार बढ़ाने वाले शरीर और मनकी दुष्ट भावना है। कायक्लेशादि तपोंद्वारा जब शरीर सूख जायगा तो कामादि विकारों को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। आत्मचिंतन-ध्यान द्वारा जब मन पवित्र विचारों मे लग जायगा तो उसमे गंदे विचार न उठेंगे किंतु धीरे धीरे आत्मतत्त्व के ज्ञानानंदमय स्वभाव को प्राप्त कर लेने से काम-भोगादि संबधी उपर्युक्त सभी दुःख दूर हो जायंगे। अब कहिये, तपश्चरण से अधिक और भी कोई परम इष्ट सुख का साधक हो सकता है? क्या तपस्वी के चरणों तक भी, संसारी जीवों को पद पदपर होने वाली अपमानादि रज पहुँच सकती है? जो विषयाधीन होकर उनके पोषणार्थ पर का आश्रय करै उसको ये सब दु.ख हो। तपस्वी को इनसे क्या काम है? अब कहिये, तप अच्छा है या विषयभोग? अथवा यों कहिये कि चारित्र तथा तप आदि धारण करने वाला, विषय तथा संसार से इतना दूर रहता है कि उसे कभी अपमानादि दुःखरज का स्पर्श तक नहीं हो पाता। इसीलिये ग्रन्थकर्ता यह पूछते हैं कि, अपमानादि धूल चारित्र को कभी छू भी सकती है क्या? नहीं। पर चारित्र न धारण करने वाले विषयाधीन जन तो उस धूल से सदा धूसरित बने ही रहते हैं। जग मे अपमानादिक ही तो बड़े दु.ख हैं जो कि विषयासक्त का पीछा कभी नहीं छोड़ते। पर वे तपस्वी के पास तक भी नहीं भटक पाते। इसलिए तप दुःख-नाश का और सुख-प्राप्ति का मूल कारण मानना ही चाहिए।

और भी तप की महिमाः—

**इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्,**
**गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति।**
**पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी,**
**नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥ ११४॥**

**अर्थः**—अनादिकाल से साथ लगे हुए अति तीव्र क्रोधादि कषायों का इस तप के धारण करने से ही नाश होता है। ये कषाय जीव को संसार के दुःख भुगाने के मूल कारण हैं इसलिये शत्रु के तुल्य हैं। इनको वश करना या जीतना तप द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि, तप करने वाले के इन्द्रिय वशीभूत हो जाते हैं जिससे कि

विषयवासना छूट जाने से क्रोधादि या रागद्वेषादि कषायों का बीज तक धीरे धीरे नष्ट हो जाता है। विषयवासना हटने से ज्ञानाभ्यास; विषयव्याकुलता हटने से शांति; तप यह श्रेष्ठ कार्य होने से पूजा-सत्कार मिलना; इत्यादि उत्तम जिन गुणों के प्राप्त होने की अभिलाषा जी-जान देकर भी जीव उत्कठता से रखता है वे सब गुण सहज मे ही तपस्वी को प्राप्त होते हैं। ये सब तो लाभ हुए साक्षात् जो कि सभी के देखने सुनने मे आते है। पर, परभव मे या कुछ काल के बाद ही उस मोक्षपद की प्राप्ति भी अवश्य होती है कि जो जीव का सर्वोत्कृष्ट तथा अंतिम साध्य हो सकता है इस मोक्ष पद से आगे और अधिक जीव को क्या साध्य हो सकता है कि जिसमे पहुँचने से संसार-सबंधी भूख, तृषा, भय, खेद, जनन, मरण, जरा, रोग इत्यादि सर्व क्लेश निर्मूल नष्ट हो जाते है? क्यो न हो? जहा कर्मक्षय हो जाने के कारण, अज्ञान तथा मोहवश होनेवाले कर्म-जन्य दुःखों से छुटकारा मिलता हो वहां जीव को कौन दुःखी कर सकता है? मोक्ष मे इन सब दुःखों के बीजभूत कर्मों का निर्मूल नाश हो जाता है तो फिर वहाँ से अधिक सुख कहां होगा। दुःख सब पराधीनता या विजातीय वस्तु के मेल मे ही होता है। वह पराधीनता जो कि कर्मजन्य है वह वहां नहीं रहता तो फिर दुःख वहां किस बात का हो? ऐसे अचिन्त्य सुखधाम मोक्षपद की भी प्राप्ति जब कि इस तप से हो जाती है तो बाकी अब क्या रहा?

बुद्धिमान मनुष्य को किसी काम मे चाहें प्रत्यक्ष फल न मिलने वाला हो, पर परिपाक मे यदि उत्तम फल मिलता दीखता हो तो उस कार्य को बुद्धिमान अवश्य करता है। किंतु अज्ञानी मनुष्य की इससे उलटी रिवाज होती है। उसे चाहें परोक्ष फल किसी काम करने का मिलना सभव हो या न हो, पर प्रत्यक्ष फल यदि मिलता दीखे तो वह उस काम को अवश्य करता है। पर यह तपश्चरण ऐसी चीज है कि इसका फल प्रत्यक्ष भी है तथा परोक्ष भी है। और वह इतना उत्कृष्ट है कि जिससे सर्व क्लेश सदा के लिये जड़मूल से नष्ट होकर सर्व शाश्वत आनन्द प्राप्त हो जाता है। अब कहिये, मनुष्य की इसमे भी प्रवृत्ति न हो तो किसमे होगी?

अधिक क्या कहें; जिन मनुष्यों ने तप का आनन्द भोगा नहीं है वे ही इसका लाभ समझ नहीं सकते हैं। जैसे भिल्लनी[1], जिसने

---

१ यो यस्य नो वेत्ति गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दा सतत करोति।
यथा किराती करिकुम्भजातां मुक्ता परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥

कि सच्चे मोतियों की कदर समझी नहीं है वह वनगजों के मस्तक से बिखरे हुए मोतियों को देखकर भी उन्हें नहीं छूती पर, गुंजाओं को समेट समेट कर उनके अनेक आभूषण बनाती है और उन्हें पहन कर अपने को धन्य समझती है। किन्तु जो मोतियों की कदर समझता है वह कभी भी ऐसा करेगा? नहीं। इसी प्रकार जो लोग इस तप के आनन्द को लूट चुके हैं वे देखिये, उसमे कैसे मग्न होते हैं कि तप करते यदि शरीर भी उसमे नष्ट हो जाय तो भी कुछ परवाह नहीं है। देखो.—

**तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्यार्जितफलः,**
**शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः।**
**व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः,**
**स धन्यः संन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ॥ ११५ ॥**

अर्थः—जैसे पुष्प बहुत ही मनोहर चीज है, परन्तु उसका प्रयोजन यही है कि आगे वह फल उत्पन्न करै। यदि फल उत्पन्न करके वेल मे लगा हुआ फूल सूखकर पड़ जाय, तो वह पड़ते हुए भी बुरा जान नहीं पड़ता, क्योंकि, उसने फल उत्पन्न कर दिया है। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर प्राप्त होना बहुत ही सुकृत की बात है। परन्तु उस शरीर का प्रयोजन इतना ही है कि उस पर से आगामी सुखदायक पुण्यफल उत्पन्न हो। जो साधुजन समझ चुके हैं कि उत्तम पुण्यफल की प्राप्ति तपश्चरण के द्वारा हो सकती है वे तपश्चरण मे ही अपना सारा आयुष्य बिताकर अन्त मे शरीर को भी उसी में खिपा देते हैं। वे धन्य हैं। तप क्या है? विषय-जंजाल मे फसने से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता या अशांति को छोड़कर आत्मीय शाति प्राप्त करना है। क्योंकि, समाधि-तप सर्वोत्तम तथा सर्वोपरि तप है। उसमे केवल सच्ची स्वाधीन शान्ति ही शान्ति है। उसमे मग्न होने वाले को साक्षात् शान्ति तो प्राप्त होती ही है किन्तु विषय-व्यामोह छूट जाने से मोह-अज्ञानवश बँधने वाले पाप-कर्मों का बन्धन भी बन्द हो जाता है। यदि बंध हो तो केवल पुण्य कर्मों का। इसलिये यह तपश्चरण रूप लता पुण्यकर्म रूप नवीन फल उपजाने वाली है। जैसे पुष्प नवीन फल उपजाकर खिर जाता है इसी प्रकार इस तपश्चरण-लता मे जुड़ा हुआ शरीर धीरे धीरे क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। परन्तु नष्ट होने तक वह सुन्दर तथा

बहुत-सा पुण्यकर्म रूप फल उपजा देता है जिसकी कि परिपक्व दशा मे जीव को ससार मे भी असाधारण सुख प्राप्त हो; एवं परंपरया जो अन्त में संसार से निवृत्त करदे। क्योंकि तपश्चरण के समय मे जो पुण्यफल प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व-पूर्वक होने के कारण सातिशय होता है; और इसीलिये उससे किसी न किसी समय संसार-निवृत्ति भी अवश्य हो जाती है। इस प्रकार तपोवल्ली में जुड़ा हुआ शरीर पुण्य-फल प्राप्त करके नष्ट होता है इसलिये वह शरीर उस पुष्प के तुल्य है कि जो व्यर्थ सूख न जाकर नवीन फल को पैदा करके सूखता है।

इसी प्रकार उस साधु का आयुष्य भी सारा तपश्चरण में लगे लगे ही बीत जाता है, पर विषय वासना में एक क्षण भर भी जीव को फसाता नहीं है। इसीलिये उस साधु का आयुष्य दूध मे मिले हुए पानी के तुल्य है कि जो पानी दूध को आप रहते हुए कभी जलने नहीं देता। चाहे दूध के नीचे कितनी ही आग जलाई जाय, पर जब तक उसमे पानी है तब तक वह धीरे धीरे आप तो जलता जाता है परन्तु दूध को आँच नहीं आने देता। इसी प्रकार तपश्चरण में लगे हुए साधु का आयुष्य, साधु के चौगिर्द विषय-जंजाल प्रदीप्त रहते हुए भी उनमे उस साधु को फसने नहीं देता, किन्तु उसे उस संसार-अग्नि में जला डालने वाले विषयाग्नि से बचाकर आप धीरे धीरे नष्ट हो जाता है।

साधुओं का आयुष्य जब निश्शेष होने लगता है तब वे शरीरादिक से सर्वथा उदास हो जाते है। यों तो वे पहले से भी शरीर इन्द्रिय तथा इनके विषयों से विरक्त रहते ही हैं। परन्तु आयु शेष रहते हुए वे भोजनादि द्वारा शरीर को भी सभालते हैं; क्योंकि शेषायु रहते हुए यदि शरीर की रक्षा भोजनादि से वे न करें तो अपघात करने के पापभागी हो जांय। कारण कि, शरीर की स्थिति आयु.कर्म तथा अन्नादि के मिलने से रह सकती है। शरीर रखकर तपश्चरण करके पापों का नाश कर मुक्त होने की उन्हें आवश्यकता है। इसलिये आयु रहते हुए वे अन्नादि द्वारा शरीर की रक्षा करते हैं। ऐसा करते करते कुछ प्रीति भी शरीर के साथ हो जाना सहज बात है। परन्तु जब आयु निश्शेष होने लगा हो तब केवल अन्न देने से भी कुछ शरीर टिक नहीं सकता। फिर वृथा ही उसे मूर्ख मनुष्यों की तरह वे शरीर को अन्नादि द्वारा

रोकने की चेष्टा क्यों करे ? क्योंकि, अंतरंग कारण आयु:कर्म के न रहते हुए शरीर को कितना ही अन्न या औषधादि उपचार के द्वारा टिकाने का प्रयत्न किया जाय, पर वह सब उपाय निस्सार हैं। जब कि साधु जन यह बात समझ रहे हैं और बचना सर्वथा असंभव हो गया हो तो वे उस शरीर की वृथा संभाल में क्यों लगेंगे ? उनका उस शरीर से राग हट जाना सहज बात है। बस, इसलिये वे उस समय शरीर की रक्षा के प्रयत्न तथा अन्य जन व वस्तुओं से प्रेम तथा ईर्ष्या-द्वेष हटा लेते हैं और शांति के साथ शरीर से जुदे हो जाते हैं। बस, इसीका नाम 'सन्यास'❀ है।

इस सन्यास रूप अग्नि में समाधि या योगधारण करके वे शरीर का अन्त कर देते हैं। इस प्रकार साधुओं का आयुष्य अन्त तक साधुओं को संसाराग्नि में जलने देने से रोकता है और अन्त में आप उसी में समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार जो साधु अपने सम्पूर्ण आयुष्य तथा शरीर को तपश्चरण करते करते ही खिपा देते हैं वे धन्य हैं। तपश्चरण में इतना लीन वही हो सकता है कि जो आत्मज्ञानी हो, आत्मा को विषय सम्बन्ध में दुःखी समझता हो, तपश्चरण को संसार-दुःख का निर्मूल नाश करने वाला मानता हो, तप को ही अपना पूर्ण कल्याणकर्ता समझता हो। जो जीव अज्ञानी है, विषय मोहित हो रहा है, विषयों को सुख का कारण समझता है, बहिरात्मा है, तप से अपने सुख का नाश हुआ समझता है वह तपश्चरण करने में घड़ी भर भी ठहर नहीं सकता है। उसमें ठहराना तो दूर ही रहा, तप की तरफ झूँक कर वह देखेगा भी नहीं।

जब कि साधु पूर्ण विरागी हो जाने के कारण तप में रत होते हैं तो शरीर की भोजनादिक से रक्षा करने की चेष्टा क्यों करते हैं ?—

**अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत् ।**
**तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ॥११६**

**अर्थ:**—ये साधुजन ऐसे हैं कि इनमें वैराग्य ओतप्रोत भर

---

❀ 'सन्यास' का यह स्वरूप मानने से 'जान बूझकर मर जाने' का दोष आ नहीं सकता है।

चुका है। तो भी शरीर की एकदम वेपरवाह करके समाधि आदि तप में लीन नहीं होते हैं। शरीर को भी सभालते हैं और तप भी करते हैं। इससे ऐसा समझना चाहिये कि उन साधुओं को कार्य-सिद्धि की रीति-भांति अच्छी तरह मालूम हो चुकी है। उतावला न वनना ज्ञान का ही माहात्म्य समझना चाहिये।

साधुजन यद्यपि पूर्ण निश्चय इस वात का कर चुकते हैं कि शरीरादि तथा विषयभोगादि से छुटकारा मिलने पर ही आत्मा सुखी हो सकता है. और उसका उपाय एकमात्र तप है।क जिससे शरीर तथा शरीरादिक कर्मो का सर्वथा नाश होकर आत्मा ज्ञानानन्द-पूर्ण व शुद्ध हो जाता है। तो भी इन कर्मों का तथा शरीर का एकदम नाश करने से असली नाश नहीं हो सकता है। यदि इस विद्यमान शरीर का भोजनादि संस्कार रोक देने से नाश भी कर दिया जाय तो भी अन्य किसी भव मे उत्पन्न होकर शरीर के दु:ख भोगने ही पड़ेंगे। उलटी जो इस समय कर्मों के नाश करने की शक्ति, उत्साह, तथा सामग्री प्राप्त हुई है वह यों ही चली जायगी। इस जीव को तपश्चरण मे प्रवृत्त करने के लिये समर्थ ऐसी अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति तथा तपश्चरण करने के योग्य शरीरादि की प्राप्ति सर्वत्र नहीं होती है। तव ? इस मिली हुई सम्पूर्ण सुखसामग्री को उतावले वनकर यों ही खो देना वड़ी मूर्खता है। तपश्चरण या समाधि से आत्मा असली सुखी होता है यह.वात समझ लेने पर भी तप या समाधि का पूर्ण लाभ एकदम नहीं हो सकता है। समझ लेना और वात है और उसको साध लेना और वात है। समझ लेने पर भी किसी काम के साधने मे देरी लगती है। आत्मा की मुक्ति अवस्था का प्राप्त करना मन-वचन-काय के द्वारा आत्मा को स्थिर वनाने के अधीन है। क्योंकि, ऐसा करने से योग या आत्मचंचलता का निरोध होता है, जिससे कि उद्वेग के कारण आकर वॅधने वाले कर्म, वॅधने से रुक जाते हैं। पूर्वसचित कर्मों का भी उसीसे धीरे धीरे नाश हो जाता है। यह सव वात कालसाध्य है। केवल जान लेने से इसकी सिद्धि नहीं होती है। जान लेना यह ज्ञान है और चारित्र क्रिया है। इसीलिये तप धारण कर लेने पर एक-दम ही उसकी पूर्णता या कार्य की सिद्धि उससे नहीं हो सकती है। और मनुष्य शरीर के विना तप या समाधि हो नहीं सकती।

सलिये शरीर की रक्षा करते हुए उससे त्रियोगसिद्धि तथा मुक्ति-

प्राप्ति करना बुद्धिमानी है। यह समझ कर साधुजन कालान्तर मे त्यागने योग्य इस शरीर को संभाल कर रखते हैं और फिर तप करते हैं। ऐसा न समझना चाहिए कि उनके वैराग्य में कुछ कमी होगी। देखो:—

**क्षणार्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः।**
**यदि प्रकोष्टमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः ॥११७**

**अर्थ:**—कर्मों का नाश होकर मुक्ति की प्राप्ति एक-दम नहीं होगी, किंतु क्रमशः होगी, इत्यादि उपरि लिखित विचार यदि साधुओं का पोंचा पकड़ कर रोकने वाला उनके हृदय में न हो तो वे शरीरादिक से विरक्त तो इतने हो चुकते हैं कि एक क्षण भर भी देह की प्रीति तथा सहवास सहना किसको कहते हैं ? क्षणभर मे वे इस शरीर को अन्नादि का निरोध कर नष्ट कर सकते हैं। पर वे विचारते हैं कि इसमें लाभ क्या है ?

यह कुत्ते की आदत होती है कि उठाकर ईंट मारने वाले की तरफ न झपट कर ईंट की तरफ वह दौड़ता है। पर सिंह की वृत्ति इससे उलटी होती है। वह ईंट मारने वाले पर टूटता है। क्योंकि, ईंट विचारी क्या करती है ? फेकने वाला ही निर्मूल नष्ट करना चाहिए। ठीक, संसारी जनो मे भी यही आदत है कि वे अनिष्ट सम्बन्ध से द्वेष करते हैं, लड़ते झगड़ते हैं। पर साधु इन कर्मजनित शरीरादि दुःख कारणों से उतने न चिड़कर कर्मबीज से चिड़ते हैं और उसके नाश मे प्रवृत्त होते है, कि जो सर्व दुःखों की जड़ है। परन्तु उस चिरसंचित तथा चिराभ्यस्त कर्म का नाश शीघ्र नहीं हो सकता। उसके नाश की तरफ लक्ष्य भी सहज और जल्दी नहीं बँध सकता। क्योंकि, आज तक उसके नाश का उपाय कभी साधा ही नहीं है। और उसका नाश भी होगा वह शरीर की मदत से होगा। इसीलिये साधुजन इस उपरि लिखित ज्ञान के द्वारा शरीर नाश करने मे शीघ्रता करने से रुकते हैं, न कि वैराग्य की कमी या शरीर को अपना हितकारी समझने के कारण। इसलिये धीरता के साथ उचित समय मे कर्म तथा शरीरादि नष्ट करने का साधन करना यह विचार की तथा हिताहित-विवेक की ही महिमा समझना चाहिये।

कर्म का उदय भी साधुओं को मुक्ति प्राप्त होने से रोकता है। कर्म का फल जिस समय तीव्र उदय में आया हो उस समय कितनी ही उत्कट इच्छा होने पर भी कार्य की सिद्धि नहीं हो पाती है। साधुजन कर्म का तीव्र उदय होने पर यदि चाहें और प्रयत्न करें कि हम शीघ्र ही कर्मों का नाश करें तो नहीं कर सकते हैं। तीव्र कर्मोदय उस समय उन्हें समाधि-ध्यान तक नहीं लगाने देता है। उनकी प्रवृत्ति को विचलित करता है। तब मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसलिये साधुपद धारण करके भी कर्म के मन्दोदय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कर्म के तीव्र उदय मे साधुजन विचार करते हैं कि कब हमें इस कर्म के मन्दोदय का प्रसंग प्राप्त होगा, जब कि हम मोक्ष की साधना मे लग सकेंगे? यह कर्म कब और किसको धक्का देगा यह भरोसा नहीं हो सकता है।

इस कर्म का तीव्र उदय तुच्छ जनों पर या सामान्य साधुओं पर ही अपना असर डाल सकता हो, किन्तु महापुरुषों पर नहीं डाल सकता है; यह बात नहीं है। संसार मे बड़े बडे पराक्रमी, पुण्यशाली, तीनों लोक के पूजनीय भगवान् तीर्थंकर तक भी इसके उदय से बचे नहीं हैं। जब कि तीव्र कर्म का वेग आकर पड़ता है तब उन्हें भी दुःख भोगने पड़ते हैं, समता धारण करके समय बिताना पड़ता है, प्रतीक्षा इस बात की करनी पड़ती है कि कब यह कर्म निर्बल हो और हम मोक्ष की सिद्धि करें? देखो.—

**समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्,**
**तपस्यन्निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।**
**किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोपि सुचिरं,**
**न सोढव्यं किंवा परमिह परैः कार्यवशतः ॥११८**

**अर्थः—**समय पाकर नाभि राजा के पुत्र भगवान् आदीश्वर ने सम्पूर्ण विशाल राज्यसम्पदा को तिनके की तरह त्याग दिया और संसार से मुक्त होने की कामना से तप करने लगे। जब भूख लगी तब मान छोड़कर दीनों की तरह पर घरों में फिरे। बहुत दिनों तक कहीं भोजन मिला ही नहीं, तो भी तप से भ्रष्ट नहीं हुए। किन्तु तपस्या को साधते हुए चिरकाल तक लाभ न होते हुए भी भिक्षा के लिये फिरते ही रहे।

उन्होंने इतना कष्ट उठाया तो भी तप को छोड़ा नहीं। तप की वृद्धि करते हुए ही शरीर रक्षा के लिये प्रयत्न किया। यदि वे चाहते कि हम विषयसुख भोगें, इतना कष्ट उठाकर तप करने मे क्या लाभ है ? तो उनके लिये तीनों लोक की सम्पदा उपस्थित थी। तो भी उन्होंने तप को छोड़ना नहीं चाहा। तप के सामने विषय सुख को तुच्छ व हेय समझा। इसीलिये उन्होंने तप को रखकर शरीर का निर्वाह करना पसन्द किया। यदि वे शरीर सुख को मुख्य समझ कर विषयों मे प्रवृत्त होते तो आत्मकल्याण से वंचित रह जाते परन्तु उन्होंने तो आत्मकल्याण को मुख्य कार्य समझा था। इसीलिये दुस्सह कष्ट भोगने के लिये कायर नही हुए किन्तु आत्मकल्याण की सिद्धि पूर्ण की।

जिन्हे जो काम पूरा करना होता है वे उसके लिये चाहे जैसे दीर्घ दुःखों को सहते हैं पर मतलब को हाथ से जाने नहीं देते हैं। अपने प्रारम्भ किये कार्य की सिद्धि के लिये श्रेष्ठ मनुष्य क्या क्या सहन नहीं करते ? जो श्रेष्ठ कार्य का प्रारम्भ करके भी विघ्न आने पर हट जाते हैं कार्य को छोड़ बैठते हैं वे क्षुद्र मनुष्य होते हैं। अच्छे कामों के बीच मे विघ्न आना तो निश्चित[२] ही है। इसलिये जो विघ्नों से डरते हैं वे कभी अच्छे कार्य को पूरा नहीं कर सकते हैं। इसलिये अपने कार्य को अन्त तक पहुँचाने के लिये बीच मे आया हुआ विघ्न चाहे कैसा भी भारी हो, पर क्या सहना न चाहिये ? अवश्य सहना ही चाहिये।

अहो, कर्म के उदय के अनुसार फल तो प्राप्त होता ही है। जिस कर्म ने संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों को भी कष्ट देने से छोड़ा नहीं वह क्या साधारण मनुष्यों से रोका जा सकता है ? नहीं। तो भी अपने कार्य को छोड़ना न चाहिये। देखो:—

**पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,**
**स्वयं सृष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।**
**क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती,—**
**महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हत-विधेः ॥११९**

१—विघ्नैः पुन पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥
२—श्रेयासि बहुविघ्नानीत्येतन्न ह्यधुनाऽभवत् ॥ (श्रीवादीभसिंहः)

**अर्थ:**—इन्द्र सरीखे, गर्भ मे आने के पहिले ही से सेवक के समान जिनके लिये हाथ जोड़कर खडे होने लगे। जिन्होने सम्पूर्ण संसार को उद्योग धन्दा आदि प्रवृत्ति मार्ग सिखा कर उचित पथ पर चलाने का क्रम शुरू किया। जिनका खुद पुत्र भरतचक्री निधियो का स्वामी हो चुका था। इन्द्रादि सभी महापुरुषों के पूज्य होने के कारण जो 'पुरु' इस नाम को पा चुके थे। वे भी जब कि कर्म के तीव्र उदयवश हुए तब भूखे प्यासे छह महीने तक निरन्तर भोजन के लिये पृथ्वी पर भटकते फिरे, पर क्षुधा की निवृत्ति का यथोचित कही प्रबन्ध एक जगह भी नहीं हो पाया। अहो, इस ससार मे कोई कैसा ही बड़ा पुरुष हो, पर दुष्ट पापी दैव की चेष्टा को रोक नही सकता है।

**भावार्थ:**—संसार मे जब तक रहना है तब तक दैव पीछे लगा ही हुआ है। उसकी गति को कोई भी रोक नहीं सकता है। इन्द्र जिनका सेवक ऐसे तीर्थंकर को हो जिसने छोडा नहीं उससे दूसरे तो बच ही क्या सकते हैं? इसलिये जब तक ससार मे रहना है तब तक सुख दु:ख का कुल दारमदार दैव के अधीन है पराधीन है। इसकी सत्ता रहते हुए दु:ख तो दु ख है ही, पर सुख भी दु ख ही है। क्योंकि, दैवाधीन सुख के आगे पीछे चिन्ता, इच्छा; आकुलता इत्यादि दु ख लगे ही रहते हैं। सुख के साथ में भी अनेक तरह के दूसरे दु:ख रहते है। सिवा इसके, ससारदशा मे पूर्ण ज्ञान कभी भी प्रकाशमान न रहने से उस अज्ञानवश जो एक प्रकार की धुन्धीसी बनी रहती है वह सब आनन्द किरकिरा करती रहती है इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो ससार मे रहकर कभी किसी को सुख नहीं मिल सकता है। इसीलिये भगवान् आदीश्वर ने कर्मों का निर्मूल नाश कर अविचलित आनन्द दायक मोक्षपद की प्राप्ति का सराहनीय उद्योग प्रारम्भ किया। उसी कार्य की सिद्धि के लिये जब शरीर रक्षा की जरूरत पड़ी तो इष्ट कार्य मे बाधा न करके भोजन की तलाश मे इधर उधर भटके। विघ्न कर्म का तीव्र उदय होने से भोजन जब न मिला तो भी अपने आरम्भे हुए कार्य से पराङ्मुख न हुए और उस दु:ख की कुछ परवाह भी नहीं की। इस प्रकार जब कि वे भगवान् अपने कार्य के साधने मे आसक्त हुए तो अन्त मे उस शाश्वत स्वाधीन सुख को पा ही लिया।

इसी प्रकार जो कर्मजनित पराधीन सुख से विमुख होकर आत्मसुख की प्राप्ति में लगते हैं वे उस परम अविनश्वर मोक्षसुख को पा सकते हैं। पर ऐसा दृढ़ संकल्प हो किसका सकता है? उसी का कि जो कर्म की अवस्था से अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप को निराला समझ चुका हो, और फिर कर्म निर्मूल भस्म कर देने के लिये तपश्चरण करने को कटिबद्ध हो चुका हो।

लोगों की शका यह होती है कि तपश्चरण में दुःख है। इसलिये तप करना कठिन है और विषय के सुखों को छोड़कर दुःख में जानबूझ कर फसना मूर्खता भी है। ऐसा प्रश्न जिसको उठता हो उसके लिये ग्रन्थ कर्ता ने भगवान् आदीश्वर का दृष्टान्त दिखाकर यह बताया है कि कर्म का उदय दुःख का कारण है। तप कुछ दुःख का कारण नहीं है। जब कर्म का उदय विपरीत होता है उस समय तीर्थंकर सरीखे जन भी दुःख भोगने से बच नहीं सकते हैं। उस कर्म का सम्बन्ध संसार दशा में सर्वदा ही विद्यमान है। इसलिये जब कि कर्म का विपरीत उदय आता है तब घर बैठे हुए तथा अनेक सुख साधन रहते हुए भी जीव को दु.ख भोगने पड़ते हैं। तप यह कर्म के नाश का उपाय है। क्योंकि, तप मे आत्मस्वभाव के सन्मुख होने से विपरीतता तथा अज्ञान-प्रवृत्ति घटती है। और इसलिये पूर्वबद्ध कर्म का क्रम से नाश तथा नवीन कर्म बन्धन का निरोध होने लगता है। अन्त मे सर्व कर्म से मुक्ति प्राप्त करके जीव नित्य ज्ञानानन्द मे प्रवेश करता है। ऐसे परिपाक समय में सुख जनक तप को दुःख का कारण समझना भूल है। जब कि दुःख घर बैठे जीव को भी छोड़ता नहीं है तो तप करते भी किसी को कदाचित् कुछ कर्म, उदय मे आकर दुःख दें तो वह तप का लांछन नहीं समझना चाहिये, और अपना प्रयोजन साधने के लिये शान्ति तथा धैर्य के साथ उन्हें सह लेना चाहिये, पर तप से भ्रष्ट नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार यहाँ तक तीन आराधनाओं का स्वरूप कहा। पहली आराधना सम्यग्दर्शन आराधना, दूसरी चारित्र आराधना, तीसरी तप आराधना। इन तीनों का स्वरूप सुनने पर भी तबतक इनसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता जबतक कि श्रुतज्ञानादिक तत्त्वज्ञान आत्मा मे प्रगट नहीं हुए हों। क्योंकि, तत्त्वज्ञान होने

पर ही सर्व उपदेश फलीभूत होते हैं। इसलिये अब ज्ञान की महिमा व ज्ञान की आराधना यहाँ से कहना शुरू करते हैं।

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ॥ १२० ॥

अर्थः—साधुजन जैसे संयम धारण करते हैं वैसे ही ज्ञान भी उन्हें धारण करना ही चाहिये। वैसे ही नहीं, किन्तु मुख्य ज्ञान को ही धारण करना चाहिये। क्योंकि, ज्ञान के बिना चारित्र की शोभा नहीं है तथा अकेला चारित्र कार्यकारी भी नहीं है। ज्ञान तथा चारित्र का संगम वैसा ही होना चाहिये जैसा कि अग्नि में प्रताप तथा प्रकाश का संगम रहता है। ज्ञान को प्रकाश के तुल्य समझना चाहिये व चारित्र को प्रताप के तुल्य। प्रताप जैसे अग्नि में चमकता हुआ अग्नि को किसी भी विजातीय वस्तु से मलिन नहीं होने देता, किन्तु सर्व विजातीय लकड़ी वगैरह चीजों को आते ही भस्म कर देता है और अग्नि को शुद्ध बनाये रखता है। वैसे ही चारित्र भी आत्मा में चमकता हुआ आत्मा को किसी भी विजातीय वस्तु से मलिन नहीं होने देता; किन्तु विजातीय जो कर्म-ईंधन, उसे भस्म करके आत्मा को शुद्ध कर देता है। रहा ज्ञान, वह प्रकाश की तरह प्रकाशमान रह कर सर्व पदार्थों को तथा मोक्ष के मार्ग को प्रकाशित करता है।

साधुओं का यह चारित्र व ज्ञान यद्यपि प्रारंभ की अवस्था में दीपक के प्रताप-प्रकाश के ही तुल्य है परन्तु कालान्तर में वही सूर्य के प्रताप-प्रकाश के तुल्य सर्वोत्कृष्ट प्रगट होकर भासने लगता है। किन्तु वह ज्ञान-चारित्र सूर्य के तुल्य होता उसी साधु का है,

१ सूर्योपमा के समय जैसे ताप व प्रकाश, दोनों गुणों की तुलना चारित्र व ज्ञान गुण के साथ की है वैसे ही दीपोपमा के समय भी दोनों ही गुणों की तुलना होनी चाहिये। अन्तर केवल अणु महत् प्रमाण का है। इसलिये दीपक के समय 'प्रकाश प्रधान' शब्द से ज्ञान-गुण की तुलना तो हो ही जाती है; किन्तु चारित्र के साथ तुलना प्रताप गुण की जो होनी चाहिये वह 'दीप' शब्द से दीपन अर्थात् प्रताप, व 'संयमी' शब्द से संयम अर्थात् चारित्र, यह अर्थ आकर्षित कर लेने से हो सकती है।

कि जो ज्ञानाभ्यास की मुख्यता रखता है। केवल चारित्र में मग्न रहने वाले को आत्म-सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती है।

**भावार्थः**—प्रारंभ में साधुओं का चारित्र व ज्ञान अधिक प्रकाशमान नहीं हो सकता है, क्योंकि, उनकी वह अवस्था प्रारम्भ की है। उस समय उनका ज्ञान कैसा ही अधिक हो परन्तु श्रुतज्ञान ही रहेगा, जो कि परोक्ष है। यदि बहुत हुआ तो अवधि व मनः-पर्यय तक हो सकता है। परन्तु वह एक-दम प्रथम ही प्रायः नहीं होता और वह भी सर्वदेशीय सर्व विषयों का प्रकाशक नहीं है। इस प्रकार प्रथम अवस्था में ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता है। चारित्र भी प्रथम समय में सामायिक व छेदोपस्थापन ही हो सकता है, अधिक नहीं। यह चारित्र सबसे ऊपर के यथाख्यात चारित्र से बहुत ही हीन है क्योंकि, कषायों की मात्रा इन चारित्रों के समय में पूरी मन्द अथवा नष्ट नहीं हो पाती है। यथाख्यात चारित्र प्रगट होते समय ये ही कषाय पूरे शान्त तथा नष्ट तक हो जाते हैं। इस लिये यह चारित्र भी साधारण ही समझना चाहिये। इसीलिये इस चारित्र व ज्ञान गुण को दीपक के प्रताप-प्रकाश के तुल्य कहा है। एवं जो इन गुणों को धारण करने वाला साधु है उसे दीपक के तुल्य कहा है।

यद्यपि दीपक में प्रताप व प्रकाश, ये दोनों गुण प्रगट रहते हैं तो भी जैसा प्रकाश-गुण प्रधानता से दीख पड़ता है व काम में आता है वैसा प्रताप नहीं। इसी प्रकार साधु के ज्ञान-चारित्र भी चाहे दीपक के तुल्य ही प्रारम्भ में थोड़े से क्यो न हो पर तो भी प्रधान ज्ञान-गुण ही रहना चाहिये। यदि इस प्रकार कोई साधु ज्ञान-गुण को मुख्य रखकर तपस्वी बनै तो कालान्तर में केवलज्ञान व यथाख्यात सर्वोत्तम चारित्र को प्रगट करके सूर्य के समान पूर्ण प्रकाशित हो सकता है। यह ज्ञान की महिमा है। दीप समान होने का और भी हेतु सुनिये —

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमन् कर्मकज्जलम् ॥१२१॥

**अर्थः**—ज्ञान की आराधना अथवा उपासना करने वाला बुद्धिमान् साधु दीपक के तुल्य थोडे से ज्ञान चारित्र को धारण करके

प्रकाशित होता है; परन्तु उतने ही गुण से वह अपने तथा पर वस्तुओं के स्वरूप को निर निराला प्रकाशित करता है। दीपक जैसे अन्य वस्तुओं को प्रकाश-गुण हीन, निस्तेज ऐसा दिखाता है व अपने को प्रकाश गुण से पूर्ण तथा सतेज ऐसा दिखाता है। वह दिखाता क्या है ? वास्तव मे ऐसा ही है। इसी प्रकार साधु उस थोड़े से ज्ञान चारित्र गुण द्वारा भी शरीरादि पर-वस्तुओं को जड़-रूप प्रतिभासित कराता है। व आत्मस्वरूप को चैतन्यपूर्ण प्रकाश-मान ऐसा प्रतीत कराना है। थोड़ा ही क्यों न हो, पर जो सच्चा ज्ञान है उससे आत्मा तथा पर-वस्तुओं से जो यथार्थ भेद जड़ चैतन्य का है वह ज्यों का त्यों प्रतिभासित होना ही चाहिये।

दीपक जिस प्रकार काजल को अपने मे से वाहिर करता हुआ प्रकाश को पसारता है उसी प्रकार कर्मरूप कज्जल या कालिमा को आत्मा मे से वाहिर निकालता हुआ साधु का ज्ञान, स्वपर को प्रकाशित करता है। दीपक मे जो प्रताप है उसका काम काजल को वाहिर करना है और जो प्रकाश है उसका काम स्वपर को प्रकाशित करना है। इसी प्रकार आत्मा मे जो चारित्र है उसका काम कर्मकालिमा को वाहिर निकालना है और जो ज्ञान-गुण है उसका काम स्वपर को प्रकाशित करना है। इस प्रकार यह दीपक के साथ पूर्णोपमा सम्भव होती है।

शुद्ध होने का क्रम —

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात् ।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥ १२२ ॥

**अर्थ:**—जीव की अवस्थाएं तीन है, एक अशुभ, दूसरी शुभ, तीसरी शुद्ध। विषयादिक मिथ्या जजाल मे फसकर रागद्वेप व अन्यायादिक करना वह अशुभ अवस्था है। इसी को तमोगुण या तामसी वृत्ति भी कुछ लोग कहते हैं। आत्मज्ञान होने पर जो तामसी वृत्ति से अथवा मिथ्या अनात्मीय विपयादिक से हट कर साधु समागम, धर्मोपदेश, मोक्षमार्ग, तप व तत्त्वज्ञान मे रुचि करना है वह शुभ अवस्था है। इसी को कुछ लोग राजसी वृत्ति या रजो-गुण कहते हैं। ऐसी शुभ अवस्था प्राप्त होने पर जव जीव की प्रवृत्ति आत्मतत्त्व की तलाश मे और भी अधिक झुकती है तव वह साधु समागमादिक शुभ कामों से भी मन को हटा कर केवल

निर्विकार शुद्ध आत्मा के चिंतन करने में लगा देता है। तब इसी का नाम शुद्ध अवस्था है।

प्रीति या राग उत्पन्न होने से आत्मा संसार मे फसता है। इसीलिये राग द्वेष को बुरा व हेय माना जाता है। परन्तु संसार विपयों के राग से साधु-ससागम, तत्त्वज्ञानादि-सम्बन्धी राग बहुत कुछ अच्छा है। यह राग ऐसा है कि अपने विपय मे से भी राग को एक दिन नष्ट कराकर आत्मा को शुद्ध अवस्था मे पहुँचा देता है, जहाँ कि किसी बात का संकल्प नहीं रहता, तथा भीतरी आत्म-तत्त्व के अवलोकन के सिवा बाहिरी बुरी भली सभी चीजों से मन एक-दम हट जाता है। इसीलिये ससार विपय सम्बन्धी राग को अशुभ व अन्धकार के तुल्य कहा है और तत्त्वज्ञानादि सम्बन्धी राग को शुभ कहा है। क्योंकि, यह आगे चलकर जीव की परिणति को शुद्ध कर देता है।

जैसे सूर्य मे लाली प्रात काल भी होती है व सध्याकाल भी होती है। लालिमा दोनों एक सी ही दीख पड़ती है। परन्तु संध्या-काल की लालिमा कुछ आगे चलकर सूर्य को अँधेरे मे पटक देती है, जग मे अँधेरा ही अँधेरा छा देती है। इसलिये वह अत्यन्त निकृष्ट लालिमा है। परन्तु प्रातःकाल की लालिमा ऐसा नहीं करती है। वह कुछ ही देर बाद सूर्य को अत्यन्त शुद्ध प्रकाशमान बना देती है, जग मे भी प्रकाश ही प्रकाश फैला देती है। इसीलिये वह लालिमा बुरी नहीं है। क्योंकि, वह सूर्य को शुद्ध बनाने वाली है। उस लाली के बाद सूर्य अन्धकार से फसता नहीं है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानादिक मे राग उत्पन्न होने से जीव संसार विपय सम्बन्धी अशुभ रागवासना छोड़कर शुभ मे प्रवेश करता है और वही राग आगे चलकर जीव को शुद्ध बना देता है। इसलिये वह राग बुरा नहीं है किन्तु अच्छा है—ग्रहण करने लायक है। और इसीलिये साधुओं को तत्त्वज्ञान, श्रुतज्ञान तथा शास्त्राध्ययनादि मे प्रीति रखकर ज्ञान सम्पादन करना चाहिये। इसमे प्रीति रखना बुरा नहीं है। इसी बात को और स्पष्टतया कहते है। देखिये.—

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥ १२३ ॥

**अर्थः**— तप व श्रुतज्ञान के विषय मे उत्पन्न हुआ राग, संसार-विषय सम्बन्धी अन्धकार सदृश अशुभ राग का नाश करने वाला है। इसीलिये वह जीव को स्वर्ग मोक्षादि के उत्तम फल देने वाला है, सच्ची आत्मीय सपत्ति को बढ़ाने वाला है, आत्मा को शुद्ध बनाने वाला है। तब फिर ऐसे राग को उत्तम ही कहना चाहिये। जैसे सूर्य की प्रातःकाल सम्बन्धी लालिमा आगे चलकर सूर्य के प्रकाश व तेज को बढ़ाने वाली है, सूर्य को शुद्ध बनाने वाली है। इसलिये वह लालिमा सायंकाल की लालिमा की तरह सूर्य के लिये अहित का कारण नहीं है किन्तु हित-साधक है और इसीलिये वह ग्राह्य है। इसी प्रकार तप व श्रुतज्ञान-शास्त्राध्ययन में साधुओं को प्रीति बढ़ानी चाहिये। वह कालान्तर मे हितसाधक होती है।

जो इस प्रकार ज्ञानाराधन नहीं करते उनकी दशा आगे दिखते हैं।

अशुभ राग का दृष्टान्त सहित फल:—

**विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।**
**रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥ १२४ ॥**

**अर्थः**—सूर्य जब कि मध्याह्न के पसरे हुए शुद्ध प्रकाश की अवहेलना करके शाम के समय उस राग मे फंसता है कि जिससे आगे चलकर अन्धकार मे गड़प होना पड़े, तब उसका उदय नष्ट हो जाता है, उसे अस्त होना पड़ता है।

इसी प्रकार जो संयमी साधु तत्त्वज्ञानादिक अभ्युदय के कारणभूत विषयों में से तो अपनी प्रीति हटाता हो और तामसी वृत्ति को उत्पन्न करने वाले विषयों में प्रीति करने लगा हो तो वह साधु अवश्य अज्ञान मोहादिक अन्धकार मे फसकर नरकादि के दुःखों में जाकर पड़ता है।

**भावार्थः**—सूर्य की प्रातःकाल सम्बन्धी लालिमा सूर्य के उदय का कारण है, और सन्ध्याकाल सम्बन्धी अधकार मे फसाकर उसे गिरा देनेवाली है। क्योंकि, पूर्ण प्रकाशरूप शुद्ध अवस्था को पाकर भी उससे विमुख होकर जो रागान्ध बनता है उसने पाया हुआ उदय हाथ से खो दिया, यो कहना चाहिये। इसीलिये उसकी दुर्दशा

होना, हीन दशा में पड़ना साहजिक बात है। इसी प्रकार साधु भी जो तत्त्वज्ञानादिक अध्यात्म प्रकाश में साक्षात् पहुँच कर उससे विमुख होकर सन्ध्या राग की तरह मोह अज्ञान उत्पन्न करने वाले विषय राग मे आसक्त होता है उसकी दुर्गति होना साहजिक बात है। किन्तु जो अध्यात्म विचार तथा श्रुतज्ञानादिक मे प्रीति करता है, जिससे कि आत्मा की साक्षात् शुद्धि प्राप्त होकर संसार-क्लेश नष्ट होने वाले है और आत्मीय प्रतिबोध तो जिससे तत्काल ही प्राप्त होता है; वह प्रीति उस साधु के लिये आत्मोदय या शाश्वत सुख का कारण है। यह प्रीति सूर्य की प्रात:काल सम्बन्धी लाली के तुल्य है। इससे उदय व पूर्ण प्रकाश क्यो न उत्पन्न हो ?

यद्यपि शुद्ध दशा प्राप्त हो जाने पर आगामी उदय बढ़ाने-वाला प्रात:काल की लालिमातुल्य जो शुभ राग है वह भी त्याज्य है परन्तु जब तक शुद्ध दशा प्राप्त नहीं हुई हो तब तक वह ग्राह्य भी है। और जो सन्ध्याकाल के रागतुल्य विषय सम्बन्धी रागभाव है वह सदैव अहितकारी है, पापकर्म बढ़ाने वाला है। इसलिये सदा ही हेय है। किसी समय भी वह ग्राह्य नहीं हो सकता है। चारों आराधना पूर्ण हो चुकने पर फल ?—

**ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं,**
**चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गो गुणा रक्षकाः।**
**पन्थाश्च प्रगुणं शमाम्बुबहल[1]श्छाया दया भावना,**
**यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥१२५**

**अर्थः**—जब कोई मनुष्य कहीं जाने के लिये निकलता है तब उसे बहुत सी चीजों की जरूरत लगती है। वे सभी चीजे जब ठीक ठीक मिलती हैं तो वह मनुष्य बडे आराम के साथ अपनी जगह मे पहुँच जाता है, नहीं तो नहीं। वे चीजें इतनी हैं:— १ रास्ता दिखाने वाला, २ एक कोई साथीदार, ३ कुछ खर्चा व टोसा वगैरह, ४ सवारी, ५ बीच मे ठहरने के लिये पड़ाव की जगह, ६ रखवाले, ७ रास्ता सीधा, ८ रास्ते के बीच मे जगह जगह पानी व छाया का रहना ये आठ बातें रास्तागीर को बहुत ही जरूरी है। यदि

१ 'बहुल' ऐसा भी पाठ है।

इन आठों बातों की योग्यता रहे तो अभीष्ट स्थान को पहुँचने में कोई भी हरकत पैदा नही हो सकती है।

अब यहाँ साधु को रास्तागीर समझिये। वह मोक्ष को पहुँचना चाहता है। इसलिये उसे भी इन आठों बातों का सुभीता कर लेना चाहिये। यदि यह सुभीता हुआ तो उसके मोक्ष पहुँचने मे कुछ भी सन्देह व बाधा नहीं रहती। उन आठों में से एक मार्ग दिखलाने वाला तो सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। उसके होने से मार्ग के सभी बाधकों की खबर ठीक ठीक पड़ती रहती है। और जब कि सम्यग्ज्ञान हुआ तो सम्यग्दर्शन तो हुआ ही समझना चाहिए। क्योंकि, इसके बिना सम्यग्ज्ञान अकेला रहता ही नहीं है। इस प्रकार ये दोनों मार्ग दिखलाने वाले हुए। २ धर्म की लाज या विनय यह साथीदार का काम देने वाली है। ३ बहुत सा जो तप किया है वह मार्ग मे खर्चे का व टोसा वगैरह का काम देता है। ४ चारित्र से पालखी या सवारी का काम पूरा होता है। ५ बीच में ठहरने के लिये पड़ाव बहुत ही सुन्दर स्वर्ग स्थान है। ६ उत्तम-क्षमादि अनेक जो श्रेष्ठ गुण हैं उन्हें रखवाले समझिये। ७ कपट व माया-मिथ्या-निदान रूप तीन शल्यों को छोड़ने से मोक्ष का मार्ग सीधा-सरल हो जाता है। ८ रागादि परिणामों का उपशम या अभाव रहने से जो मन मे निर्मलता बढ़ती है वह ओतप्रोत जगह जगह पर जल भरा हुआ है और दया की लहलहाती हरी भरी डालियाँ वहाँ पर छाया दे रही हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये ऐसा प्रयाण यदि किया जाय तो वह साधु को निष्कंटक अवश्य अपने अभीष्ट मोक्षस्थान को पहुँचा सकता है। इन आठों बातों मे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र व तप ये चार मुख्य साधन हैं और बाकी इन्हीं चारों के अंग उपांग हैं। इसलिये यदि उक्त चार आराधनाओं को ही मोक्षप्राप्ति करादेने वाले मुख्य कारण कहे तो भी ठीक ही है। मोक्ष प्राप्त होने मे बाधक :—

मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टं तदा सुस्फुटं,
यासामर्धविलोकनैरपि जगद्दन्दह्यते सर्वतः।
तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः,
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद्गोचरं मास्म गाः ॥१२६

अर्थः—हमने अच्छी तरह देख लिया कि जिनके देखने मात्र से विष चढ़ जाता है ऐसे दृष्टिविष जाति के सर्प भी होते हैं, यह कहना सर्वथा झूँठ है। असली दृष्टिविष सर्प स्त्रियां हैं कि जिनके आधे उघड़े हुए नेत्र ही कामवेदना उत्पन्न करके मनुष्य के सर्वाङ्ग को जलाने लगते हैं। इसीलिये उन स्त्रियों के वशीभूत सारा ही जग हो रहा है। जो उनसे विरुद्ध होना चाहता है उस पर उन्हें क्रोध आता है और वे उसे हर तरह अपने वश करने की चेष्टा करती हैं तथा दुःख देती हैं। तू भी उनसे विरुद्ध हुआ है इसलिये तेरे ऊपर भी वे क्रुद्ध हुई हैं और अपने विष का असर डालने के लिये फिर रही हैं। ये स्त्रियां असली विष हैं। तू इनके दृष्टिगोचर हुआ कि उस विष ने तेरे ऊपर असर किया। और इस विष का नतीजा इतना ही है कि जीव विषयों मे मोहित होकर मोक्षमार्ग से पतित हो जाता है। इसलिये यदि तुझे मोक्षमार्ग में रहकर मुक्ति प्राप्त करना है तो उनके दृष्टि-गोचर कभी मत हो। यह एक मुख्य वाधक कारण मोक्ष प्राप्त करने वाले के लिये समझना चाहिये। क्योंकि, ये स्त्रिया सर्प से भी अधिक भयंकर हैं। देखो:—

क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दष्ट्वैव काले क्वचित्,
तेषामौषधयश्च सन्ति वहवः सद्यो विषव्युच्छिदः।
हन्युः स्त्रीभुजगाः परेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा,
योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ॥१२७

अर्थः—सर्प कभी क्रुद्ध हो तो कदाचित् प्राण लेता है और वह भी मनुष्य को काट सके तो। यदि काटने का मौका न मिले तो क्रुद्ध होने पर भी कुछ कर नहीं सकता है। और फिर भी उसका विष दूर करने की ऐसी औषधियां मिलती हैं कि जिनसे तत्काल विष दूर हो जाय। और सर्प कभी एकाध वार किसी को काटते होंगे। हरएक मनुष्य को सर्प काटते नहीं फिरते हैं। परन्तु स्त्री, यह ऐसा सर्प है कि इसने जीवों को अनादि काल से आज तक सदा डसा है और अव यहाँ भी डसती है। क्रुद्ध होने पर भी डसती हैं, प्रसन्न रहने पर भी डसती हैं। वड़े वड़े योगीश्वरों को भी डसती हैं। इनके काटने से कोई भी जगवासी वचा नहीं है। इन्हें जो देखले उसे भी इनका विष चढ़ता है और ये जिसे देखलें उसे भी

१ वचनमतन्त्रमविवक्षितत्वात्।

विष चढ़ जाता है। और इनका विष इतना उग्र है कि उसके दूर करने वाली जग में कोई औषधि ही नहीं है। पर तो भी मनुष्य जितने सर्पों से डरते है उतने स्त्रियों से नहीं डरते, यह उनकी भूल है। स्त्रियों के देखने मात्र उनका विष चढ़ता है इसलिये ये स्त्रियां ही सबसे अधिक भयंकर सर्प हैं कि जिनकी काम-विषबाधा शरीर से, मन मे भिदने पर कोई उपाय तक चलता नहीं है।

इसके सिवा सर्पों से यह एक बात स्त्रियों मे और भी अधिक है कि वे क्रोध आने पर तो अनेक तरह मारने का प्रयत्न करती ही हैं किन्तु प्रसन्न रहने पर भी मनुष्यों को मार ही डालती हैं। क्रुद्ध हों तो विष देकर, दूसरे किसी मनुष्य से झगड़ा कराकर अथवा अन्य किसी उपाय से मनुष्य को मार डालती है। क्रोध मे आकर इनका मारना तो वैसा ही समझना चाहिए जैसा कि हर कोई एक दूसरे को द्वेष से मारता है। परन्तु प्रसन्न होकर भी ये मारती हैं यह आश्चर्य है। प्रसन्न होने पर मनुष्य इनके मोह मे फसता है, इनके वशीभूत हो जाता है, जिससे कि इनकी सुश्रूषा करने मे व विषय भोग की पूर्ति के लिए धन कमाने आदि आकुलताओं में मनुष्य को व्यग्र होना पड़ता है। मनुष्य इसमे इतना व्यग्र होता है कि अपने सुख की कुछ परवाह तक नहीं रहती। इसी से इसमे फसे फसे जन्म बिता देता है, रोगी हो जाता है, मानसिक व्यथाएं बढ़ने पर मर तक जाता है। सम्पूर्ण शरीर का मुख्य आश्रयभूत जो वीर्य उसका विषय भोग मे क्षय होने से मरण हो जाना तो साधारण बात है। इस प्रकार स्त्रियाँ प्रसन्नता व क्रोध इन दोनों अवस्थाओं मे मनुष्य के प्राण हरने वाली है। इनके सम्बन्ध से आकुलता बढ़ने से व मोहित होने से मनुष्य अपने आत्मकल्याण का मार्ग शोध भी नहीं सकता है। यदि समझले तो भी उस मार्ग में चल नहीं सकता है। इसलिए कल्याण से वंचित रह जाता है। यह भी एक मरण ही समझना चाहिए।

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं,
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्तामपि प्रस्फुटं,
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥१२८

अर्थः—यदि तुझे मुक्ति की इच्छा है तो ससार की स्त्रियों का सम्बन्ध छोड़ दे। क्योंकि मुक्ति को भी एक स्त्री के तुल्य ही समझना चाहिए। स्त्रियों मे परस्पर ईर्ष्या रहती है। कोई भी स्त्री अपने पुरुष के साथ किसी दूसरी स्त्री का सम्बन्ध पसन्द नहीं करती वह पुरुष यदि दूसरी स्त्री के साथ स्नेह करता दीखे तो वह उसे छोड़ देती है। मुक्ति का भी यही स्वभाव है। यह दूसरी स्त्रियों के साथ मोक्ष प्रेमी पुरुष को प्रेम नहीं करने देती। यदि वह दूसरी तरफ प्रेम करता है तो यह उसे छोड़ देती है। ठीक ही है, जो जीव संसार के स्त्री पुत्रादि मे आसक्त होगा उसे मुक्ति कहाँ से प्राप्त होगी।

यह मुक्ति एक उत्तम सुन्दर सती स्त्री के तुल्य है। सुन्दर सती स्त्री को दुर्लभ समझ कर सभी कोई प्रेमपूर्वक देखते हैं। मुक्ति को भी जो अनुपम सुख का कारण समझ चुके हैं वे अति प्रेम के साथ चाहते हैं। सती स्त्री व्यभिचारी जनों को अलभ्य होती है। मुक्ति भी उसे अलभ्य समझनी चाहिए कि जो अनेक अन्य संसार की स्त्रियों मे प्रेम कर रहा हो। संसार की स्त्रियां धन रूप वगैरह देखकर प्रेम करती है पर मुक्ति का प्रेम सद्गुण देखकर होता है। अर्थात् इसका लाभ धन के या शरीर सम्बन्धी पराक्रमादि के होने से इतर स्त्रियों की तरह नहीं हो सकता है। ज्ञान चारित्रादि गुण वाला पुरुष ही इसे पसन्द पड़ता है।

यदि तुझे इसकी सच्ची चाह है तो तू ज्ञान चारित्रादि आभूषणों को धारण कर। स्त्रियां आभूषणों के बिना वश नहीं होती हैं मुक्ति के लिए ज्ञान चारित्रादि सद्गुण ही आभूषण हैं। इन आभूषणों से मुक्ति को प्रसन्न कर और उसी मे केवल प्रेम उत्पन्न कर। इस प्रकार तू यदि अन्य स्त्रियों का सहवास छोडकर इस मुक्ति की आराधना करेगा तो मुक्ति तेरी अवश्य हो जायगी। भावार्थ इतना ही है कि जीवों को मुक्ति प्राप्त करने मे स्त्रियों के साथ का प्रेम ही एक बड़ा प्रबल बाधक कारण है। इसलिए उस बाधक कारण को हटाना सब मे प्रथम आवश्यक है। एक मनुष्य संसार मे प्रेम रखता रहे और मुक्ति का भी प्रेमपात्र बने यह बात संभव नहीं है।

वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरैः,—
वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः।

**इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेपि पिपासवो,**
**विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः ॥१२६**

**अर्थः**—स्त्रियां एक सरोवर के तुल्य हैं सरोवर में स्वच्छ जल भरा रहता है, बीच बीच में लहरें उठा करती हैं, कमल फूले रहते हैं। भीतर मगरादि भयंकर जन्तु भी छिपे रहते हैं, जो मौका पाकर मनुष्य को निगल जाते हैं। परन्तु उनके सपाटे में आते वे ही मनुष्य हैं जो ऊपरी मनोहर दृश्य देखकर उसके देखने में लुब्ध हुए वहां जाकर किनारे पर खड़े होते हैं। और जो यह नहीं समझते हैं कि गहरे पानी मे कहीं कहीं पर मगर रहते हैं जो कि आदमियों को गिल जाते हैं। जो पानी के भीतरी इस छिपे हुए धोखे को समझते है वे वहां खड़े भी नहीं होते हैं।

इधर स्त्रियों में भी यही बात है। वे जो वचन बोलती हैं वह जल समझना चाहिए। बड़े बड़े सरोवरों का जल अति स्वच्छ रहता है। इनके वचनों मे भी साथ ही साथ मन्द मन्द हास्य उत्पन्न होता है जो कि अति स्वच्छ जान पड़ता है। कवियों ने हास्य का वर्णन स्वच्छ ही माना है। इस वचन के बीच मे लहरों के समान अति चंचल विनश्वर विषयसुख प्रगट होता रहता है। स्त्रियों के मुख तो कमलों के समान माने ही जाते हैं। इसलिए कमलों की भी यहाॅ कमी नहीं है। इस प्रकार स्त्रियों का बाहिरी स्वरूप ठीक सरोवरों के ही तुल्य रमणीय रहता है। पर साथ ही जो सरोवरों मे जलचर जीवों का संचार रहता है वह भी यहाॅ कम नहीं है। इन्द्रियों के विषय मगरादि जलचर प्राणियों से भी अधिक भयंकर हैं, जो कि स्त्रियों के साथ पूर्णतया वास करते है, उनके भीतर छिपे हुए सदा मुख फाड़े हुए तयार रहते हैं। जो भोले मनुष्य केवल बाहिरी सौन्दर्य देखकर उनके पास जाकर अपनी तृप्ति करना चाहते हैं वे जाते ही उनमें ऐसे गड़प होते हैं कि फिर बाहिर बच कर नहीं आ सकते हैं, उन्हीं के भीतर प्राण गमाते हैं। आत्मकल्याण से वंचित होकर वे दुर्गति के पात्र बनते है।

अर्थात् विषयसुखों में मग्न होने वाले मनुष्य आत्मबल व ज्ञानादि आत्मीय सम्पत्ति को खो बैठते हैं, जो कि मरने से भी अधिक अनिष्ट है। इसलिए आत्मा की सर्वोच्च उन्नति करने वाले व

मोक्ष की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को स्त्रियों के बन्धन से बचना चाहिए। स्त्रियों का सहवास करना मानों एक जंजाल में फसना है। अथवा जैसे गोरखधन्दा ऊपर से देखने पर सीधासा दीख पड़ता है पर उससे हाथ लगाया कि उसमें और भी अधिक फन्दे पड़ जाते हैं ठीक इसी तरह, स्त्रियों के बाह्य रूप को सुन्दर रमणीय व सरल सीधा देखकर जो मन प्रसन्न करने के लिए हाथ लगाते हैं वे फिर वहाँ से छुटकारा नहीं पा सकते हैं। ऊपर से जैसा वह रूप उन्हें सीधासा दीखता था वैसा ह।ंभीतर से अधिक द्वन्द-फन्द से भरा हुआ दीखने लगता है। उस समय उनकी हालत 'भई गति सांप-छछूंदर की सी' ऐसी हो जाती है।

इनके भी पास जाकर फसते कौन हैं? वे ही, जिनमे कि बुद्धि नहीं है। अति मूर्ख मनुष्य स्त्रियों के सुन्दर अगों को देखकर मोहित होते हैं, उनके हृदय मे कामवासना उत्पन्न होती है। इसी-लिए उनके साथ प्रेम करना चाहते हैं। परन्तु वे यह नहीं समझते हैं कि इनके शरीर के भीतर प्रचण्ड काम बैठा हुआ है। स्पर्श किया या उनकी तरफ देखा भी कि वह अपने पंजों से झपट कर हमें ऐसा दबावेगा कि फिर वहाँ से छूटना असभव है। यह समझ न होने से विचारे भोले जीव स्नेह व उन्माद-तृष्णा के वशीभूत होकर उन स्त्रियों को अपनाना चाहते हैं और इस इच्छा से वहाँ जाते हैं कि हमारी यह कामतृष्णा पूर्ण होगी। परन्तु वहाँ जाते ही परवश पड़ जाते हैं, अपने कल्याण के शेष सारे काम छोड़ बैठते हैं, उन विषयों में विह्वल व अचेत हो पड़ते हैं। और जो वहाँ के भयंकर इंगित को समझते हैं वे वहाँ जाते ही नहीं। वहाँ न फसकर अपने कल्याण मे लगते हैं। और जो उसमें न फसकर अपने हित साधने मे सावधान रहते हैं वे ही दुःखों से मुक्ति प्राप्त करते हैं।

पापिष्ठैर्जगतीविधीतसभितः प्रज्वाल्य रागानलं,
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः।
हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं,
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः ॥१३०॥

**अर्थः**—काम, यह सारे शिकारियों का राजा है और इद्रिय उसके सेवक है। जब कि काम स्वयं शिकारियो का राजा है तो

सेवक तो शिकारी होने ही चाहिये। ये सेवक अत्यन्त दुष्ट, क्रूर, पापी, भयानक, क्रोध के आवेश में भरे रहते हैं। इनका काम है कि शिकार को घेर घेर कर अपने स्वामी के पास लावें। शिकार को पकड़ने की जगह स्त्री को बना रक्खा है। कपट से इस स्त्री की आकृति ऐसी बनाई है कि देखने से वह सुख प्राप्त होने की जगह भासने लगती है। इस शिकारी के लिये जग के सारे ही जीव हरिण या शिकार हैं। जब शिकार यों हाथ नही आती तब शिकार के छिपने के बिडों के आस पास शिकारी लोग आग लगा देते हैं। तब बिचारी शिकार डरकर घबराकर निकल भागती है। बस, वे शिकारी घेरकर पकड़ने की जगह मे रेटकर ले आते हैं जहां से कि फिर बचना असभव होता है। ये इन्द्रिय शिकारी भी जगवासी जनों के चौगिर्द आग के समान विषयसंबंधी रागभाव उद्दीप्त करने की चेष्टा करते हैं। जब जीव अनेक प्रकार के विषयों को देख-देख कर राग के वश दुःखी हो जाते हैं तो स्त्री के शरीर को विश्राम का स्थान समझकर वहाँ आ सफते हैं। बस, वह तो उनके बध होने का ही स्थान है। वहां आये कि काम-व्याध अपने संमोहनादि तीक्ष्ण बाणों से ऐसा उन्हें जर्जरित करता है कि वे अपने चेतना को ठिकाने नहीं रख सकते। ऐसी अवस्था से वे विचारे जीव शुद्ध चैतन्य प्राणों को खोकर नरकादि कुगतियों मे जन्म लेते हैं; जहां से दुःख का पार पाना अति कठिन है। भावार्थ, जीवों को कुगतियों मे पहुँचाकर दुःख देने का कारण स्त्री है। इसलिये आत्मकल्याण की इच्छा करने वालों को इनसे बचना चाहिये। इनमे फसना हो तो कल्याण की आशा छोड़ देनी चाहिये।

तपस्वी होकर विचलित होने वालों को समझाते हैं.—

अपत्रप तपोग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं,<br>
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि।<br>
वृथा व्रजसि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो[1],<br>
निसर्गतरलाः स्त्रियस्तदिह ताः स्फुटं बिभ्यति॥ १३१॥

---

१ काकुवचनमिदम्। प्रयोजकप्रयोगोपि वाक्यसौन्दर्यवशात्प्रयोज्ये आनीय व्याख्यात इति न दोषाय।

**अर्थः**—अरे निर्लज्ज, तू तपस्वी बन चुका है। एक तो तुझे अपने पद की तरफ लक्ष्य देना चाहिये। दूसरे, यदि तेने चाहा भी तो भी स्त्रियां तुझे कब पसंद करेंगी? तू अपने शरीर की तरफ तो देख तप करते करते तेरा शरीर अग्नि से झुलसकर आधे जले हुए मुर्दे की तरह दीखने लगा है। देखते ही भय उत्पन्न होता है। भय उत्पन्न कदाचित् किसी को न हो तो भी देखते ही ग्लानि हुए बिना तो रहेगी नहीं। ऐसे शरीर को देखकर स्त्रिया क्या डरेंगी नहीं? अवश्य डर जायंगी। स्त्रियां सहज ही भयभीत होती हैं। इसलिये तेरा शरीर देखकर वे अवश्य डरेंगी। तब? फल क्या होगा? तू उनके साथ प्रेम करने जायगा और वे तुझे देखना भी पसद नहीं करेंगी। या तो तेरा अपमान करके तुझे हटा देंगी, नहीं तो वे कहीं छिप जायंगी। इससे होगा क्या? तेरा मतलब तो सधेगा नहीं; उलटा अपमान सहना पड़ेगा। जब कि यह बात है तो व्यर्थ उनके साथ प्रेम उत्पन्न कर तू क्यों लज्जित बनना चाहता है? क्यों अपने आत्मकल्याण को भी हाथ से खोता है? इतने उत्कृष्ट पद को क्यों निष्कारण बट्टा लगाता है? होना जाना तो कुछ है ही नहीं।

३ श्लोको में स्त्रियों के अंतरंग दोषः—

**उत्तुङ्गसंगतकुचाचलदुर्गदूर,—**
**माराद्वलित्रयसरिद्विषमावतारम्।**
**रोमावलीकुसृतमार्गमनङ्गमूढाः,**
**कान्ताकटीविवरमेत्य न[2] केत्र खिन्नाः॥ १३२॥**

**अर्थः**—स्त्रियों के अति उन्नत कठोर जो कुच हैं वे मानों पर्वतों पर के किले हैं। अरे भाई, कामी पुरुषों को स्त्रियों का योनिस्थान ही

---

१ तपस्वी होकर जो फिर स्त्री में मोहित होने लगा हो उसके लिये यह उपदेश है। संभव है कि जिनके लिये यह ग्रंथ उद्देश करके बनाया है वे महात्मा ही शायद स्त्रियों में या अपनी स्त्री में पुनः प्रेम प्रगट करने लगे हों। नहीं तो ठीक साधु को संबोध कर कहने की ऐसी जरूरत कम थी।

२ अत्रापि काकु। तेन 'सर्वेप्यत्र स्थाने आगत्य खिन्ना भवन्त्येष' इत्यर्थो ग्राह्यः। 'केर्थखिन्ना' इत्यपि पाठोस्ति। तत्र अर्थैः प्राणैः खिन्नाः के न भवन्तीत्यर्थोवसीयते।

सबसे अधिक प्रिय होता है। वही उनके लिये काम सेवन का अंग है। पर उन्हें ये कुच वीच मे ऐसे आड़ आते हैं कि जैसे किसी शत्रु-राजा को जीतकर पकड़ने के वीच मे उसका पर्वत पर का दुर्भेद्य किला। यदि वह किला पार न हो तो शत्रु-राजा तक पहुँचना अति कठिन हो जाता है। सिवा इसके, योनिस्थान के पास मे ही त्रिबली-रूप नदियां वह रही हैं। इनका पार होना भी कठिन है। ये दुष्कर्म करने वाले के आड़ आती हैं। इनके भी सिवा जो आस-पास वहुत से रोम उठे रहते हैं वे भी योनिस्थान तक पहुँचने में ऐसे आड़ आते है कि जैसे किसी स्थान के वीच मार्ग में सघन ऊगे हुए वृक्षों के झुण्ड तहां तक पहुँचने मे किसी को आड़ आते हों। अव कहिये, वहां तक यदि कोइ मनुष्य किसी तरह पहुँच भी जाय तो भी क्या खेदखिन्न न होगा? इस प्रकार देखने से इस काम कुचेष्टा के करने मे अनेक खेद ही खेद जान पड़ते हैं। तो भी इस सब दुःख की परवाह न करके जो इस कुचेष्टा मे प्रवृत्त होते है, कहना चाहिये कि वे काम की तीव्र वेदना से विह्वल हो रहे हैं। इसलिये उन्होंने इन दु:खो का विचार नहीं किया है। जो बुद्धिमान है वे ऐसे दु:खों के वीच कभी नहीं फसते हैं।

**वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य,**
**नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य ।**
**प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्र,—**
**माहुर्बुधा जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः ॥ १३३ ॥**

**अर्थः**—वीर्य एक निन्द्य व ग्लानि उत्पन्न करने वाली चीज है। इसीलिये इसकी कदर कूड़े कचड़े की सी व मलमूत्र की सी समझना चाहिये। स्त्रियों की योनि, जिसे कि कामी जन पसंद करते है वह क्या है? मलमूत्र या कूड़ा कचड़ा डालने की जगह है। अथवा, काम की तीव्र वेदना होने पर मनुष्य सभोग करते है इस-लिए लिंग मानो एक काम देव का शस्त्र है कि जिसे वह उद्वेग मे आता है तव फेंकता है। जब कि ऐसा है तो योनि मानो उस शस्त्र का आघात होने से विदीर्ण हुइ घाव की जगह है।

अथवा, यह मोक्षरूप ऊँचे पर्वत पर चढ़ने वालों को गिरा देने वाला खड्डा है। पर्वतों के आजू-वाजुओ मे जो कहीं कही पर बने

वड़े खड्डे होते हैं। उनमें गिर जाने पर मनुष्य फिर वहां से पर्वत की चोटी तक नहीं पहुँच पाता। इसलिये उन खड्डों से सभी रास्तागीर बचकर निकलते हैं। मोक्ष-पर्वत पर चढ़ने के लिये निकले हुए जीवों के लिये यह भी एक वहा तक पहुँचने मे रुकावट करने वाला खड्डा है। जो मोक्ष पहुँचना चाहते हैं वे इस खड्डे से वहुत ही वच करके निकलते हैं। नहीं तो यदि, इस खड्डे में पड़ जायँ तो फिर वहा से मोक्ष तक पहुँचना कैसा ?

अथवा, काम यह एक वड़ा भयंकर सर्प है। योनि, यह उसके रहने का विल है। जो मनुष्य इसमें क्रीड़ा करना चाहता है उसे यह भीतर वैठा हुआ काम-सर्प अवश्य डसता है। इसी से तो कामी मनुष्य विह्वल होते हैं व हिताहित के विचार से शून्य होते हैं, मोहित होते हैं।

विद्वान् मनुष्यों ने अनेक प्रकार की तर्कणा करके यह वात तय की है कि स्त्रियों के साथ रति करने से ये दु.ख होते हैं और स्त्रियों का योनि स्थान इस प्रकार दुःख का निदान कारण है। और भी देखिये.—

**अध्यास्यापि तपोवनं वत परे नारीकटीकोटरे,**
**व्याकृष्टा विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा।**
**प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च यो,**
**व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्मन्ये जगद्वञ्चितम् ॥ १३४ ॥**

**अर्थः**—जो विचारे धर्म से वंचित हैं वे आत्मकल्याण की इच्छा से यदि तपोवन मे भी जा चुके हों पर वहां भी उन्हें काम सताता ही है। वहां भी वे स्त्रियों के योनि स्थान में जाकर पड़ते ही हैं। क्यों न हो ? जब वे विषयों से सताये जाते हैं तव वे परवश उधर खिचते हैं। इसीलिये विचारे तपोवनों में रहकर भी स्त्रियों को छोड़ नहीं सकते हैं। जैसे वनों मे विचरने वाला हस्ती, जव विषय उसे सताते हैं तव अपने ही पकड़ने के लिये वनाये हुए खड्डे में विषयों के वश जाकर गिर पड़ता है। क्या उसे वहां कोई खींच कर डालता है ? नहीं, अपने आप ही उसमें विषयों के पराधीन होकर जा पड़ता है।

मनुष्य तो विना प्रेरणा व विना उपदेश के ही इस प्रकार स्त्रियों में आसक्त होकर हित साधने से भ्रष्ट हो रहे हैं। किन्तु इतने पर भी वहुत से कुकवियों ने उलटी इसकी प्रशंसा की है। जिस योनि मे से मनुष्य जन्म लेता है वह योनि मनुष्य की जननी कहनी चाहिये। पर उसी मे प्रीति करने को जो कवि उत्साहित करते हैं उनकी नीचता का क्या ठिकाना है? ऐसे ही नीच मनुष्यों के वचनों से जग फस रहा है। हमारा अनुमान है कि यदि ऐसे मनुष्यों के उपदेश जीवों को सुनने मे न आये होते तो जीव ऐसे निकृष्ट स्त्रियों के शरीर मे प्रेम के वलि होकर न पड़ते। यह सव दुष्ट प्रवृत्ति का प्रचार उन्हीं नीच जनों की निरर्गल वासनाओं से तथा उपदेशों से हुआ है। इन ठगों के वहकाने में कभी किसी को न पड़ना चाहिये। स्त्री, विप से भी अधिक दुःखदायक है। देखो:—

**कण्ठस्थः कालकूटोपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।**
**सोपि दन्दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विपमं विषम् ॥ १३५ ॥**

अर्थः—लोग कालकूट नाम के विष को वड़ा ही जालिम वताते हैं। उसे खाते ही मनुष्य प्राणान्त होता है। साथ ही इसके कुछ लोग यह भी कहते हैं कि महादेव ने अपने गले मे उसे वहुत दिनों तक इसलिये रक्खा कि वह वहुत जालिम है। लोगों को इससे दुःख न हो। जव यह लोक में रहेगा ही नहीं तो लोगों को इससे दुःख भी कैसे होगा? गले मे उसे रखते हुए भी महादेव को उससे कुछ पीड़ा नहीं हुई। इससे मालूम होता है कि शक्तिशाली मनुष्यों पर उसका असर न पड़ पाया। यह सव ठीक, परन्तु इतने वड़े शक्तिशाली होकर भी महादेव स्त्रियों के वश तो हो ही गये। उनकी स्त्री पार्वती ने उन्हें जैसा चाहा नचाया। और भी उनकी दुर्दशा स्त्रियों द्वारा क्या हुई वह सव ग्रन्थों से प्रसिद्ध होती है। अव कहिये, जालिम विष कालकूट रहा कि स्त्रियां? स्त्रियां सवसे अधिक विकट विप हैं। उनके सामने कालकूट विष कोई चीज नहीं है। इनके सहवास से मनुष्य जीता रह कर भी आत्मकल्याण के लिये मृतक सदृश वन जाता है। इसीलिये जो कल्याण करने की इच्छा रखते हों वे चाहे कालकूट से न डरें पर स्त्रियों से अवश्य डरना चाहिये।

इस प्रकार देखने से स्त्री के साथ प्रीति करना मानो मोक्ष-मार्ग से पराङ्मुख होकर संसार मे फसता है। तो भी कुछ लोग

इसमे प्राणियों को फसाने के लिये स्त्री को अनेक प्रकार से हितावह बनाना चाहते हैं। लोगों की इसमे रुचि उत्पन्न हो इसके लिये संसार के उत्तम से उत्तम वस्तुओं से इसे बढ़कर ठहराने का प्रयत्न करते हैं। अनेक उत्तम वस्तुओं की इससे तुलना कर दिखाते हैं। देखो.—

तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे,
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।
ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी,
मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः ॥ १३६ ॥

अर्थः—स्त्रियों का शरीर, है तो सारे दोषों की असली खान; तो भी विषयासक्त मनुष्य इसके एक एक अंग को चंद्रादि के तुल्य उत्कृष्ट समझते हैं और ऐसा कहकर दूसरे भोले मनुष्यों को बहकाते हैं। मुख को अति आनन्ददायक होने से चंद्र समझते हैं। मास-पिंडमय स्तनों को सुवर्ण के या अमृत के भरे हुए कलश कहते हैं। कमलों के तुल्य आंखों को मानते हैं। दांतों को हीरे समझते हैं। इस प्रकार उत्तमोत्तम पदार्थों के तुल्य युवती के शरीर को बनाकर लोगों को फसाते हैं। लोग भी फसते हैं।

काम यह सब से भी अधिक उन्माद बढ़ाने वाला है, विवेक का भ्रंश करने वाला है। इसीलिये जिनको काम ने सताया हो उन्हें विवेक कहा से होगा ? यदि विवेक होता तो इतना विचार भी वे न करते कि हाड़ मास आदि अपवित्र वस्तुओं से बने हुए शरीर मे चन्द्रादि की सी योग्यता कहा से आ सकती है ? अथवा[1], यदि

---

[1] पन्नगवेणी चन्द्र सु आनन कंचनकलस युगलकुचभार।
लट्टू कवि सब हुए जगत के देख मेरा यह रूप अपार॥
यह एक कवि का वचन है। यदि सचमुच के चन्द्रमा आदि की ही आकृति मुखादि की जगह बना दी जाय तो कुछ भी सुन्दरता नहीं दीखती। एक तो इसलिये चन्द्रादि की उपमा केवल फसाने के सबब से दी जाती है। दूसरे, यदि चन्द्रादि की तुल्यता हो भी, तो भी इतने से उसमें प्रेमपात्रता क्यों होनी चाहिए ? क्या पन्नग कोई रमणीय वस्तु है ? इस पर कुछ लोगों का कहना है कि एकेक गुण के साथ उपमा है, न कि सर्वथा। तो भी इतने से स्त्री प्रेमपात्र नहीं हो सकती। जिन चीजों की इसे उपमा दी जाती हैं उन चीजों से ही प्रेम करना उत्कृष्ट तथा ठीक है। क्योंकि, वे असल हैं और यह केवल उनकी नकल है।

चन्द्रादिकों के तुल्य होने से स्त्री को प्रेम का पात्र मानना हो तो उन असली चीजों से ही क्यों न प्रेम करो। आखिर को वे असल हैं और यह उनके एक एक गुण की ही तुल्यता रखती है। जिसका एक एक गुण स्त्री मे रहने से स्त्री प्रेम का पात्र हो सकती है उसके सर्व निर्दोष गुण जिसमे मिलते हो वह मुख्य पदार्थ ही क्यों न प्रेम का पात्र हो। सिवा इसके एक दो गुणों की तुलना रहते हुए भी जव कि वाकी अनेक दोष स्त्री मे भरे हुए हैं तो वह प्रेम का पात्र कैसे वन सकती है? पर यह सूझता किसको है? कामान्ध हुए जनों को यह विचार कदापि नहीं उठ सकता है। काम जीवों को असली अधा या विवेकशून्य बनाने वाला है। पर यह काम वेदना ज्ञानियों को पैदा नहीं होती। देखो—

प्रियामनुभवत् स्वयं भवति कातरं केवलं,
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः,
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥१३७

**अर्थः**—कितने ही लोगों का यह कहना रहता है कि मन वड़ा ही बलाढ्य है। जव उसकी प्रवृत्ति विषयों की तरफ होने लगती है तव उसे कोई भी रोक नहीं सकता। इसीलिये चाहे स्त्री का सम्बन्ध परिपाक मे दुःखदायक ही हो पर उससे निवृत्ति होना असम्भव है। इस शंका का उत्तर—

जो स्त्रियों को आप तो भोग न सकता हो किन्तु दूसरों को भोगते देखकर प्रसन्न होता हो और स्वयं भोग न सकने पर भी इच्छा भोगनेवाले से भी अधिक रखता हो वह नपुंसक या हीजड़ा कहा जाता है। वह वास्तव मे कायर होता है। शूरता के काम उसके हाथ से कभी नहीं वन पाते हैं। यह वात जगप्रसिद्ध है।

मन, यह भी नपुंसक ही है। मन यह शब्द भी नपुंसक है व मन जिसको कहते है वह भी नपुंसक ही है। मन की जितनी क्रियाएँ है वे सब निस्सत्त्व नपुंसक प्राणियों की सी ही है। देखिए, आप तो यह स्त्रियों को भोग भी नहीं सकता है। भोगने वाले इंद्रिय दूसरे ही हैं। उन्हें देख-देख कर केवल प्रसन्न होता है। तो भी भोगने की इच्छा उन इन्द्रियों से भी अधिक सदा वनी रहती है।

इसलिये मन, यह केवल शब्द दृष्टि से ही नपुंसक नहीं है किन्तु काम भी इसके कुल निस्सत्व नपुंसक के से ही हैं। तब ? यह हर तरह नपुंसक ही समझना चाहिये। नपुंसक के हाथ से पुरुपार्थी पुरुप कभी जीता नहीं जा सकता है। पुरुष क्या पुरुपार्थी है ? हाँ।

जो मोक्ष पुरुपार्थ मे लगने वाला व उसको हितकारी समझने वाला पुरुष है वही सच्चा विवेकी है और वही सच्चा पुरुप है। जब कि वह विवेकी है तो उसके हाथ से मोक्ष--पुरुपार्थ की सिद्धि होनी ही चाहिए। इस प्रकार जब कि वह पुरुप अपने यथार्थ कर्तव्य में प्रवृत्त हो रहा हो और उस प्रवृत्ति मे इतना दृढ़ रहे कि विपयों के सम्बन्ध उसे उस प्रवृत्ति से डिगा न सकें तो वह पुरुप सच्चा पुरुष है,—पुरुप के कर्तव्य को पालने वाला होने से पुरुपार्थ का सच्चा आश्रय है। और पुरुप यह शब्द तो पुलिग है ही। इस प्रकार जो पुरुप विवेकी है व सच्चे मार्ग मे प्रवृत्ति करके मोक्ष--पुरुपार्थ को साधना चाहता है वह शब्द व अर्थ दोनों तरह से असली पुरुप है। ऐसा जो पुरुप होगा उसे दोनों प्रकार से नपुंसक मन क्या कभी भी अपने वश कर सकता है ? नहीं।

**भावार्थः**—पुरुप यदि चाहे कि मैं मोक्ष की सिद्धि निस्संशय करूँ तो उसे मन कभी विपयों में फसा नहीं सकता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि पुरुप ने मोक्ष प्राप्त करने की तरफ तथा विषयों के छोड़ने की तरफ उपयोग ही न लगाया हो।, नहीं तो उसका स्त्रीलिंग धारण करने वाली स्त्री तथा नपुसक मन ये दोनों कुछ नहीं कर सकते हैं।

यह सब व्याजोक्ति है। यथार्थ मे अभिप्राय इतना ही है कि मन कुछ, पुरुप का स्वामी नहीं है किन्तु पुरुप मन का स्वामी है। मन कोई स्वतन्त्र निराला चीज नहीं है। केवल विचार करने की जो इच्छा व शक्ति प्राप्त होना है वही मन है। वह शक्ति व इच्छा जीव की है,—जीव ही उसे प्रगट करता है। इसलिये जिस जीवने जिस तरफ दृढ़ संकल्प किया हो उस जीव का मन वही या उसी तरफ है ऐसा कहना चाहिये। और वह यदि जोरदार हो तो कालान्तर में भी दूसरी तरफ वह क्यों झुकेगा ?। बस, जिस जीव ने मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ सकल्प कर लिया है उसका वही या उधर ही जब कि मन है तो वह जीव मोक्ष साधने से क्यों हटेगा ?

और जब तक मोक्ष साधने से हटेगा नहीं तब तक स्त्री आदि विषयों में उसके मन की प्रवृत्ति कभी नहीं आ सकती है। इसलिये आगामी विषयों मे मन झुक जाने के भय से मोक्ष साधने मे कमी व उत्साहघात कभी न करना चाहिये। तो क्या करना चाहिये ?

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरु तपः पूज्यमत्रापि यस्मात्,
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन्नलघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम्।
राज्यात्तस्मात् प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं,
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥१३८

अर्थः—राजा के हाथ से दुष्टों का निग्रह होकर शिष्टों का पालन होता है इसलिये राज्य करना एक बड़ा धर्म है और इसीलिये राज्य पूज्य भी है। जिस तपस्वी को शास्त्र का अच्छा ज्ञान होता है उसका तप भी पूज्य होता है। इस अपेक्षा से यदि देखा जाय तो पूज्य राज्य भी है व तप भी है। परन्तु राज्य को भी छोड़ कर यदि कोई तप करने लगा हो तो वह और भी पूज्य समझा जाता है। किन्तु तपस्वी बनकर फिर यदि तप छोड़कर राजा होना चाहे या राज्यपद पर आ बैठा हो तो वह पूज्य से अपूज्य बनता है। उसे लोग भ्रष्ट हुआ निकृष्ट समझते हैं। तपस्वी को राजा भी शिर नवाते हैं। राज्यपद से इतना बड़ा पुण्य कर्म संचित नहीं हो पाता जिससे कि, आगामी फिर भी राजाओं की विभूति नियम से मिल ही जाय। क्योंकि, राज्यपद के साथ साथ मद मात्सर्यादि ऐसे बहुत से दोष भी लगे रहते हैं कि जिनसे आत्मा अति पवित्र न रहकर मलिन बन जाता है। तप मे यह बात नहीं है। जिस तप मे कर्मों का निर्मूल नाश करके मोक्ष प्राप्त कराने की शक्ति विद्यमान है उसके द्वारा राज्यपद प्राप्त होना कौन बड़ी बात है ? क्योंकि, तप से आत्मा परम पवित्र बन जाता है।

इस प्रकार यदि बुद्धिमान मनुष्य विचार करे तो यह बात समझ में सहज आ सकती है कि तप राज्य पद से भी श्रेष्ठ है। जब कि राज्यपद से भी श्रेष्ठ है व संसार के सम्पूर्ण ईति भीति आदि संकटों का इससे नाश होता है तो उस मनुष्य को जो पापों से व दुःखो से डर चुका हो, तप अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

**भावार्थः**—विषयभोग तुच्छ हैं, दुःखों के पैदा करने वाले हैं राज्य भी एक सब से बड़ा विषयभोग है। इसकी इच्छा भी उन्हीं को होती है कि जो धन दौलत को अपनी जान से भी बड़ा समझते हैं; काम क्रोध अहंकारादि के जो आधीन हो रहे हैं। जो जितेन्द्रिय हैं, आत्मा के कल्याण करने में लगना चाहते हैं वे इस पर लात मारते हैं। इस प्रकार यह राज्य भी आत्मकल्याण के कर्ताओं को हेय समझना चाहिए। यदि विषयभोगों के सुखार्थ राज्यसम्पदा भी प्राप्त हुई हो तो भी उसे छोड़कर बुद्धिमानों को तप ही करना चाहिए। तप आगामी सुखों का कारण है, राज्य वैसा नहीं है। एवं तप से साक्षात् भी जो सुख शान्ति प्राप्त होती है वह राज्य से नहीं हो सकती है। राज्य के तन्त्र से उपरत व दुःखी होने वालों को भी तप में शान्ति प्राप्त होती है।

तप पाकर छोड़ने वाले की दशा दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैः—

**पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि।**
**पश्चात् पादोपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद्गुणक्षतिः ॥१३९**

**अर्थः**—जब पुष्पों में सुगन्ध रहता है तब बड़े बड़े प्रतिष्ठित लोग भी उसे गले का हार बनाकर धारण करते हैं और देवों के मस्तक तक भी पहुँचाते हैं। वे ही पुष्प जब कि गन्ध रहित मुरझा जाते हैं तब उतार कर उन्हें फेकना पड़ता है। उस समय यदि डोलने फिरने की जगह में भी वे पुष्प पड़े रह जांय तो बुरे लगते हैं; पैरों से स्पर्शना भी उनका अनुचित जान पड़ता है। यह सब गुण की ही महिमा है। गुण न रहने पर कौन किसको पूछता है? इसी प्रकार तपस्वी बनने पर जिनकी देवता भी आकर पूजा करते हैं, पैरों मे पड़ते हैं; वे ही यदि तप से भ्रष्ट हो जांय तो सभी लोग उन्हें अति निन्द्य समझने लगते हैं। इससे तो व्रत न धारण कर पहिली ही अवस्था में रहते तो अच्छा था। तपोभ्रष्ट को छोटे से छोटा पामर मनुष्य भी निकृष्ट समझने लगता है। देखो.—

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं,
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या,
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥ १४०

**अर्थः**—अरे चन्द्र, तू थोड़ासा कलंक क्यों धारण कर रहा है तुझ मे जो चांदनी है वह जग का प्रकाश करती है और तुझे भी प्रकाशित करती है। पर साथ ही तेरे दोष को भी प्रकाशित करती है। यदि चादनी न होती तो तेरा दोष किसी के भी नजर न पड़ता इस उज्ज्वल प्रकाश के बीच छोटे से दोप को भी देखकर लोग तुझे दोपी कहते है। इससे तो तू यदि सारा मलिन ही होता तो अच्छा था। गुणों के बीच पड़ा हुआ दोप सभी की दृष्टि पड़ता है। यदि केतु या राहु की भांति तू पूरा मलिन होता तो किसी के भी देखने में न आता। तब तुझे कौन बुरा कहता कि यह लाछनयुक्त है। क्या राहु या केतु को भी लोग कभी काला, दोषी, मलिन इत्यादि कहते हैं ? नही।

**भावार्थः**—चन्द्र के समान उज्ज्वल चारित्र व ज्ञान गुण को जग में प्रकाशित करके यदि कोई मलिन करले तो उसे सभी जन निन्द्य कहने लगते है। सभी की दृष्टि उज्ज्वल गुणों के बीच दीखने वाले दोप पर पड़ती है। इससे भी अधिक मलिनता को धारण करने वाला गृहस्थ किसी को भी खटकता नहीं है। इसलिए दोषों के साथ यदि गुण हों तो दोष जग जाहिर हो जाते है और इसीलिए वे गुण उस मनुष्य के दोषदर्शक होने से न होने की अपेक्षा भी अधिक अनिष्ट समझना चाहिये। तब ?

**विकाशयन्ति[1] भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।**
**रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः॥ १४१**

**अर्थः**—प्रथम तो अपने चारित्र मे दोष लगाना ही नही चाहिये। कदाचित् भी मेरे व्रतों से दोष न लगे यह भावना सदा मन मे रहनी चाहिये। और इसी के लिए गुरुओं के अधीन रहकर अपना कल्याण करना चाहिये, जिससे कि दोषों का संशोधन होता रहे। गुरुओं का यही काम है कि वे शिष्यों के चारित्र को बिगड़ने नहीं देते। जो शिष्य अपना कल्याण करना चाहते हैं वे गुरुओं के दिखाए हुए मार्ग को छोड़ते नहीं है।

जब शिष्यों की प्रवृत्ति सुगमता से सुधरती नहीं दीखती है

---

१ सस्कृत टीका में इसे १४२ वें नम्बर पर कहा है व १४२ वें श्लोक को यहा ( १४२ वे की जगह ) कहा है।

तव उनके गुरु अति कठोर शासन करके भी दोषों को दूर करते हैं थोड़ा भी दोष जिन्हे सहन नहीं होता वे ही शिष्यों का यथार्थ हित कर सकते हैं। उस समय यदि कठोर शासन की आवश्यकता दीखती है तो कठोर शासन अवश्य करते हैं। उस शासन को सुनना व धारण करना उन शिष्यों को कदाचित् सहन नहीं होता कि जो आत्मकल्याण के पूर्ण उत्सुक नहीं है। इसीलिए वे कभी कभी दोषों को छिपाते है व कहे हुए यथोचित प्रायश्चित्त को भी स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु अपना कल्याण सिद्ध करने की उत्कट वांछा रखने वाले शिष्यों का मन गुरु के कठोर से कठोर शासन को सुनकर व पाकर भी अधिक प्रसन्न ही होता है। ठीक ही है, दूसरों को सूर्य के किरण चाहें कितने ही खरतर लगते हों पर कमल उन्हें पाकर प्रफुल्लित ही होते हैं। जो ऐसे शिष्य हैं वे ही अन्त मे अपना कल्याण साध सकते हैं। गुरु को भी चाहिये कि वह शिष्यों के दोषों को छिपावै नहीं ; देखो:—

दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोयं खलः सद्गुरुः ॥१४२

**अर्थः**—जो गुरु शिष्यों के चारित्र मे लगते हुए अनेक दोषों को देखकर भी उनकी तरफ दुर्लक्ष्य करता है व महत्त्व के न समझ कर उन्हे छिपाता चलता है वह गुरु हमारा गुरु नहीं है। वे दोष तो साफ न हो पाये हों और इतने मे ही यदि शिष्य का मरण हो गया तो वह गुरु पीछे से उस शिष्य का सुधार कैसे करेगा ? इसलिये वह गुरु किसी काम का नहीं है। जो दुष्ट विचार से ही क्यों न हो, पर बडी सावधानी से देखता हुआ छोटे छोटे दोषों को भी बड़े बड़े बनाकर सदा प्रकाशित करता है वह दुष्ट जन भी हमारा श्रेष्ठ गुरु है। क्योंकि उससे हमारा सुधार होना संभव है। जो शिष्य हैं वे तो शिष्य ही हैं। वे यदि अपनी सँभाल आप न करे तो कुछ आश्चर्य नहीं है। पर जो गुरु का अधिकार पाकर भी शिष्यों का उद्धार नहीं करता वह गुरु अति निन्द्य है, शिष्यों के सारे पातकों का वही भागी है। और जो दुष्ट होकर भी किसी के दोष प्रगट

करता है वह उसका परम कल्याण-कर्ता है। उसके प्रगट करने से विद्यमान दोष सुधारने की चिन्ता होने लगती है व आगामी दोष न करने की समझ होती है। इसलिये दोष प्रगट करने वाले दुष्ट से अधिक और कौन उपकारी गुरु हो सकता है? संसार में कठोर वाणी ही क्यों न हो पर जिससे हित प्राप्त हो सकता है वह अति दुर्लभ है। देखो:—

**लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।**
**दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः॥ १४३**

**अर्थः**—जिससे दोनों लोकों का कल्याण होता हो ऐसा उपदेश कहने वाले भी पहले तो बहुत थे व सुनने वाले भी बहुत थे। परन्तु तदनुसार आत्मकल्याण में लगने वाले तब भी विरले ही थे। पर आज यह बात है कि कल्याण कर लेने वालों को दूर रखिये; कहने सुनने वाले भी अति विरल हैं। सुनने वालों मे तो सुनने तक की रुचि नहीं है और कहने वाले उनका मुख देखकर बोलने वाले हैं। इसीलिये आजकल दोनों की कमी है।

यथार्थ उपदेश कठोर हो तो भी ग्राह्य है। देखो:—

**गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं,**
**भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामऽतिप्रीतये।**
**कृतं किमपि धाष्टर्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितै,—**
**र्न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता॥ १४४॥**

**अर्थः**—गुण दोषों की जाच करने वाले गुरु या हितेच्छु जनों ने जाच कर यदि अपने मे दोष ठहराये हों तो भी समझदार मनुष्यों को उतना आनन्द होना चाहिये जितना कि सदुपदेश सुनने पर होता है। क्योंकि, सदुपदेश सुनकर जैसा कल्याण हो सकता है वैसा ही अपने सच्चे दोष सुनने पर भी कल्याण हो सकता है। दोषों को विना छोड़े कल्याण होना असम्भव है। और दोष तभी छोड़े जा सकते हैं जब कि उन्हें जान लिया जाय। अपने दोषों को आप जान लेना कठिन बात है। इसलिये जो कोई दूसरा मनुष्य अपने दोष बतादे तो अच्छी ही बात है। उसे विद्वान् मनुष्य बुरा क्यों मानने लगा?

हाँ, कुछ मतलब साधने वाले अज्ञानी मनुष्य यदि स्वार्थवश स्तुति भी करते हों तो वह स्तुति उस बुद्धिमान को न रुचेगी। क्योंकि, वह स्तुति स्वार्थवश झूंठी ही की गई है। और इसलिये वह एक उनकी धिठाई है या अति साहस है, जो कि गुण न होते हुए भी वे स्तुति करते हैं। उसको सुनकर यदि सन्तोप व आनन्द मान लिया जाय तो कल्याण होना कठिन है। दोषों को समझकर छोड़ने से कल्याण होता है, गुणों मे वृद्धि होती है। पर अपने में गुण न होते हुए भी यदि किसी खुशामदी के बोलने पर से गुण मानकर सन्तोप कर लिया जाय तो अपना कल्याण व अपने मे गुणों की वृद्धि कैसे हो सकती है? इसीलिए अज्ञानी गरजू मनुष्यों की स्तुति से बुद्धिमान मनुष्य प्रसन्न कभी नहीं होते। यदि कोई अज्ञानी मनुष्य इस मतलब को न समझता हो तो वह अवश्य स्तुति करने वालों पर प्रसन्न होगा और दोप दिखाने वालों पर अप्रसन्न होगा। पर यह लाचारी है। उसके अज्ञान के लिये हम क्या करे? अच्छा तो ज्ञानी को करना क्या चाहिये?

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः॥ १४५॥

**अर्थः**—जिस मनुष्य की किसी कार्य में प्रवृत्ति फक्त गुण-दोप देखकर होती हो; दूसरा स्तुति निन्दादि सुनने का कुछ भी प्रयोजन उस प्रवृत्ति-निवृत्ति मे न हो, वही श्रेष्ठ विद्वान् मनुष्य है।

**भावार्थः**—किसी भी कार्य के करते समय फक्त गुणदोप देखने चाहिए। जिससे गुणवृद्धि व कल्याण होता दीखै वह कार्य करना चाहिये और जिससे गुणहानि व अकल्याण होता दीखै वह कार्य कदाचिद् भी न करना चाहिये। बस, इतना समझकर, निन्दास्तुति की कुछ भी परवाह न करके जो चलता है वही श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य है। उसी के हाथ से आत्मकल्याण हो सकता है।

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशं।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः॥ १४६॥

**अर्थः**—आज तक तेरे मे इसी बात की कमी रही। अभी तक तू जितने काम करता है उनमे यह देखता ही नहीं है कि इससे मेरा कल्याण होगा अथवा अकल्याण,—इसके करने से मेरी सुगति

होगी अथवा दुर्गति ? फक्त, निन्दा व स्तुति होते देखकर सारे काम तू करता है। इससे होता क्या है ? ऐसा चलने से तू आत्म-कल्याण व गुणों की वृद्धि नहीं कर सकता है; और न दोषों को छोड़ ही सकता है। तब ? तेरे हाथ से हित तो कुछ हो नहीं पाता किन्तु अहित में प्रवृत्ति होती है। यह सब तेरे अज्ञान की चेष्टा है। इसी से तू उलटा चल रहा है और इसीलिये आजतक अति दुःखी हो रहा है। अब तू इस निन्दा-स्तुति के झगड़े को छोड़कर हिताहित की परीक्षा कर। निन्दा-स्तुति को देखकर चलने से न तो दोप ही छूट पाते हैं और न गुणों की वृद्धि ही हो पाती है। केवल पक्षपात मे फसकर दोपों का संचय किया जाता है। इसलिये इस अहितकारी विचार व प्रवृत्ति को छोड़ देना चाहिये। यह छोड़कर यदि अपने हित की तरफ देखना शुरू किया तो सुख प्राप्त होगा, धीरे धीरे दोष हटकर गुण बढ़ेंगे, और एक दिन असली आत्म-कल्याण पूरा प्राप्त हो जायगा। वह हित यदि देखना हो तो यही है कि स्वार्थी लोगों की स्तुति पर लक्ष्य न देकर सत्पुरुषों द्वारा दिखाये हुए दोपों को छोड़ने का प्रयत्न किया जाय।

**इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमितो,**
**गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः।**
**त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्,**
**स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः सौख्ययशसोः ॥१४७**

**अर्थः**—रागादि व विषयभोगाकाक्षा, स्त्रीपुत्रादिकों के साथ अटूट प्रेम, ये सब दोप हैं, क्योंकि इनके होते मनुष्य निराकुल नित्य सुखी नहीं हो सकता है। जो अनिष्टजनक या अहितसाधक होता है वही दोष समझा जाता है। स्त्रीपुत्रादि के साथ प्रेम व विषयभोगाकाक्षादिक, ये सब आकुलता, अज्ञान, बुद्धिविपर्यासादि उत्पन्न करते हैं जिससे कि जीवों को थोड़ा सा भी चैन नहीं मिल सकता है। इसीलिये ये दोष हैं। इन दोपों को उपजाने वाले अशुभ-खोटे कर्म रहते है। उन्हीं कर्मों के तीव्र उदय से जीवों मे रागान्धता उत्पन्न होती है।

अब देखिये गुणों की तरफ। आत्मज्ञानादि व एकाकी रह कर आत्मीय सुखानुभव करना, विपयों से मन उदास होना या

वीतराग चेष्टा उत्पन्न होना, ये सब गुण है। जिससे आत्मा साक्षात् व परम्परया असली सुखी शांत हो सकता है उसी को गुण कहा जाता है। आत्मज्ञानादि के प्रगट होते ही जंजाल, जो कि दुःख व आकुलता बढ़ाने वाले हैं उनसे आत्मा उपरत होता है और इसलिये काल पाकर नित्यानंद का भोक्ता बन जाता है। इसलिये आत्मज्ञानादि को गुण माना जाता है। इन गुणों की उत्पत्ति मिथ्या दुःखदायक कुकर्मों के उपशान्त व क्षीण होने पर होते हैं।

इस प्रकार जिस मनुष्य को इन दोष-गुणों की व दोष-गुणों के कारणों की कार्यकारण शृङ्खला निश्चित हो चुकी है उसे छोड़ने लायक दोष व दोष के हेतु छोड़ने चाहिये और स्वीकार करने लायक गुण व गुणों के कारण स्वीकार करने चाहिये। जब कि मनुष्य इस बात को समझ चुका हो तो इनके त्याग व स्वीकार में कुछ भी विलम्ब न करना चाहिय। जो ऐसा करता है वही सदाचारी व ज्ञानी समझना चाहिये और उसी को अटूट सुख व कीर्ति प्राप्त हो सकती है।

सच्चा बुद्धिमान् कौन ?

**साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ,**
**जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् ।**
**धीमान् स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाश,-**
**स्तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥ १४८ ॥**

**अर्थः**—जो अपना हित सिद्ध कर सकता है व कर लेता है एवं अहित को दूर कर सकता है वह बुद्धिमान् समझा जाता है। जो ऐसा नहीं कर सकता है उसे लोग मूर्ख समझते हैं। यह बात ठीक है, परन्तु हित व अहित है क्या ? जनसाधारण में धन-दौलत विषय-भोगादि की सामग्री, स्त्री-पुत्रादि की पूर्णता व अनुकूलता, ये सब हित समझे जाते हैं। दरिद्रता, विषयभोगों की कमी, इत्यादि को लोग अहित कहते हैं। धन दौलत वगैरह हित को जिसने अच्छी तरह साध लिया हो वह बुद्धिमान् समझा जाता है और जो ऐसा नहीं कर सकता वह मूर्ख माना जाता है। पर यथार्थ में देखने से मालूम होगा कि धन दौलत से सच्चा हित नहीं हो सकता और

दरिद्रता बनी रहने से कुछ अहित नहीं हो सकता है। धन दौलत वगैरह जो कि हितावह माने जाते हैं वे सब कर्म की माया हैं। शुभाशुभ जैसे कर्म का जिस समय उदय होता है उस समय वैसे अच्छे बुरे सम्बन्ध आकर मिलते हैं। मनुष्य कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो परन्तु कर्म अशुभ का उदय रहते हुए धन दौलत कभी नहीं कमा सकता है। यदि कर्म शुभ का उदय हो तो मूर्ख मनुष्य के पास भी धन दौलत इकट्ठी हो जाती है। तब? इसमें प्रयत्न करना केवल कहने मात्र है। धन दौलत वगैरह सारी ऐहिक विभूति का समर्थ कारण देखना हो तो एक-मात्र शुभाशुभ कर्मोदय है। इसलिये किसी को धनी व गरीब देखकर बुद्धिमान् व मूर्ख मानना सर्वथा भूल है। धन दौलत वगैरह के इकट्ठे कर लेने न कर लेने से कोई बुद्धिमान् व मूर्ख नहीं हो सकता और न इसको हिताहित सिद्ध कर लिया ही मानना उचित है। ये बातें सभी जग में एक समान हैं। एक ही मनुष्य कभी धनी कभी निर्धन बना हुआ देखने मे आता है। इसलिये इतनी उन्नति के होने न होने से सन्तोष व दुःख भी न मानना चाहिये। तब?

सुगति का साधन करना और उसके अनुकूल साधनों का संग्रह करते हुए बाधक कारणों को हटाना यह बुद्धिमानी है। और ऐसा जिससे नहीं बन सकता है उसे मूर्ख कहना चाहिये। यही असली हित है। इससे जीव शाश्वत सुखी बनता है। संसार के क्षणिक सुख व उनके साधनों का संग्रह कर लेने से कौन बुद्धिमान्, बुद्धिमान् कहेगा?

कलियुग में धर्म की रक्षा होना कठिन है। देखो:

**कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो,**
**नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमऽदोस्त्याश्रमवाताम्।**
**नतानामाचार्या न हि नतरताः साधुचरिता,-**
**स्तपःस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः॥१४६**

**अर्थः**—इस कलियुग में नीतिमार्ग की प्रवृत्ति केवल दंड के अधीन हो रही है। दंड के सिवा, दूसरे कोई भी उपाय मनुष्य को नीति मार्ग पर रखने के लिए समर्थ नहीं हैं। दण्ड देकर शुद्ध पथ पर लाना यह राजाओं का काम है। और राजाओं का यह हाल है कि

जहाँ से धन दौलत मिलती दीखती है वहाँ वे अपना ध्यान लगाते हैं। साधु विचारे निर्धन। उन्होंने धन पहिले से ही छोड़ दिया है। तव ? उन्हें न्याय मार्ग पर चलाने की चिन्ता राजाओं को क्यों हो? वे समझते हैं कि साधुओं को न्याय मार्ग पर चलाने का कष्ट उठाने पर भी हमें मिलने वाला क्या है ? कुछ नहीं।

इस प्रकार राजाओं से तो साधुओं का सुधार होना कठिन है। अब यदि साधुओं के सुधार का दूसरा कोई मार्ग है तो एक उनके गुरु। यदि उनके गुरु चाहें तो अपने शिष्यों का सुधार सहज में कर सकते हैं। कोई भी साधु हो, वह किसी न किसी संघाधिपति गुरु का शिष्य बनने पर साधु हो पाता है। इसलिये यदि गुरुओं को साधुओं का सुधारना इष्ट हो तो सहज में साधुमार्ग शुद्ध हो सकता है और सभी साधु अपने उचित सच्चे कल्याण के साधने वाले बन सकते हैं। परन्तु गुरुओं से भी साधुओं का सुधार होना आज कठिन हो गया है। क्यों ? गुरु नमस्कार-प्रिय होने लगे। जो नमस्कार, स्तुति, भक्ति करता हो उसी के वश हो जाते हैं। वे चाहें जैसा उसे स्वच्छन्द चलने देते हैं। और जो नमस्कारादि कम करता है उसे सच्चे मार्ग में रहते हुए भी बाधित करते हैं। और अपने आप मार्ग शोधकर चलना कठिन है।

इस प्रकार देखने से मालूम होगा कि धर्म मार्ग का सुधार आज कठिन हो गया है। शक्ति से धर्म की रक्षा करने वाले राजा व गुरु। परन्तु ये दोनों ही आज धर्म मार्ग के सुधारने में दत्तचित्त व तत्पर नहीं हैं। ऐसी अवस्था में धर्म का ह्रास व साधुओं के मनचाहे मार्ग बन जाना सुगम बात है। ऐसे समय में उलटा उसी को आश्चर्य मानना चाहिये कि कोई एक दो साधु अपने मार्ग पर चल रहे हों। यदि वे भी बहुत ही अच्छे आचरण के साथ रह रहे हों तो और भी अधिक आश्चर्य समझना चाहिये। पर साथ ही यह भी समझना चाहिये कि गुरुओं की भक्ति व आज्ञा का पालन करना भी परम कर्तव्य है। देखो:—

एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणैः,—
रङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः।
संधर्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमा,
मा व्राजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥ १५०

अर्थ:—कितने ही मनुष्य किसी कारणवश या श्मशानवैराग्य हो जाने पर एकाध वार साधु का वेश तो धारण कर लेते हैं परन्तु स्त्रियों के वक्र अवलोकन को जब सहन नहीं कर सकते तब अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, चित्त ठिकाने पर नहीं रहता। स्त्रियों का वक्रावलोकन बाण से भी अधिक जाकर हृदय में चुभने लगता है। कामी मनुष्य शरीर में शर प्रवेश कर जाने पर पीड़ित हुए हरिण की तरह उस वेदना के मारे इधर से उधर फिरते हैं। शर प्रवेश कर जाने पर हरिण जैसे जंगल भर भटकता है पर उसे कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं हो पाती, इसी प्रकार ये काम पीड़ित भ्रष्ट साधु विषयाटवी में चारों तरफ भटकते हैं पर कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। जब काम की तीव्र वेदना हृदय में प्रगट होती है तब किसी मनोहर से मनोहर भोग में भी चित्त जमता नहीं है। वायु के वेग से इधर उधर उड़ने वाले मेघों की तरह कामवेदना से दुःखी हुए वे साधु कहीं भी स्थिर नहीं होते। व्रत-संयमादिकों से तो चलायमान होते ही हैं परन्तु फिर भी स्थिरता प्राप्त नहीं होती है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अव्रती रहकर अति आनंदित व शान्त सुखी रहता है; पर कामपीड़ित साधु अव्रती गृहस्थों से भी अति हीन दशा में प्राप्त हो जाते हैं। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टियों की तरह अज्ञानी व विषयाधीन तथा अशान्त बन जाते हैं। यह सब होकर भी वे जब तक साधुवेश को छोड़ते नहीं तब तक लाज या अपमान के भय से अपनी गिनती साधुओं में ही कराते हैं, अपने को साधु कहा कर प्रसन्न होते हैं।

ऐसे भ्रष्ट साधुओं का ऊपरी साधुवेश देखकर बहुत से भोले भव्य जंगली कबूतरों की तरह उनमें जाकर मिल जाते हैं और धीरे धीरे उन्हीं के से बन जाते हैं। इसलिये अरे भाई, तुझे सँभलकर रहना चाहिये। तू उनमें जाकर कहीं मिल न जाना। नहीं तो रहा सहा सब चला जायगा। तू जबतक अति प्रबुद्ध नहीं होता तबतक यथेष्ट अपनी प्रवृत्ति मत कर। ऐसी अवस्था में तुझे गुरुओं की चरण रज छोड़कर स्वच्छन्द कहीं कभी न भटकना चाहिये। गुरुओं की सेवा भक्ति व आज्ञा पालने से ही तेरा कल्याण होगा। तू स्वयं अपने को सँभाल नहीं सकता है। सभी साधारण स्थिति के साधु अपनी चर्या शुद्ध बनाने के लिये स्वयं समर्थ नहीं हो

सकते हैं। और ऐसे ही साधु प्राय: बहुत होते हैं। इसलिये गुरुओं के आश्रय सिवा उन साधुओं को कभी स्वतन्त्र रहना न चाहिये।

साधुओं का असली स्वरूप:—

**गेहं गुहा परिदधासि दिशो विहाय:,**
**संयानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धि: ।**
**प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणा' कलत्र,—**
**मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ॥ १५१ ॥**

**अर्थ:**—ग्रन्थ कर्ता साधुओं को कहते हैं कि तुम पूरे स्वतन्त्र हो। तुम्हें किसी भी चीज की ऐसी जरूरत नहीं है कि विना कहीं से संग्रह किये, तुम्हारा काम न चले। देखो:—

तुम्हारा घर का काम गुफाओं से चलता है, तुम्हें घर बांधने की आवश्यकता नहीं है। तुम दिगम्बर बन गये इसलिये आजू बाजू की दिशाओं के सिवा पहरने के लिये अन्य वस्त्रों के संग्रह करने की गरज नहीं रही। आकाश ही तुम्हारे लिये वाहन है। उसी मे वसकर चाहें जहाँ विचरो। तप की अत्यन्त वृद्धि करने से तुम्हारा मनोवांछित भोजन पूरा हो सकता है। इष्ट भोजन करने से भूंख नष्ट होती है। वह भूंख तुम्हें केवल तप की है। तप को खूब वढ़ाओ यही तुम्हारा कर्तव्य है, न कि भोजन की चिन्ता में समय बिताना। चारित्रादि अनेक गुण जो तुम्हें प्राप्त हुए हैं उन्हीं में तुम्हें स्त्री से भी अधिक रत होना चाहिये। जिन्हे गुण प्राप्त नहीं हो पाते वे अपना मन स्त्रियों मे रमाते हैं। पर जिन्हें उत्तमोत्तम सच्चे कल्याणकारी भेद-ज्ञानादि गुण प्राप्त हो चुके हैं उनका मन जैसा उन गुणों मे आसक्त हो सकता है वैसा कहीं नहीं हो सकता। इसलिये उनको स्त्री से भी अधिक मनोरंजक गुण समझने चाहिये।

अब तू यदि विचार कर देखे तो तेरे लिये एक भी ऐसी चीज की जरूरत नहीं कि जिसके विना तेरे कल्याण साधने की प्रवृत्ति रुक जाय। तू यदि कहीं से कुछ भी कभी न मांगना चाहे तो तेरा काम चल सकता है। प्रत्युत, न मांगने पर ही यह तेरी दशा प्रशंसा योग्य व कल्याण साधने वाली हो सकती है। यदि तेने याचना करने का विचार किया तो तेरा आत्मा मलिन व दीन

बन जायगा जिससे कि तेरे कल्याण मे बाधा उपस्थित होना संभव है। जो मनुष्य अपने को उत्कृष्ट व समर्थ समझ कर किसी उत्तम ध्येय को साधना चाहता है वही उस अभीष्ट मनोरथ को पूरा कर सकता है। याचना करने वाला अपने को असमर्थ दीन समझने लगता है इसलिये उसके हाथ से उत्कृष्ट ध्येय पूरा नहीं हो पाता। जब कि तेने अपना मोक्षरूप सर्वोत्कृष्ट ध्येय समझ लिया है तो वृथा याचना करके तू दीन क्यों बनता है ? तू स्वयं समर्थ हो सकै इसीलिये गुरुओं ने तेरा कल्याणमार्ग सर्वथा स्वतन्त्र कर दिया है। इसलिये यदि तुझे जजालों से मुक्त होना है तो किसी भी चीज के लिये किसी से वृथा याचना मत कर। देख,—

**परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्[१] ।**
**इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥ १५२ ॥**

**अर्थः**—कितने ही मनुष्य छोटी से छोटी चीज परमाणु को कहते हैं व आकाश को बडे से बड़ा मानते है। परन्तु उनका यह कहना तभी तक टिक सकता है जबतक कि उनके सामने दीन व अभिमानी आकर खड़े न हुए हों। जो याचना करता है वह दीन कहाता है और जो कैसा भी कष्ट आने पर याचना नहीं करता वह अभिमानी है। अभिमानी आकाश से भी बड़ा, गंभीर, महान् दीखता है और दीन परमाणु से भी तुच्छ बन जाता है। दीन के विचार व आत्मा सकुचित हो जाते हैं। इसीलिये उसे लोग अति तुच्छ समझते हैं और वह आप भी अपने को अति तुच्छ मानता है। अभिमानी जो कि कभी याचना नहीं करता, वह अपने विचारों को व आत्मा को पूरा विकसित व प्रसन्न रखता है। उनकी प्रसन्नता व गभीरता का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। यद्यपि दीनता व अभिमान के साथ परमाणु व आकाश के विस्तार की तुलना ठीक ठीक वैठती नहीं है तो भी तुच्छता व बड़प्पन की सीमा दिखाने के लिये इधर परमाणु को उधर आकाश को लेकर अतिशय प्रगट किया है।

जो दीन हो जाता है वह सभी प्रकार से असमर्थ बन जाता है और जो अभिमानी या मनस्वी होता है वह हर काम को पूरा

१ 'महत् पर' ऐसा भी पाठ है।

कर सकता है। धर्म प्राप्त करने का अर्थ क्या है? यही कि, आत्मा वास्तविक किसी बात का गरजू नहीं है। पर लोग इस बात को भूल रहे हैं। लोग अपने को जहाँ जितना पराधीन समझते हैं वहाँ वे उतने ही अधर्मी हैं। आत्मा को जहाँ जितना स्वतन्त्र बनाया जाता है वहाँ उतना ही धर्म है। जब कि सभी विषयों को अनावश्यक समझ कर आत्म चिन्तन में मग्न हो जाना है तब तो पूरा स्वावलम्बन प्राप्त होने से पूरा ही धर्म है, परन्तु जब कि उद्योग धन्धा आदि करके आत्मा को अपने आप निर्वाह करने के समर्थ समझता है तब भी उतना धर्म ही है। क्योंकि, आत्मा को जितना जितना परतन्त्र माना जाता है उतना ही उतना आत्मा कर्मबद्ध होता है और जितना जितना स्वयं-समर्थ माना जाता है उतना ही उतना आत्मा कर्म से भी मुक्त होता है। विपर्यासित बुद्धि का होना ही कर्म बन्धन का कारण है। इसीलिये दीन पापी व अभिमानी धर्मात्मा मानना पड़ता है। क्योंकि दीन याचना के बिना अपना निर्वाह न समझ कर पर के आधीन होता है और और अभिमानी वहाँ पर स्वाधीन रह कर निर्वाह कर लेना सुलभ समझता है। इसीलिये यहाँ अभिमान का अर्थ गर्व न समझना चाहिये।

याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥ १५३ ॥

**अर्थः**—याचना करने वाला व दान देने वाला पुरुष, दोनों ही समान हैं। किसी की भी जात-पात या लक्षण आकार भिन्न नहीं हैं। तो भी दान देते समय दाता तो अति महान् दीखने लगता है और याचना करने वाला अति तुच्छ दीख पड़ता है। इसका कारण शायद यह हो कि उस समय याचक का गौरव या महत्त्व दाता की तरफ पलट कर पहुँच जाता है। यदि ऐसा न होता तो याचक का इतना तुच्छ बनना व दाता का इतना गौरव बढ़ना असम्भव था। इसमें दूसरा कोई कारण ही नहीं दीखता है। दोनों समानजातीय मनुष्य होकर भी याचनामात्र याचक का गौरव कम करने वाली है। जितनी इधर लघुता प्राप्त होती है उतना ही उधर दाता का गौरव बढ़ता है।

इन दोनों की अवस्था का दृष्टान्त.—

**अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः ।**
**इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥१५४**

**अर्थः**—तराजू के जिस पलड़े मे कुछ चीज रखदी जाती है वह नीचा हो जाता है और जो खाली रहता है वह ऊँचा हो जाता है। इससे यह मतलब समझना चाहिये कि याचनापूर्वक लेने वाले की भी यही दशा होती है। जो याचना करके लेता है वह अधो-गति-नरक का पाप संग्रह करके नीचे चला जाता है। और जो भोग के विषयों से उदास रहता है, कभी किसी से कुछ याचना नहीं करता है वह पापों के बोझ से हल्का रहता है। और इसलिये वह स्वर्ग या मोक्ष के लिये मरकर ऊर्ध्व गमन करता है।

यद्यपि याचना करना सभी के लिये बुरा है पर साधुओं के लिये तो याचना करने की सर्वथा ही मनाई है। वे किसी से याचना नहीं करते। यदि उनकी आवश्यकतानुसार कोई अन्न औषध तथा पुस्तकादि उन्हें दे दे तो वे लेते है, नहीं तो नहीं। यदि किसी भक्त का उनकी तरफ महीनों भी लक्ष्य न जाय तो भी वे दुःखी नहीं होते, याचना करने को तैयार नहीं होते। उनकी धीरता बड़े से बड़ा कष्ट आ जाने पर भी ढलती नहीं है। वे अपने को इतना अधिक स्वतन्त्र बना लेते है तभी तो उनकी मुक्ति इस ससार से शीघ्र हो सकती है।

धन की निन्दा —

**सस्वमाशासते सर्वे न स्वं तत् सर्वतर्पि यत् ।**
**अर्थिवैमुख्यसंपादिसस्वत्वान्निस्वता वरम् ॥१५५**

**अर्थः**—अरे याचको, धन की चाह तो सभी को है। सभी कोई धनी की तरफ आशा लगाते हैं। परन्तु किसी के पास धन कितना ही हुआ तो भी क्या सभी की इच्छा उससे पूरी हो सकती है? नहीं। और बहुत से धनी तो ऐसे होते हैं कि जो धन होते हुए भी किसी को देना ही नहीं चाहते है। इसलिये तुम्हारी इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकती है। इसीलिये तुम अपनी दरिद्र अवस्था में ही सन्तोष करो। तुम तो याचना करते समय तुच्छ धन ही

जाते हो, पर जिसको धनी समझ कर तुम याचना करते हो वह यदि तुम्हारी इच्छा पूर्ण न कर सकता हो तो उस धनी से तुम निर्धन ही अच्छे[1] हो।

**भावार्थः**—तुमको याचना करने पर भी सदा सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिये तुमको चाहिए कि याचना करके अपने गौरव को नष्ट न करो। विषयों की दरिद्रता रहने पर भी तुम उसीमे सन्तोष करो। धनी कहलाकर भी जो निर्धन दीन याचक की इच्छा पूर्ण नहीं कर सकते, उनमे व याचकों मे अन्तर ही क्या रहा ? इसीलिये उनका धन पाना निरर्थक है।

**आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।**
**सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम् ॥१५६**

**अर्थः**—आशा यह इतना बड़ा गहरा खड्डा है कि कुबेर की सारी निधियों स भी पूरा भर नहीं सकता है। यद्यपि कितना ही खर्च करने पर निधियों का भी थाह नहीं लग पाता परन्तु वे निधियें प्राप्त हो जाने पर भी तीव्र लोभी मनुष्य की आशा की पूर्ति नही होती है। चाहे जितना धन सपत्ति लोभी को मिल जाय पर उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है। इसीलिये यह आशारूप खड्डा अथाह है। तब फिर चाहे जितनी याचना या कमाई की जाय पर, ‸ ।रखते हुए सन्तोष नहीं मिल सकता है। इसलिये यह धन ‸ काम का है कि जिससे सन्तोष ही नहीं हो पाता। हॉ, मानधन से अर्थात् याचना छोड़कर—याचना से होने वाली तुच्छता को हटाकर, गौरव की रक्षा करने से सतोष अवश्य प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार देखने से मालूम होगा कि मनस्विता से आशारूप खड्डा भर जाता है। इसलिये जो निधियों से भी नहीं भरा गया वह आशारूप खड्डा जिस मानरक्षा रूप धन ने बराबर भर दिया वह मान धन ही असली धन है। इसलिये अपने मान गौरव की रक्षा करना सभी का कर्तव्य है।

---

१ तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते य.। (नैषधच०) अर्थात्,—याचना करने वाले का मतलब समझकर भी जो याचना सुनने तक की प्रतीक्षा करता है यदि उसीको धिक्कार है तो याचक को वापिस करनेवाले की निन्दा का तो ठिकाना ही क्या है ?

**आशाखनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया ।**
**उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥१५७**

**अर्थः**—जिस आशा रूप खड्डे को निधियों से भी किसी ने भर नहीं पाया, जिसके सामने तीनों लोक भी थोड़े दीखते हैं, तीनों लोक भी जिसके एक कोने मे समा सकते हैं; इतना वह आशागर्त गहरा व विस्तीर्ण है। इसकी पूर्ति बड़े बड़े चक्रवर्ती सरीखों से नहीं हुई। यदि की तो निर्धन साधुओं ने की। यह आश्चर्य की बात है। उन्होंने विचार किया कि यह आशागर्त किन चीजों से उत्पन्न होता है ? तो मालूम हुआ कि धन दौलत वगैरह विषय-सामग्री इसको उत्पन्न करती है। बस, साधुओं ने एक एक सामग्री को उठा उठा कर फेंक दिया। अब आशागर्त कहाँ से रह सकता है ? बस आशागर्त सहज मे ही बराबर हो गया।

अहो, यदि कोई मनुष्य जलती हुई आग को बुझाना तो चाहें और ला लाकर उसमे ईंधन डालता जाय, तो क्या वह आग कभी भी ठंडी पड़ेगी ? नहीं। उसके बुझाने का एकमात्र यही उपाय है कि जो ईंधन आग से दूर पड़ा हुआ है उसे तो दूर ही रक्खा जाय और जो ईधन आग के पास पड़ा है व जिसमे आग लगती जाती है उसे उठा उठा कर वहाँ से दूर फेंका जाय। तो सम्भव है कि धीरे धीरे आग बुझ जायगी।

इसी प्रकार संसार के अज्ञानी जन क्या करते हैं कि आशा मे पड़े हुए विषयों को हटाने का प्रयत्न न करके आशा को कम करना चाहते हैं। जो विषय सामने दीख पड़ते हों उन्हीं से आशा प्रदीप्त हो सकती है। आशा को इस प्रकार प्रदीप्त करने वाले मौजूद विषयों को हटाना तो दूर ही रहा किंतु जो विषय स्वप्न मे भी संभव नहीं हो सकते उनको इकट्ठा करने की खटपट मे लगते हैं। जब कि न मौजूद चीजों को भी ला-लाकर अपने सामने इकट्ठा किया जाय तो आशा उलटी भड़केगी या कम होगी ? अज्ञानियों की इस उलटी चेष्टा से आशा कम कैसे हो सकती है ?

हाँ, जिन अज्ञानियों ने इसके नष्ट करने का उपाय समझ लिया उन्होंने अप्राप्त विषयों के संग्रह करने की इच्छा तो छोड़ ही दी परन्तु उस आशा के बीच पड़े हुए विषयों को भी एक एक करके

फेंकना शुरू किया जिससे कि उनकी आशा निर्मूल नष्ट हो गई। अज्ञानियों को जहां कि यह दीखता था कि इसके विना तो काम चल ही नहीं सकता है, इसीलिये इसकी तो आशा छूटना असंभव है; वे चीजें भी ज्ञानियों ने अपने मन में से निकाल कर फेंक दीं। देखिये:—

विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय,-
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित् कियदिच्छति।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः,
कथमयमहो गृह्णात्यन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान् ॥ १५८ ॥

अर्थः—आशा जब तक नहीं छूटती तब तक राग द्वेष नष्ट नहीं हो सकते हैं। रागद्वेष के नाश किये विना कर्मबंधन छूटकर मुक्त होना असंभव है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष आशा को निर्मूल नष्ट करने में लगते हैं। जिन वस्तुओं के विना प्रथम अवस्था में भी काम चल सकता है उतनी वस्तुएँ तो वे एक दम छोड़ देते हैं। जैसे धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, वसन-आभूषण। रहा एक शरीर, एक आहार व रागादि अंतरंग संस्कार। पर वे इनका भी नाश करना धीरे धीरे शुरू करते हैं। प्रथम आहार को त्यागते हैं और पीछे अंतरंग संस्कारों को। इन दोनों का नाश होते ही शरीर का नाश कुछ समय बाद आप ही हो जाता है। क्योंकि, शरीर के पैदा करने वाले व रखने वाले कर्म-कारणों का जब नाश हो जाता है तब शरीर-कार्य का टिकाव कैसे रह सह सकता है? बस, उस समय जीव जग के जंजालों से पूरा पूरा छूट कर अखंड शांति सुख में मग्न होता है। परन्तु जब तक आहार छोड़कर अपने बल पर ठहरने की शक्ति व अभ्यास प्राप्त नहीं हुआ तब तक आहार ग्रहण करना पड़ता है। तो भी उसके स्वीकार करने में साधु इतना प्रतिबंध या कैद लगा लेते हैं कि जिससे उसमें अत्यन्त आसक्ति न बढ़े, किन्तु धीरे धीरे उससे छुटकारा मिलता जाय। देखिये—

स्वयं करना नहीं, दूसरों से कहकर कराना भी नहीं तथा उस आहार के तयार होने की इच्छा भी न रखना, अथवा उसमें अपनी संमति भी प्रकाशित न करना। इत्यादि जो जो आहार के लेने की विधि कही गई है उस सर्व विधि के अनुसार मिलने पर

साधु आहार लेते हैं। और फिर भी ऐसा आहार लेते हैं कि शरीर रखकर तप खूब कर सकें। दूसरे लोग दें और भक्तिपूर्वक दें तो लेते हैं, नहीं तो नहीं। वे याचना करके लेना नहीं चाहते व देने वाले की इच्छा न रहते हुए दवाव डालकर भी लेना नहीं चाहते हैं। इस पर भी ऐसा नहीं करते कि सदा उसी की चिंता में लगे रहें। किन्तु कदाचित् व कचित् आहार लेते हैं। वह भी तब कि, जब काम चलता नहीं दीखता। और जब लेते हैं तब भी पेट भर कर नहीं खाते किन्तु थोड़ा सा, जिससे कि धर्म कार्य तपश्चरणादि करने मे वाधा व प्रमाद न हो। इतना होकर भी जब तक वह पूरा छूट नहीं पाता तब तक उन्हें इस बात की लज्जा बनी रहती है कि हमारी स्वतन्त्रता होने में इतनी कमी है। अब कहिये, ऐसा महात्मा थोड़ी और भी कनक वसनादि आराम की चीजें अपने पास रख सकता है ऐसा मानना कितना अनुचित है? वह आहार के सिवा और चीजों को, जिनसे कि धर्माचरण मे कोई सहायता नहीं मिलती, केवल कायरतावश कैसे रख सकता है? परिग्रह एक पिशाच के समान जीवों को उन्मत्त व अज्ञानी वनाने वाला है। इसलिये वह जितना छूट सकता हो उतना ही अच्छा है।

साधु या मुनि, यति, तपस्वी, भिक्षु, इत्यादि नाम छट्ठे गुणस्थानवर्ती मनुष्य के हैं। क्रम से जैसा जैसा राग-द्वेष कम होता जाता है वैसे ही ये गुणस्थान ऊपर ऊपर के माने जाते हैं। पहले गुणस्थान में आत्मज्ञान न होने से विपयों के साथ जो अत्यन्त रागान्धता रहती है जिसे कि 'अनतानुबन्धी' कहते हैं; वह छूटते ही आत्मज्ञान व साथ साथ विषयरागों की शिथिलता हो जाती है। वस, इसी को चौथा गुणस्थान कहते हैं। इसमे आ जाने पर भी विषयों से पराङ्मुखता ऐसी नहीं हो पाती कि जिसे कोई दूसरा समझ सके। पर तो भी विषयों मे जो गाढ़ अन्धता पहिले रहती थी वह अब नहीं रहती व आत्मा का कुछ साक्षात्कार भी होने लगता है। यह मुक्त होने के क्रम का प्रथम दर्जा है। मुक्त होने के लिये शुरूआत यहीं से पड़ती है। इसे अव्रत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

जब जीव की निवृत्ति कुछ और भी अधिक वढ़ती है तब गुणस्थान पांचवाॅ हो जाता है। इसमे शुरू से ही वे चीजें छूटने

लगती हैं कि जिनको छोड़कर भी मनुष्य दुनियां के सहवास में रह सकता हो। जैसे, अन्याय की प्रवृत्ति, स्त्री, व्यापार-धंदा, हाथ से भोजनादि करना, फिर अपने पुत्रादिकों को व्यापारादि की संमति देना व अपने घर का निवास, भोजन के लिये पूछने पर किसी को आज्ञा देना, व साथ बुला ले जाने वाले के साथ भोजन करने के लिये चले जाना; ये बातें क्रम से छूटती जाती है। यहां पर जिसकी प्रवृत्ति दुनिया में सर्वथा नहीं है वह बात सब नहीं पाती। जैसे कि, दुनिया में कोई भी नग्न होकर रहना नहीं और दुनिया के लिये यह असह्य भी है। सर्व प्रकार के बाकी रागांश छूट सकते हैं पर नग्नता की लज्जा दुनिया मे छूट नहीं पाती। बस, इसलिये इस दर्जे मे रहने वाला भी चाहे वस्त्रों को परिग्रह व हेय समझता है पर छोड़ कर नग्न होने का साहस तो भी नहीं कर सकता। इसलिये पांचवे गुणस्थान वाला जीव दुनिया के भीतर रहने वाला गृहस्थ समझा जाता है।

दुनिया की तरफ से बेपरवाही जब हो जाती है तब फेकने लायक उन सभी चीजों को मनुष्य फेंक देता है कि जिनका सम्बन्ध केवल शरीर रक्षा के लिये व आराम के लिये है। तो भी मलमूत्रादि से स्पर्श न करने शुद्ध रहना, यह व्यवहार-धर्म है। इसलिये कभी-कभी मल मूत्रादि को हफाजत होने पर धोकर शरीर को शुद्ध बना लेने की इच्छा से शुद्ध जल का एक सादा सा लकड़ी का वर्तन रखने की सद् इच्छा उस अवस्था मे भी जीव को रहती है। इसको रखना किसी तीव्र राग-द्वेष का कार्य नहीं है। वस्त्र का रखना इससे बहुत बड़ी तीव्र काम वेदना की पराधीनता को सूचित करता है, जो कि संसार स्थिर रखने की जड़ है। इसीलिये निर्विकार चेष्टा हो जाने पर वस्त्र रखने की आवश्यकता नहीं रहती। वह मनुष्य एकाकी जंगलों मे रहने लगता है। इसको छठा गुणस्थान कहते हैं। ऐसी अवस्था में विरक्तता तो इतनी बढ़ जाती है कि शरीर को भी वे अलग करदें। परन्तु शरीर फेंका नहीं जाता इसलिये उसको साथ लेकर रहना पड़ता है। तपश्चरण के द्वारा आत्मा को स्वतंत्र कर लेने की शक्ति प्रगट करने तक इस शरीर को सभाल कर रखना पड़ता है। इसलिये तब तक और सारे परिग्रह छूट जाने पर भी भोजन लेना ही पड़ता है। पर जब कि वह साधु उस भोजन का लेना ही अपनी हीन दशा का कारण समझता है तो

सहज छूट जाने वाले वस्त्रादि परिग्रह की इच्छा क्यों करेगा? इससे तो और भी हीन दशा होना संभव है। यदि कोई साधु भोजन मे लंपट होता दीखे तो वह निन्दा की बात हैं। देखो·—

**दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं,**
**गृह्णन्तः स्वशरीरतोपि विरताः सर्वोपकारेच्छया।**
**लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं,**
**रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः ॥ १५६ ॥**

अर्थः—मनस्वी आत्माधीन रहने वाले साधु शरीर से पूर्ण विरक्त रहते हैं, सर्व जग के कल्याण की कामना रखते है। ऐसे रहकर कल्याण करने की आशा से गृहस्थों का भोजन स्वीकार करते है। वह भी भोजनमात्र, और कुछ नहीं। देने वाले भी गृहस्थ होते हैं जो कि अपने निर्वाह के लिये घर मे भोजन तयार करते ही हैं। उनको साधुओं के लिये जुदा कष्ट उठाना नहीं पड़ता। इतनी वाते होते हुए भी भोजन ग्रहण करना उत्तम साधुओं को एक लज्जा की वात जान पड़ती है। असली साधुओं की इतनी निरपेक्ष अवस्था होती है। पर हाँ, इस कलियुग के अपरिहाय सर्व व्यापी माहात्म्यने कहीं भी अपना असर डालने से छोडा नहीं है। इसीलिये आज बहुत से साधुओं में भी विषयों से ममत्व-पूर्ण राग छूटा हुआ नहीं दीखता। देखिये, जहां कि भोजन लेना भी लज्जा समझी जाती थी वहां आज यह विचार हो गया है कि साधुपद धारण कर लिया कि गृहस्थों से भोजन लेना ही चाहिये। गृहस्थों का भी इधर यह हाल है कि मुनियों को भोजन देने मे अनेक ऊहापोह करते हैं; मुनियों को अपने अधीन और उनसे भी अपने को उत्कृष्ट समझते हैं। इत्यादि रागद्वेष का प्रवाह दोनों ही तरफ बढ़ने लगा है। यह सब कलिकाल की अखण्ड महिमा का फल है। इधर गुरु लोभी, उधर चेला लालची, यह कहावत पसरती जा रही है। अथवा, सारे धर्म की सृष्टि का प्रादुर्भाव करने वाले भगवान् तीर्थंकर सरीखों के साथ घट-पटादि बनाकर पेट भरने वाले कुँभार कोलियों ने भी अपनी बराबरी करना चाहा तो आज कुछ आश्चर्य नहीं है[1]।

---

१—भवेदद्य श्वो वा प्रकृतिकुटिले पापिनि कलौ, घट्टाना निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ॥

भोजनादि में भी प्रीति करना साधु को जब कि उचित नहीं है तो उसे कैसा रहना चाहिये ?

**आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा,**
**सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं निर्मूलतः कर्मणा ।**
**दैन्यात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः संतृप्यसे निस्त्रप,**
**स त्वं यश्चिरयातनाकदशनैर्बद्धस्थितिस्तुष्यसि ॥१६०**

**अर्थः**—तीनों जगत का स्वरूप जान लेने के लिये समर्थ तेरा ज्ञान कर्मों ने नष्ट कर दिया और आत्मा में से उत्पन्न होने वाला स्वाधीन सुख भी इन कर्मों ने ही निर्मूल नष्ट कर रक्खा है। इतना नाश करके फिर थोडे से आकुलता पूर्ण पराधीन इन्द्रिय विषय-जन्य सुख का सयोग तेरे साथ इन कर्मों ने लगा दिया है। पर तू इतना दीन व नीच है कि उसी मे तृप्ति मानने लगा। अरे निर्लज्ज, जिसने आत्मकल्याण के लिए यह मुनि पद धारण किया और अनेक उपवासादिकों के कष्ट भोगना भी स्वीकार किया, वह तू थोड़े से तुच्छ भोजन की तरफ से फिर भी प्रेम छोड़ता नहीं है ? उसमें अब भी तेरा प्रेम जुड़ रहा है ? अब भी तू उसे पाकर सन्तुष्ट होता है ? कर्मों ने तेरा सब कुछ हरण करके कुछ थोड़ासा व मिथ्या सुख दिखा रक्खा है। पर तू तो भी और इस पद मे आकर भी उसकी गृद्धता छोड़ता नही है, इस तेरी दीनता का क्या ठिकाना है ? तुझे चाहिये कि इससे पूरा ममत्व छोड़ दे। और यदि—

**तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते ।**
**प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशयेः ॥१६१**

**अर्थः**—भोगों मे ही तेरी तृष्णा बढ़ रही है तो भी तू थोड़ी देर तक तो थोड़ासा कष्ट सह। यह मनुष्य आयु पूर्ण हुआ कि इन्द्रिय भोगों की खान जो स्वर्ग, वही तेरे लिये तयार* है। पर उसको प्राप्त होने की योग्यता जो मिल रही है उसे क्यों उतावला होकर विगाडता है ? थोड़ी ही देर बाद उस सुख की अवस्था तयार

---

* तत्काल उत्पन्न हुई विषयतृष्णा हटाने के लिये यह लालच है परन्तु वास्तव में तो भोगों की आकाक्षा सर्वथा छूट जाने से ही कल्याण हो सकता है।

होकर मिलने वाली है। मुनिपद, मानो उस सुख को तयार करने का साधन। अरे तपस्वी, इस अधकच्ची हालत को देखकर भी यदि इसे स्वस्थ होकर सहेगा नहीं; किन्तु इस अवस्था में मिलने वाले भोजनादि में प्रवृत्त होगा तो जैसे भोजन न पकने देकर उसके कच्चे पानी आदि को पी डालने से आगे पक कर मिलने वाला भोजन का आनन्द नष्ट हो जाता है, वैसे तुझे अपूर्व मिलने वाला आगामी स्वर्ग-सुख नष्ट हो जायगा।

विषयों मे इच्छा न होने पर भी जब कि मोह-कर्म का उदय प्राप्त होता है तब भोजनादि मे परवश प्रवृत्ति हो ही जाती है। वह कैसे रुक सकती है? इसका उत्तर:—

**निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।**
**किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्॥ १६२॥**

**अर्थ:**—दैव कुपित हो तो किसी को दरिद्री बनादे, आंखें फोड़दे, या बहुत करै तो इस शरीर से जुदा करदे। पर जो साधु धनादिकों का छूट जाना ही चाहते है व शरीरादि से छुटकारा मिल जाने में ही अपना कल्याण समझते हैं और जिनके अन्तरंग ज्ञानचक्षु प्रकाशमान हो चुके हैं उनका वह दैव क्या कर सकता है? दैव यदि दुःख दे तो इतना ही दे सकता है पर उस दुःख की जिन्हें परवाह ही नहीं है उनका दैव क्या कर सकता है? दैव बहुत करे तो बाहिरी संयोग अनिष्ट प्राप्त करदे। पर जो बाहिरी वस्तुओं के पराधीन ही नही हैं उन्हें दैव क्या कष्ट दे सकता है?

**भावार्थ:**—जिनको आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है उन साधुओं को मोह का उदय कुछ नहीं कर सकता है। मोह का उदय होते हुए भी वे साधु भोजनादि के वश नहीं हो सकते हैं। इसलिये जब कि मोह का तीव्र वेग आया दीखता हो तो तब साधुओं को आत्म-चिन्तन करके समय बिताना चाहिये।

**जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।**
**किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता॥१६३**

अर्थः—दैव से डर उन्हीं को हो सकता है कि जिन्हें जीने की आशा व धन दौलत की आशा लगी हुई है। आयु के अधीन जीवन है और वेदनीय मोहनीयादि कर्मों के अधीन विषयजनित सुख-दुःख है। इसीलिये जिन्हे इनकी चाह है उन्हीं के ऊपर दैव अपना सामर्थ्य प्रगट कर सकता है। परन्तु जिन्होंने विषयजंजाल से छुटकारा पाने की ही आशा लगा रक्खी है उनका दैव क्या कर सकता है? दैव यदि कुपित हुआ तो क्या करेगा? यही न, कि उनके शरीर का नाश करदे व धन-दौलत, स्त्री-पुत्रादिकों से वियोग करादे। पर इसकी आशा तो वे पहले से ही लगाये बैठे हैं।

भावार्थः—जो जग से उदास होकर बैठे हैं उनको दैव दुःखी नहीं कर सकता है। एक तो वे हानि-लाभ, मरना—जीना, इन सभी को बराबर देखते हैं, इससे आत्मा को शांत बना चुके हैं। दूसरे, वे कुछ दिन बाद कर्मों से पूरे ही मुक्त हो जायंगे। ऐसे साधुओं का दैव क्या कर सकता है? हॉ, जो घर-द्वार छोड़कर भी जब अपना निर्वाह याचना बिना असंभव समझकर याचना करने लगते हैं तब उन्हें दैव चाहे जैसा दुःखी कर सकता है। क्योंकि, जिन्हें वे चाहते हैं वे चीजें दैवाधीन हैं। चाहे तो दैव उनका संयोग होने दे और चाहे तो न भी होने दे। इसीलिये याचना से सुख मिलना कठिन है और याचना करना छोड़ देने पर तो निर्द्वन्द्वता प्राप्त हो जाने पर सुख ही सुख है। असल में बात तो यह है कि विषयों की आशामात्र ही दुःखदायक है। देखो—

**परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।**
**यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया॥ १६४॥**

अर्थः—दो ही मनुष्य स्तुति व निन्दा की सीमा को पहुॅचते हैं। जो तप करके आत्म कल्याण के साधने की इच्छा से राज्य भोगादि बड़ी से बड़ा विषय सुख सामग्री को छोड़ता है वह तो कीर्ति व स्तुति की सीमा को पा लेता है, और जो धारण किये हुए तप को भी विषयों की तुच्छ मूलक आशा को छोड़ता है वह निन्दा व अकीर्ति की सीमा को प्राप्त होता है। ठीक ही है, उसके समान और कौन मूर्ख होगा जो कि आत्म कल्याण के सच्चे मार्ग में प्रवेश करके भी उससे पराङ्मुख हो गया हो। जिन्हें विवेक-

नेत्र प्राप्त नहीं हुए वे विपयों मे फसकर यदि दुःखी होते हैं तो कुछ आश्चर्य नहीं है। पर दीपक को हाथ मे पकड़ कर भी जो खड्डे मे पड़ जाय उसका आश्चर्य है। उसी की लोग अति निन्दा करते है। और जो तपश्चरण करके आत्मा को परम पवित्र वनाते है उनकी स्तुति तो देवों के स्वामी इन्द्र भी करते हैं; मनुष्य स्तुति करे, इसमे तो आश्चर्य हो क्या है ?

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं,
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम्।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विपं विषयात्मकं,
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥ १६५

**अर्थः**—कोई चक्रवर्ती होकर भी यदि अपने प्राप्त हुए चक्र तथा और भी सम्पूर्ण ऐश्वर्य को तप करने की इच्छा से छोड़ दे तो कुछ अनोखी वात नहीं है। क्योंकि, जो चक्रवर्ती वन जाने पर भी सुख नहीं मिल सके हो वे सुख तप धारण करने से मिलते है। तप का फल यह है कि जिसके लिये जग मे कोई उपमा नहीं, जो शाश्वत व स्वाधीन, वह सुख प्राप्त होता है। चक्रवर्ती का सुख कितना ही वडा हो परन्तु वह अनेक वार पहिले का अनुभव किया हुआ होता है, पराधीन व अन्त में नष्ट हो जाने वाला होता है। इसीलिये उसे छोड़कर जो अनुपम स्वाधीन, नित्य सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करे तो यह बुद्धिमानी ही है।

हाँ, यह बड़ा आश्चर्य है कि विष के तुल्य विषयों को दुःख-दायक समझ कर भी व एक वार इसीलिये उन्हें छोड़कर भी अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तप मे लग कर भी फिर से भोगों की आशा उत्पन्न कर तप को छोड़ दिया जाय। जो ऐसा करता है उसकी भूल का क्या ठिकाना है ?

**भावार्थः**—अधिक सुख के लिये थोड़ासा सुख छोड़ देना, यह बुद्धिमानी है। और थोड़े व तुच्छ सुख के लिये अधिक सुख तथा अधिक सुख के कार्य को छोड़ वैठना मूर्खता है। संसार मे वडे से बड़ा सुख चक्रवर्ती को मिल सकता है। परन्तु तप के सामने वह भी कोई चीज नहीं है। इसीलिये तप को पाकर उससे उदास होना

और विषयों की तरफ फिर से मोहित होना बड़ी ही भारी भूल है समझ बूझ कर यदि कोई ज्ञानी मनुष्य ऐसा करे तो और भी बड़ा आश्चर्य है। इसीलिये अरे भाई, जब कि तू तप करने में प्रवृत्त हो चुका है तो अब विषयों की तरफ झुके मत। याचना की इच्छा करने से यह मालूम पड़ता है कि तुझे विषयों के विना रहा नहीं जाता। पर याचना की कि तू ऊपर से नीचे गिरेगा। इसका तुझे डर नहीं है? देख:—

**शय्यातलादपि तु कोपि भयं प्रपातात्,**
**तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम्।**
**चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्,**
**धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति॥ १६६**

**अर्थ:**—जब कि छोटासा बच्चा भी खाट के ऊपर बैठा हुआ नीचे की तरफ देखता है तो ऊची उस खाट पर से नीचे पड़ जाने को वह डरता है, क्योंकि, नीचे गिर जाने से मुझे चोट लग जायगी, यह बात वह समझता है। पर आश्चर्य कि तू बुद्धिमान् होकर भी तप के उच्च पद से नीचे गिरने को डरता नही है। इस तप को छोड़कर जब तू हीन दीन संसारी जनों की श्रेणी मे आकर पड़ेगा तब जो आत्मा तप से अति सुखी होने वाला था वही संसार के आवातों से कितना दुःखी होगा, इसकी तुझे कुछ संभावना भी है कि नहीं? जो ऊपर से नीचे गिरता है उसे चोट लगती ही है जिससे कि वह अति दुःखी होता है। यह तप का पद तो बहुत ही ऊंचा है। जिसको स्वर्गवासी देवेन्द्र भी नमते हैं उसकी ऊंचाई का क्या ठिकाना है? यह तप स्वर्ग की अवस्था से भी अधिक ऊंचा व श्रेष्ठ है। इसीलिये तप में स्थित हुए मनुष्य को इन्द्रादिक भी पूजते हैं। संसार मे सब से ऊंचा स्वर्ग। पर जब कि तप स्वर्ग के पद से भी ऊंचा है तो उससे अति हीन अवस्था रूप ससार मे नीचे गिरना अति दुःखदायक क्यों नहीं होगा? और तू कुछ अज्ञानी नहीं है। फिर भी तू उसको छोड़कर विषयों की तरफ नीचा झुकने में डरता नहीं है यह आश्चर्य है।

**विशुध्यति दुराचारः सर्वोपि तपसा ध्रुवम्।**
**करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरोऽपरः॥ १६७**

**अर्थः**—तप से बड़े से बड़े पातक भी सम्पूर्ण नष्ट हो जाते हैं ऐसी महिमायुक्त तप को कितना सँभाल कर रखना चाहिये ? पर विषयों में अति लुब्ध हुए कोई कोई नीच प्राणी उस तप को भी विषयवासना के द्वारा मलिन कर देते हैं।

**भावार्थः**—जीव को जब तक सुख के सत्य मार्ग का ज्ञान नहीं हुआ हो तब तक वह नीच कर्म करने से ही सुख की प्राप्ति होना समझता है। और इसीलिये वह नीच कर्मों से उपरत नहीं होता। वह नीच है। पर जो आत्मकल्याण करने की प्रतिज्ञा कर इस तप में आकर लगता है वह भी यदि तप को करते करते संसारी जनों की सी नीच वासना में फस जाय अथवा तप व मोक्ष मार्ग को ही उलटा समझ कर वैसा चलने लग जाय तो वह अति नीच है। इसलिये तपस्वी को चाहिये कि वह तप को वीतराग अवस्था में ही रहने दे। तप को विषयवासना में मिला देने से ससारी जनों में तथा तपस्वी में अन्तर ही क्या रहेगा ?

**सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किंतु,**
**विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः।**
**पीत्वाऽमृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः,**
**संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥ १६८ ॥**

**अर्थः**—जग में आश्चर्यकारी वहुतसी वातें है व सदा होती रहती है। परन्तु हम उन्हें देखकर भी आश्चर्य नहीं मानते, और असली आश्चर्य उनमें है ही नहीं। वस्तुओं का जो परिवर्तन कारण पाकर होने वाला है वह होगा ही। उसमे आश्चर्य किस वात का ? हाँ, ये दो वाते हमको आश्चर्ययुक्त जान पड़ती हैं। कौनसी ? एक तो यह कि, अतिदुर्लभ अमृत को पीकर उसे उगल देना, दूसरी यह कि, संयम की निधि पाकर उसे छोड़ देना। जो ऐसा करते हैं वे भाग्यहीन समझने चाहिये।

**भावार्थः**—जो अति मूर्ख होगा वही अमृत पीने को मिलने पर भी, तथा उसे पी लेने पर फिर उगलेगा। लोग यह समझते है

कि अमृत पी लेने से फिर मृत्यु पास नहीं आता। जब मरण नहीं तो बुढ़ापा एक आधा-सा मरण ही है, वह भी क्यों आवेगा? बस, अमृत पीने वाला मनुष्य सदा आनन्द में मग्न रह सकता है। उसे कभी किसी प्रकार की आपत्ति, क्लेश सहने नहीं पड़ते। जब कि अमृत की यह बात है तो संयम तो सर्वथा ही कर्मादि दु:ख कारणों का निर्मूल नाश करने वाला है। इसलिये संयम निधि को पाकर जो छोड़ना चाहता है वह तो बहुत ही बड़ा मूर्ख है। उसकी इस अज्ञानपूर्ण कृति पर जितना आश्चर्य हो उतना ही थोड़ा है। उसके बराबर जग मे भाग्यहीन और कौन होगा? इस अचिरज से और कौनसा अचिरज बड़ा होगा? सब से बड़ा यही अचिरज व यही अनौखी बात है। तब क्या करना चाहिये? तप व सयम ये ही असली नित्य सुख के साधन है इसलिये तप व संयम को कभी छोड़ना नहीं चाहिये। देखो :—

इह विनिहितबह्वारम्भबाह्योरुशत्रो,—
रुपचितनिजशक्तेर्नापरः कोप्यपायः।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः,
कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥ १६९ ॥

**अर्थः**—अरे भाई! तैंने मुनिपद धारते ही बाहिरी शत्रुओं का तो उच्छेद कर ही दिया है। पाप कर्मों को संचित कराने वाले विषय व परिग्रहों का आरम्भ करना मुनिपद धारते ही छूट जाता है। ये आरम्भ ही बाहिरी शत्रु हैं। इनके रहने से जीवों के अन्तर-परिणाम शुद्ध नहीं रह पाते। इसीलिये ये बाहिरी उपाधि है। तू इनका अभाव तो कर ही चुका है। जब कि बाहिरी विघ्नों का नाश हो चुका हो तो फिर अन्तर-शत्रुओं का नाश करने के लिये अपनी आत्म शक्ति को और भी बढ़ाना चाहिये। पर उसे भी तू प्राप्त कर चुका है। सयम के अनेक प्रकारों को साधने से आत्मबल बढ़ता है। वह संयमानुष्ठान तैंने बहुत दिनों से शुरू कर रक्खा है। इसलिये तुझे अन्तर-शत्रुओं का नाश करने मे अब कोई दूसरे विघ्न

१—'निजपरिरक्षा'—ऐसा भी पाठ हो सकता है।

२—मुनियों के अन्तरग शत्रु रागद्वेषादि कषाय। कषायों को बढ़ाने के लिये निमित्त जो बाहिरी परिकर, वह बाह्य शत्रु समझना चाहिये।

तो वचे दीखते नहीं है, कि जो संसारी क्षुद्र प्राणियों को आड़ आते हैं। हाँ, भोजन करना, चलना, बैठना, सोना—ये थोड़े से व छोटे से आत्मकल्याण साधने मे विघ्नरूप शेष रहे हुए हैं। क्योंकि मुनि पद हो जाने पर भी भोजन-शयनादि कुछ प्रमादवर्धक क्रियाए बाकी रह जाती हैं, जो कि शीघ्र छूट नहीं पातीं। यों तो उन्हें भी छोड़ने का प्रयत्न तुझे करना ही चाहिये पर, जब तक वे क्रियाएं निश्शेप छूट नहीं पातीं तब तक भी उनसे सावधान होकर तो रह। क्योंकि, तुझे अन्तर-शत्रुओं का नाश करना अवश्य है। यदि इन भोजनादिक कार्यों मे तू मोहित हुआ तो कालान्तर मे धीरे-धीरे महापाप तक करने को तत्पर हो जायगा। किसी भी बुरे कर्म की आदत या सम्बन्ध थोड़ा सा भी परिपाक मे दु:ख देने वाला होता है। वह इसीलिये कि, थोड़ीसी आदत भी बढ़ते बढ़ते अपने अंतिम ध्येय तक मनुष्य को कभी न कभी पहुँचा देती है। इसीलिये यदि तुझे अपनी पाप कर्मों से रक्षा करनी है तो तू इन भोजनादि तुच्छ विषयों मे मोहित मत हो। सदा सावधान रह। तभी तू अपनी रक्षा कर सकेगा। जिसको अपना कोई बड़ासा कार्य सिद्ध करना होता है वह अपने कार्य में विघ्न डालने वाले बाहिरी, भीतरी सभी शत्रुओं से बचता रहता है।

भोजनादि विपयों मे प्रमादी न वनने का उपाय—

**अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते,**
**वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।**
**समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं,**
**श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥ १७० ॥**

**अर्थः**—बंदरों का स्वभाव चचल होता है। पर वे फल-फूलों से हरे भरे वृक्षों पर रम जाते हैं। वैसा उन्हें कोई वृक्ष यदि मिल जाता है तो फिर वे वहा से हटते नहीं हैं। मन, यह एक बन्दर के तुल्य है, अति चचल है। फल पत्ते व डालियों से भरा हुआ वृक्ष यदि इसके लिये हो तो उस पर यह रम सकता है, फिर वहां से कहीं भी नहीं हटेगा। यह सोच विचार कर संत पुरुषों ने इस मन को रमने योग्य वृक्ष ढूंढ निकाला। वह क्या ? शास्त्र। मन रमने के लिये शास्त्र ही सबसे अच्छा वृक्ष है। इस पर रमाने से कुकर्म होने

से भी रुकते हैं और मन का विनोद भी बराबर सधता है। इस शास्त्र-वृक्ष में वृक्षों की सी सभी चीज मौजूद हैं। देखो:—

इस शास्त्र में अनेकान्त स्वरूप जीवादि पदार्थ भरे हुए हैं। ये ही इस श्रुतस्कन्ध या शास्त्र-वृक्ष के फलफूल हैं, कि जिनके भार से यह वृक्ष खूब ही नीचे की तरफ झुक रहा है। अनेक युक्ति प्रत्युक्तियों से पूर्ण जो संस्कृत प्राकृत वचन हैं वे इस श्रुतस्कन्ध के पत्ते हैं। वे भी इसमे खूब ही लहलहा रहे हैं। अनेक सत्य नयमार्गों का वर्णन भरा हुआ है जिससे कि मिथ्या कल्पना व मिथ्या सिद्धान्तों का खंडन होता है तथा सत्य सिद्धान्तों का मंडन होता है। ये नय ही इस वृक्ष की सैकडों शाखाएं हैं। विश्वस्वरूप का निरूपक होने से यह वृक्ष अत्यन्त उन्नत हो रहा है। सत्य व विशद मतिज्ञान द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है इसलिये यह मतिज्ञान ही इस श्रुतस्कन्ध की जड़ है। ऐसे इस शास्त्र-वृक्ष पर बुद्धिमान् हितेच्छु जनों को यह मन-बदर सदा ही रमाना चाहिये।

ऐसा किया तो विषयों मे उसको प्रवेश होने का समय ही नहीं मिलेगा। उस समय पापकर्मों से आत्मा की रक्षा कर लेना कोई बड़ी कठिन बात नहीं है। यह ठीक बात है कि जो शास्त्र का तत्त्वचिंतन करने मे मन को रोकता है वही आत्मा का पूर्ण कल्याण सिद्ध कर सकता है। शुक्लध्यान मे भी शास्त्र का चिंतन किया जाता है जिससे कि केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार देखने से मालूम होगा कि साधुओं की कोई एक भी ऐसी क्रिया नहीं है कि जिसमें तत्त्व व शास्त्र का चिंतन छूट जाता हो अथवा अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग न रह सकता हो। जो साधु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग को क्षण के लिये भी छोडता है वही तत्काल मुनि पद से भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिये साधुओं को शास्त्राभ्यास मे रमाने का यह उपदेश दिया गया है।

श्रुतज्ञान मे मन लगाकर चिंतन क्या करे?

**तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति।**
**इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा॥ १७१॥**

**अर्थः**— प्रत्येक पदार्थ किसी एक इष्ट स्वरूप की मुख्य भावनावश उस स्वरूप को धारण करता है, तो भी केवल वैसा ही नहीं है। तब? और और स्वरूपों की अपेक्षा और और प्रकार का भी

है। जैसे कि एक कोई पदार्थ उसकी विशेष अवस्थाओं की तरफ लक्ष्य देने से प्रतिक्षण विनश्वर स्वभाव वाला दीख पड़ता है। परन्तु वही सामान्य दृष्टि से देखने पर सदा एक सारखा दीख पड़ेगा। इसीलिये जग के सारे तत्त्वों को सामान्यतया कहना हो तो वैसे हैं भी और वैसे नहीं भी हैं; अर्थात्, प्रत्येक पदार्थ तत अतत्स्वरूपी हैं ऐसा कहने मे आता है। और इसीलिये जग के कुल तत्त्व अनाद्यनंत हैं। विनष्ट होने वाला एक भी तत्त्व नहीं है। इस प्रकार विश्व-तत्त्वों का ज्ञानी मष्नुय सदा चिंतन करे। एक ही पदाथ को तत् अतत्स्वरूपी मानना झूठा नहीं है। देखो —

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मकम्।
अबाधितान्यतःप्रत्ययान्यथानुपपत्तितः॥ १७२ ।[१]

**अर्थः**— एक एक पदार्थ प्रत्येक क्षण मे ध्रुव भी अनुभव सिद्ध जान पड़ता है और उत्पत्ति तथा नाशयुक्त भी उसी समय में जान पड़ता है। यह कैसे मालूम करना चाहिये? क्यों कि,

किसी भी वस्तु को लीजिये, वह, परस्पर के पूर्वोत्तरकालवर्ती पर्यायों में भेद देखने से एक दूसरे से जुदा जान पड़ेगा परन्तु वही पदार्थ सामान्य दृष्टि से देखने पर एक सरीखा अथवा अखंड दीख पडेगा। इसलिये मानना पड़ता है कि जुदा जुदा दीख पड़ता है इस कारण पदार्थ सदा एक सा नहीं टिकता; किंतु पूर्व पर्यायों का नाश व उत्तर पर्यायों की उत्पत्ति होती ही रहती है। और इसलिये यावत् पदार्थ प्रतिक्षण मे उत्पत्तिनाशयुक्त मानने पड़ते हैं।

अब देखिये पदार्थों का नित्य स्वभाव। किसी पदार्थ के पूर्वोत्तर पर्यायों पर यदि विशेष लक्ष्य न हो तो पदार्थ सर्वदा एकसा ही जान पड़ेगा। जब कि पूर्वोत्तर पर्यायों में जुदायगी दीख ही नहीं पड़ती तो प्रत्येक पदार्थ को अनादि से ध्रुव-शाश्वत या नित्य क्यों न माना जाय? बस, इस प्रकार पदार्थों में तीनों स्वभाव सिद्ध होते हैं। इसका एक उदाहरण —

एक किसी माटी को लीजिये। वह माटी विगड़ कर उसमे से घड़ा भी पैदा होता है और वह फूट जाने पर कपाल या टुकड़े भी उसी में पैदा हो जाते हैं। अब घड़े की हालत में यदि किसी

---

१—घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥ ( आप्तमीमांसा )

को बिखरी हुई धूल समान माटी की जरूरत लगी हो तो वह मनुष्य घडे को देखता हुआ भी कहता है कि यह फूटी माटी नहीं है। और जिसे घड़े की ही जरूरत है वह कहता है कि घड़ा तयार है। जिसे कि उसके मूल्य की तरफ लक्ष्य हो वह घडे व फूटी माटी, इन दोनों को तुल्य माटी-मोल के समझ कर दोनों को माटी ही कहता है। उसे उसके आगे पीछे के पर्यायों मे कुछ भेद ही नहीं जान पड़ता। ये तीनों ही भाव एक ही घड़े के देखने से उत्पन्न होते हैं। इसलिये एक एक वस्तु के ही तीनों स्वभाव मानना उचित है। यदि ये तीनों स्वभाव एक ही पदार्थ के न होते तो एक पदार्थ के देखने से तीन प्रकार के विचार अथवा भेद–अभेद रूप दो प्रकार के विचार कभी उत्पन्न नहीं होते[1]। पर ऐसे विचार एक ही पदार्थ के देखने पर भी उत्पन्न तो होते हैं। इसलिये उन विचारों की उत्पत्ति के कारण रूप जो स्वभाव वे एक एक पदार्थ मे मानने पड़ते है। और भी:—

> न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं,
> नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात् ।
> तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप, —
> माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम् ॥ १७३

**अर्थः**—तत्त्व न तो केवल नित्य ही है और न क्षणिक ही है। केवल ज्ञानमात्र भी तत्व का स्वरूप नहीं है और कुछ नहीं हो ऐसा भी नहीं है। तब ? प्रतिक्षण तत् अतत् स्वरूपों को धारण करनेवाला तत्त्व माना गया है। किसी भी तत्त्व की उत्पत्ति व नाश की अवधि नहीं ठहर सकती है। जो कोई भी तत्त्व है वह सदा से है व सदा ही रहेगा। इसीलिये उसे आद्यन्तवर्जित कहते हैं। जैसा एक का स्वरूप वैसा ही यावत् पदार्थों का स्वरूप समझना चाहिये। अर्थात्, किसी भी एक पदार्थ को देखने से वह ऐसा ही दीखेगा, और इसीलिये यही सर्व विश्व के तत्त्वों का स्वरूप समझना चाहिये।

---

१—अभिधानप्रत्ययवशादर्थस्वरूपनिर्धारणम्। अन्यथा कथमप्यर्थस्वरूप-निश्चयो न स्यात्। अर्थे यथाभिधान दृश्यते यथा च दृष्ट्वा प्रतीतिर्भवेत्तथैव सोर्थ इति निश्चेतव्यम् ॥

**भावार्थः**—( १ ) साख्यमत के लोग तत्त्वों का स्वरूप सर्वथा नित्य मानते हैं। ( २ ) बौद्ध दर्शन वाले तत्त्वों का स्वरूप क्षण विनाशी मानते हैं। ( ३ ) ज्ञानाद्वैतवादी वेदान्तादि दर्शनों मे केवल ज्ञान ही ज्ञान माना गया है। वाह्य वस्तुओं का अस्तित्व उन्हें मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि जो कुछ दीख पड़ता है वह सव मन की भावना है। वास्तव में बाह्य कोई पदार्थ नहीं है। जव किसी जीव का किसी एक चीज की तरफ उपयोग नहीं लग रहा है तव उस चीज की कल्पना भी नहीं होती। और इसीलिये उस समय उसके मानने मे भी कोई प्रमाण नहीं है। यह हुआ तीसरा पक्ष ( ४ ) चौथा ऐसा पक्ष है कि बाहिर भीतर कुछ है ही नहीं। जिस किसी बात की तरफ विचार करने लगते हैं उसी मे अनेक आशंकाएं उठने लगती हैं। वस्तुओं का स्वरूप न तो परस्पर मे अभिन्न ही सिद्ध होता है और न भिन्न ही सिद्ध होता है। वस्तुओं का कैसा भी स्वरूप माना जाय परन्तु सभी मे दोष व अपवाद-पना दीख पड़ता है। कोई भी एक स्वरूप निर्दोष व शाश्वतिक दीख नहीं पड़ता है। इसीलिये वस्तु कुछ है ही नहीं यह मानना उचित जान पड़ता है। इस प्रकार तत्त्वो के मानने में स्थूल भेद रखने वाले ये चार मत हैं। चौथे का नाम तत्त्वोपप्लववादी या अभाववादी है।

( १ ) श्लोक मे इन चारों पक्षों का उल्लेख करके यह कहा कि इन चारों में से किसी भी एक का कहना उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि, ऊपर कहा हुआ एक भी प्रकार अनुभव सिद्ध नहीं होता। जव देखते हैं तो वस्तुओं का स्वरूप सदा एकसा या टिकाऊ-पना नहीं दीख पड़ता। कुछ न कुछ चंचलता सभी में होती दीखती है। इसलिये वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है।

( २ ) चंचलता या उथलापथल कैसा भी हो परन्तु किसी भी वस्तु की श्रृङ्खला टूटती नहीं दीखती है। परिवर्तन होकर भी वस्तुओं का कोई न कोई रूप सदा बना ही रहता है। जैसे अंकुर की उत्पत्ति निराधार न होकर बीज में से ही होती है। यदि वस्तु-मात्र एक दूसरे से सम्बन्ध न रखकर नवीन-नवीन ही उत्पन्न हो व पहली अवस्थाओं के नाश भी सर्वथा होते जांय तो विना वीज के भी उत्पत्ति होनी चाहिये थी। पर नही होती। इसीलिये तत्त्व केवल क्षणविनाशी भी नहीं है।

(३) वाहिरी पदार्थों का सद्भाव तो अनेक युक्तियों से जानने मे आ सकता है व अनुभव के भी अनुकूल है। यदि ज्ञान मात्र ही वास्तविक तत्त्व होता तो उसमे अनेक रूपान्तर होना संभव नहीं था। कारण के विना कार्य का उत्पन्न होना जिस प्रकार असंभव है उसी प्रकार कारणों मे भेद न रहते हुए कार्यों में विचित्रता होना भी असंभव है। वेदान्त का वचन[1] है कि वस्तुओं का सर्वथा अभाव मानना उचित नहीं है; क्योंकि, वस्तुएं देखने मे आती हैं। वस, जिस प्रकार सद्भाव दीखने से उनका अभाव माना नहीं जा सकता। उसी प्रकार जैसा दीखता हो और जहां पर दीखता हो वह वैसा और वहीं पर मानना तथा अवश्य मानना उचित जान पड़ता है। वस्तुएं जड़ व वाहिर की तरफ पड़ी हुई भी जान पड़ती हैं इसलिये ज्ञान के अतिरिक्त वाह्य पदार्थों का मानना भी न्याययुक्त है।

(४) जव कि, वाहिरी वस्तुओं का मानना भी न्याययुक्त है तो सर्वथा वस्तु मात्र का अभाव मानना तो सहज मे असत्य जान पडेगा। यदि वस्तु मात्र का अभाव हो तो वोलने व कहने वाले का भी अभाव रहेगा। और इसीलिये इस अभाव तत्त्व का स्थापित करना भी कठिन हो जाता है।

जव कि वस्तु स्वरूप दिखाने वाले इन चारों पक्षों में दोष जान पड़ते हैं तो वस्तु स्वरूप निर्दोष कैसा होगा? इस प्रश्न का उत्तर श्लोक के उत्तर आधे भाग में दिया है। वह यों कि, तत्त्वों का स्वरूप प्रतिक्षण परिणामी व सदा स्थिर है। अथवा नित्यानित्य, एकानेक भिन्न अभिन्न व सत् असत् ऐसा वस्तुओं का स्वरूप है। और यह स्वरूप किसी एक ही तत्त्व का नहीं है किन्तु सभी तत्त्वों का स्वरूप ऐसा ही है। यह स्वरूप सदा ही वना रहता है; न कि कभी नित्य कभी अनित्य। इसका समर्थन पहले किया जा चुका है कि जो पदार्थ जैसा दीख पड़ता हो व जैसा कहने मे आवै वही व वैसा ही उसका स्वरूप मानना चाहिये। वस्तुएं नित्यानित्य ही दीखने मे आती हैं व सामान्य-विशेष अपेक्षा वैसी ही कहने मे आती हैं इसलिये नित्यानित्य आदि स्वरूप ही ठीक जान पड़ता है।

---

१—"नाभाव उपलब्धेः" वेदान्तसूत्र दूसरा अध्याय।

आत्मा का परिचय कैसे हो ?

**ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।**
**तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥**

**अर्थः**—उत्पत्ति, स्थिति, नाश इन तीनों धर्मों का सतत रहना यह तो हुआ वस्तुओं का सामान्य लक्षण। इन्हीं सर्व वस्तुओं के अंतर्गत जीव भी एक द्रव्य या तत्त्व है। उसका भी सामान्य स्वभाव तो वही है कि जो वाकी सर्व वस्तुओं का है। परन्तु जीव जीवों का निजी तत्त्व है व उसी के कल्याण के लिये सारा घटाटोप है—शास्त्रों का उपदेश व व्रत, तप, दान, धर्म, ये सर्व कर्म केवल जीव के ही कल्याणार्थ[१] कहे व किये जाते हैं। इसलिये जीव की निराली पहिचान होना वहुत ही आवश्यक कार्य है। उसके कल्याण के मार्ग उसके जानने पर ही जाने जा सकते हैं। तव ?

जीव का स्वभाव ज्ञान है। जीवों को जितने दुःख, अशांति, उद्वेग, क्षोभ, होते दीखते हैं वह सब रागद्वेष के वश होने से, व अज्ञान रहने से। इसी प्रकार जहां जहा पर रागद्वेष की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पड़ती है वहा वहां पर सुख-शाति व अनुद्वेग देखने में आता है। वस्तु मे उद्वेग व अशांति न रहना यही उस वस्तु का मूल स्वभाव समझना चाहिये। क्षोभ व अशाति अथवा उथलापथल होना विजातीयसयोग का कार्य है। इसीलिये क्षोभ रहित शांत होकर ठहरना वस्तु का मूल स्वभाव समझा जाता है। रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा मे क्षोभ-अशांति मिटती है और शांति प्राप्त होती है। रागद्वेष की अवस्था जैसी जैसी मंद होकर तत्त्व ज्ञान की वृद्धि होती है वैसी ही वैसी जीवों को शांति प्राप्ति होती हुई जान पड़ती है। इसलिये रागद्वेष का पूर्ण अभाव होकर ज्ञान की पूर्णता होने को निज स्वभाव व पूर्ण सुख शांति प्राप्त होने का कारण मान लेना अनुभव के विरुद्ध न होगा।

वस, वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति होना ही अविनाशी अवस्था का प्राप्त होना है। वह अवस्था कभी फिर छूटती नहीं है। इसलिये जो अपने अविनाशी पद की आकांक्षा करते हों उन्हें चाहिये कि,

---

१—श्रेयोमार्गप्रतिपित्सा आत्मद्रव्यप्रसिद्धे., इति श्रीअकलकदेवाः।

ज्ञान की आराधना करे। क्योंकि, ज्ञान जीव का मूल स्वभाव है। किसी भी वस्तु को चिरकाल तक भावना या आराधना करने से उसकी प्राप्ति एक दिन अवश्य होती है।

ज्ञान-भावना का फल:—

**ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।**
**अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥ १७५ ॥**

**अर्थ:**—ज्ञान की आराधना करने का या ज्ञान मे मग्न होने का असली व उपयोगी फल यही है कि परोक्ष व अल्प श्रुतज्ञान हटकर सकलप्रत्यक्ष केवल ज्ञान का लाभ हो। यह फल अनिश्वर है व आत्मा को पवित्र तथा सुखी बनाने का कारण होने से स्तुत्य है। तपश्चरण करना, धर्माचरण करना, ज्ञानाभ्यासादि करना, यह सब इसलिये कि अणिमा महिमा-आदि ऋद्धि, सिद्धि व संपत्ति आदि की प्राप्ति हो; ऐसा मानना मोह का माहात्म्य है। जिन जीवों को मोह शांत होकर आत्म तत्त्व परीक्षा प्राप्त नहीं हुई है वे इन पराधीन क्षणनश्वर दु:खमय ससार विषयों की अभिलाषा करते हैं। घर-द्वार छोड़कर तपस्वी बनने पर भी उनकी यह अभिलाषा नष्ट नहीं हो पाती। इस मोह की महिमा का क्या ठिकाना है? परन्तु यह खूब समझ लो कि चाहने से कुछ मिलता नहीं है।

**शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।**
**अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥ १७६ ॥**

**अर्थ:**—शास्त्रों का ज्ञान होने से वस्तुओं का सच्चा प्रकाश होता है और कर्मकलंक जल जाते हैं। इसलिये शास्त्र-ज्ञान एक प्रकार का अग्नि है। अग्नि मे पड़ने से रत्न जैसे शुद्ध होकर चमकने लगता है वैसे ही निर्मोह हुए भव्य जीव शास्त्र ज्ञान में मग्न होकर कर्म-कालिमा को जला डालते हैं और निर्मल होकर अथवा कर्मों से छूट कर प्रकाशमान होने लगते हैं। और जिनकी विषय-वासना छूटी नहीं है ऐसे मोही जीव शास्त्र ज्ञान में प्रविष्ट होकर भी आधे जले हुए अङ्गार की तरह चमकते तो हैं परन्तु मलिन ही

१ पुण्णंपि जो समीहदि ससारो तेण ईहिदो होदि।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥ स्वामिकुमार।

बने रहते हैं। अन्त में जब कि पूरे जल चुकते हैं तो भस्म की तरह प्रकाश से शून्य निस्सार हो जाते हैं। ठीक ही है. मोही जीव यदि ज्ञान का संपादन भी करें तो भी अन्त में विषयासक्त होकर अज्ञानी बन जाते हैं। नीच कर्म करने से वे मलिन दीखने लगते हैं व विवेकशून्य हो जाने से अन्त में भस्म की भांति निस्सार दीख पड़ते हैं। परन्तु ज्ञानो उसी शास्त्र ज्ञान के द्वारा पवित्राचरण रखता हुआ चमकता है व अन्त में शुद्ध बन जाता है।

निर्मोही साधुओं की शुद्ध ज्ञानभावना:—

**मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।**
**प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १७७ ॥**

**अर्थः**—अपने श्रेष्ठ ज्ञान को बार-बार पसार कर यथास्थित सर्व तत्त्वों को देखे और रागद्वेष को छोड़कर उन तत्त्वों का बार-बार जैसा का तैसा चिंतन करे। ऐसा चिंतन आत्मवेदी वीतराग के हाथ से ही हो सकता है।

जो कि मोही हैं वे जिस पदार्थ को देखने लगते हैं उसी में उनकी प्रीति, नहीं तो अप्रीति अवश्य व तत्क्षण उत्पन्न होती है। वह उत्पन्न हुए विना रहती नहीं। और वह उत्पन्न हुई कि जीव को कर्मबन्धन तयार है। देखो:—

**वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे ।**
**आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥ १७८**

**अर्थः**—आवृत्ति, किसी वस्तु को अपनाना या अपनी तरफ खीचना। परिवृत्ति, किसी वस्तु को अहितकारी समझ कर उसे दूर करना या उससे मन हटाना। अर्थात् राग व द्वेप। ये जबतक जीव से छूटे नहीं हैं तबतक वस्तुओं के ग्रहण करने से भी कर्मबन्ध होता है व समय पाकर उदय प्राप्त होता है; और वस्तुओं के छोड़ने से भी कर्मों का बन्ध व उदय होता है। क्योंकि, वस्तुओं का छोड़ना व ग्रहण करना इन दोनों ही अवस्थाओ मे राग-द्वेप जाज्वल्यमान बना हुआ है।

वेष्टन, बन्ध होना। उद्वेष्टन, फल देते हुए कर्मों का छूटना। ये दोनों बाते तबतक अवश्य बनी हुई है जबतक कि रागद्वेप या

इच्छापूर्वक बुरा भला मानकर वस्तुओं का छोड़ना व धरना होता रहेगा। बस, इसी का नाम संसारभ्रमण है। परन्तु वस्तुओं के छोड़ने धरने की चिन्ता मे मग्न रहना व अनात्मज्ञानी बनकर कर्म बन्धन से जकड़ना उदयकाल आने पर और भी अधिक मोहित होकर उन्मत्तवत् दुःखी होना, इधर उधर जन्म धारण करते भटकना, इसी का नाम भवभ्रमण है। जबतक रागद्वेष है यह भ्रमण तबतक नहीं छूटेगा।

जैसे रई मे पड़ी हुई रस्सी को मनुष्य जबतक साधकर निकालना तो न चाहे; किन्तु एक छोक को खींचता रहे, एक को ढीला करता रहे तो रई के चक्कर कभी बन्द न होंगे। उसके खींचने से भी बल पड़ते हैं और ढीला करने से भी बल पड़ते है। भ्रमण उसका तभी बन्द होगा जब कि उसमे से रस्सी को बिलकुल निकाल कर अलग कर दिया जाय। यही उपाय जीव के छूटने का है। यही बात आगे कहते हैं। देखो:—

**मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।**
**जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम् ॥१७९॥**

**अर्थः**—जीव मे यदि रागद्वेष बने हों तो कर्मबन्धन के छूटते समय भी रागद्वेष के वशीभूत होने के कारण भवभ्रमण तथा नवीन कर्मबन्धन होता ही रहेगा अर्थात् कर्मबन्धनों का छूटना ही केवल कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि, रागद्वेष के रहते हुए एक कर्म के छूटते ही दूसरा कर्मबन्धन जकड़ जाता है। इसलिए वह छूटना किसी काम का नहीं है। इसलिए यदि वास्तविक कर्मबन्धन से छूटना हो तो ऐसी तरह से उसे छोड़ना चाहिए जिससे कि भवभ्रमण व नवीन कर्मबन्धन होना रुक जाय। उसका एकमात्र यही प्रकार है कि रागद्वेप हटाकर पूर्व कर्मों की निर्जरा की जाय। नहीं तो 'तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा' इस पूर्वोक्ति के अनुसार सदा ही जीव दुःखी व कर्म परतन्त्र रहेगा। क्यों:—

**रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।**
**तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥१८०॥**

**अर्थः**—जब तक रागद्वेष है तबतक जीव की कुल प्रवृत्ति व निवृत्ति संसार के विषयों मे ही रहेगी। और इसीलिए तबतक कर्म

बन्ध होता ही रहेगा। किन्तु रागद्वेष छूट जाकर शुद्ध हुए तत्त्वज्ञान द्वारा जो प्रवृत्ति व निवृत्ति होगी वह कुल आत्मा को लक्ष्य बना कर होगी इसलिए उस प्रवृत्ति से भी कर्मबन्धन छूटेगा और निवृत्ति से भी छूटेगा। प्रवृत्ति हुई तो आत्मचिंतन में या आत्मा की अद्भुत चेतनादि शक्तियों की महिमा विचारने में होगी। यदि निवृत्ति हुई तो अध्यात्मभावना में आड़ आने वाले विषयों से होगी। पर ये दोनों ही शुद्ध विचार के बढ़ाने वाली बातें हैं। इसीलिए तत्त्वज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति करते रहना चाहिये। इससे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसी का समर्थन:—

**द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।**
**तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम् ॥१८१॥**

**अर्थः**—जीवों की मानसिक भावना एक तो रागद्वेषपूर्वक होती है और एक वीतराग होकर तत्त्वज्ञानी बनने पर होती है। रागद्वेषमिश्रित भावना भी किसी की तो स्वार्थपूर्ण, अन्यायभरित, पक्षपातपूर्ण होती है और किसी की पक्षपात रहित न्यायानुकूल होती है। पहली अशुभ है, दूसरी शुभ है। वीतरागी की जो भावना होती है वह तीसरी है व शुद्ध है—मुक्ति का कारण है।

**अर्थात्**— गुणों के साथ द्वेष, सन्मार्ग के साथ द्वेष, सज्जनों के साथ द्वेष, न्यायमार्ग के साथ द्वेष, एवं दोषों में या नीच कर्मों में राग, दुर्जनों के साथ राग, अन्यायमार्ग में चलने की इच्छा इत्यादि अशुभ कर्मों के साथ राग व शुभ कर्मों से द्वेष होना, यह पाप कर्मों के बन्ध का कारण होता है। इससे उलटी प्रवृत्ति अर्थात् गुण व गुणी जनों में तथा न्यायमार्ग, धर्मकार्य आदि में प्रीति होना और दोष व दुष्ट जनों से तथा अन्यायमार्ग-अधर्ममार्ग से द्वेष रहना, यह शुभ कर्म है। इससे पुण्यकर्म का बन्ध होता है। परन्तु जिसकी बुद्धि में गुण व गुणी देखकर आनन्द नहीं होता और दोष व दुष्ट जनों को देखकर द्वेष नहीं होता ऐसी जो रागद्वेषरहित शुद्ध बुद्धि है वह मोक्ष का कारण है। वह बुद्धि जिसे प्राप्त हो जाती है वह संसार से छुटकारा पाकर सदा के लिए पवित्र व सुखी बन जाता है।

भावार्थः—यह कि रागद्वेष न तो भले कामों में ही अच्छा है और न बुरे कामों से। क्योंकि, कर्मबन्ध के कारण प्रत्येक राग-द्वेष है ही। इसीलिए जिसे अपना परम कल्याण करना इष्ट है उसकी भावना रागद्वेप छोड़कर केवल शुद्ध ज्ञान मे रहनी चाहिये।

रागद्वेप का नाश या उपशम कैसे हो ?—

**मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव ।**
**तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधक्षुणा ॥ १८२ ॥**

**अर्थः**—रागद्वेप की उत्पत्ति मोह–कर्म से होती है; अर्थात्, रागद्वेप की उत्पत्ति के लिये मोहकर्म बीज के समान है। जिस प्रकार कि वृक्ष के अंकुर व जड़ की उत्पत्ति उसके बीज से होती है। जैसे बीज अग्नि से जल सकता है, वैसे ही इस मोह–बीज के जलाने वाला अग्नि भी कोई होना चाहिये। मोह, अज्ञान व विपरीत ज्ञान उत्पन्न करने वाला है। इसलिये इसको जला डालने वाला अग्नि सम्यग्ज्ञान हो सकता है। जब कि मोह ही अनर्थकारी राग-द्वेष का निदान कारण है तो उसे ज्ञानाग्नि से भस्म कर देना चाहिये। क्योंकि, रागद्वेप अनर्थकारी है, इसलिये उन्हें नष्ट करने का विचार साधुओं का रहता ही है। और भी देखो :—

**पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक् ।**
**त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुध्यति रोहति ॥ १८३ ॥**

**अर्थः**—मोह ऐसा दुःखदायक है जैसा कि एक फोड़ा। अथवा फोड़े से भी अधिक। देखिये, फोड़ा जो बहुत दिनों का हो जाता है वह अधिक पीड़ा देने लगता है। मोह की तो कुछ मर्यादा ही नहीं है कि अमुक समय उत्पन्न हुआ था। मोह अनादि कालीन है। तो फिर इसकी विपमता व दुःख का क्या ठिकाना लग सकता है ? इसीलिये फोड़ा की वेदना होते हुए भी जीवों को सचेतता बनी रहती है परन्तु इस मोहरूप फोड़े ने जीवों की सावधानी तक नष्ट कर दी है। इतनी बड़ी वेदना इस मोह से प्राप्त हो रही है।

फोड़े आदि रोगों की उत्पत्ति में विरोधी ग्रह भी निमित्त हो जाया करते हैं। इसी प्रकार मोह की उत्पत्ति मे परिग्रह की

आसक्तता कारण हो रही है। यदि परिग्रहों में आसक्ति न होती तो मोह की उत्पत्ति व वृद्धि भी कभी नहीं होती। अज्ञान व राग-द्वेषादिक उपजना सब मोह का कार्य है व मोह कारण है।

फोड़ा जो बहुत बढ़ जाता है वह गहरा घाव कर देता है। मोह की गहराई का तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। जो अनादि काल से पैदा होकर सदा बढ़ रहा है उस मोह की गहराई का क्या ठिकाना है ?

मोह नरकादि गतियों को प्राप्त कराने वाला है और फोड़े से पीव वगैरह प्राप्त होते हैं। पीड़ा देने वाले तो दोनों हैं ही। यदि यह इतना दुःखदायक है तो यह कैसे ठीक हो ?

मोह के ठीक होने का उपाय यह है कि, परिग्रहों से वासना हटालो, अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाओ। बस, इससे मोह धीरे धीरे निर्मूल हो जायगा। जब तक विषय वासना हट कर आत्मज्ञान नहीं होता तब तक मोह की वृद्धि होती ही रहेगी। जिस प्रकार कि फोड़े को सुखाना हो तो पीव वगैरह जो निकलता है उसे धो-धाकर हटाते रहना चाहिये और उत्तम लोनी आदि चीजों की बनी हुई मल्लम उस पर लगाते रहना चाहिये। ऐसा करने से फोड़ा भीतर से साफ भी होता है व ऊपर से भर कर चमड़ा पुरकर बराबर भी हो जाता है। ठीक, यही दशा मोह की है। इसलिये मोह को भी आत्मानुभव के मल्लम से साफ या नष्ट कर देना चाहिये।

अब यह देखना चाहिये कि मोह जहां उत्पन्न होता है वहां की क्या अवस्था है ? जिन चीजों से मोह किया जाता है वे चीजें यदि परिपाक में वास्तविक दुःख के साधक हों तो उनमें मोह करना वृथा है। देखो —

**सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः।**
**सुहृदोपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः ॥१८४॥**

**अर्थः**—सुहृद व बन्धु-जन यदि सुखी बनाने वाले होते हैं और जो दुःख हैं वे यदि शत्रुओं से होते हैं तो सुहृद भी मरने पर दुःख देते हैं, इसलिये जग में जीव का कोई सुहृद हो ही नहीं सकता है। जब कि सुहृदों का मरण होता है तब प्राणी इष्टवियोग

समझ कर दुःखी अवश्य होते हैं। अहो भाइयो, तुम इतना विचार नहीं करते कि बन्धुजन तुम्हें जीते-जी तो आकुलता व प्रेम के बंधन में फसा कर दुःखी करते हैं और मरते हुए इष्टवियोग मनवा कर दु.खी करते हैं। तो भी तुम उनके लिये-शोक ही करते बैठते हो ! यह कहां की वुद्धिमानी है ? जो मरते मरते भी दुःख देने से बन्द न पड़े उसे सुहृद मानने की क्या जरूरत है ? उससे, व एक वैरी मे अन्तर क्या रहा ? तुम यह विचार नहीं करते क्या ? और भी देखो :—

अपरमरणे मत्त्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्,
विलपतितरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथास्य जडात्मनः।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा,
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेपि न केनचित् ॥१८५॥

अर्थः—मरण तो अलंघ्य है। परन्तु प्राणी पुत्र-कलत्रादिकों के मरने पर उन्हें अपना मानता हुआ रोता-पीटता है। अपने मरण को भी पास आते जानकर विचार विचार कर खूब रोता है। यदि निर्भय होकर मरने के समय सावधानी व धीरता धारण करे तो परलोक भी सुधरता है और साहसी होने के कारण कीर्ति भी अतिशय वढ़ती है। इसलिए कदाचित् किसी कारणवश यदि किसी का मरण हो तो वुद्धिमान् जन उसका शोक क्यों करने लगा ? शोक उसी मूर्ख को होगा कि जो इस बात को समझता नहीं है। जो मरण में निर्भय होते है उनके साहस की लोग भी अति प्रशंसा करते हैं और राग-द्वेष का उद्रेक न वढ़ने से परजन्म भी विगड़ता नहीं है। परन्तु ऐसी समझ मूर्खों को कहाँ से हो ? यह समझ तो वुद्धिमानों को ही हो सकती है।

दुःख दूर होने का उपाय:—

हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम्।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात् सर्वदा सुधीः ॥१८६॥

अर्थः—मनुष्य जबतक पर वस्तुओं में रागद्वेष की भावना रखता है तभी तक दु.खी है। जब कि यह भावना छूटी कि वास्तविक सुख उत्पन्न होता है। देखो·—

प्राणी किसी एक वस्तु को जब कि इष्ट समझ रहा है तो उसकी हानि होने पर उसे शोक पैदा होता है। शोक हुआ कि दुःख होना ही चाहिये। इसी प्रकार उस इष्ट मानी हुई चीज के मिलने पर प्रेम बढ़ता है। बस, प्रेम बढ़ा कि सुख प्रतीत होने लगता है। यह अवस्था अज्ञानियों की है। अरे, यदि शोक से दुःख व प्रीति होने से सुख जान पड़ता है और वह सुख भी आकुलतापूर्ण होने से असली व अविच्छिन्न रह नहीं पाता तो किसी की हानि होने पर शोक करना व किसी का लाभ होते प्रीति करना, यह छोड़ दो। ऐसा करने से सदा सुख ही सुख रहेगा और वह सुख ऐसा होगा कि जिसका फिर विच्छेद ही न हो। जब कि विच्छेद के कारण ही नहीं रहेंगे तो विच्छेद क्यों होगा ? पर यह विचार होगा किसको उसी को जो सच्चा बुद्धिमान् होगा। इस प्रकार से यदि सर्व विषयों के हानि लाभ में राग-द्वेष करना छोड़ दिया जाय तो निरवच्छिन्न सुख अवश्य मिल सकता है। देखो —

**सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।**
**सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ॥१८७॥**

**अर्थः**—पूरी निराकुलता होना असली सुख है। दुःख नाम आकुलता का है। आकुलता के कारण विषय हैं। वे यदि रहें तो आकुलता बढ़ती है, नहीं तो नहीं। इसीलिये सम्पूर्ण विषयों को छोड़कर विरक्त होकर बैठने से सदा सुख ही सुख प्राप्त हो सकता है। और इसीलिये वह जीव इस जन्म मे भी सुखी रह सकता है व पर लोक मे भी सुखी ही रहेगा। किन्तु जबतक विषयवासना छूटी नहीं है तबतक दुःख ही दुःख है। विषयासक्त जीव यहाँ तो आकुलतावश दुःखी रहते हैं और पर जन्म में पाप कर्म कमा कर ले जाते हैं, जिससे कि वे पाप के उदय से वहाँ भी सदा दुःखी ही बने रहते हैं। इसलिये कल्याण की इच्छा है तो विषयों से उदास होकर रहो, तुम्हें सुख ही सुख मिलेंगे। और जबतक उदास नहीं हुए तबतक दुःख ही दुःख है।

जन्म-मरण की तुलना —

**मृत्योर्मृत्यनन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम् ।**
**तत्र प्रमुदितान्मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥१८८॥**

अर्थः—अरे भाई, तू मरने को बुरा समझता है और जन्म होने को अच्छा समझता है। पुत्रादिकों के जन्म से तुझे खुशी होती है। यदि मरण हो जाय तो तू रोता है, दुःखी होता है। स्वप्न में भी तू कभी अपना व पुत्रादिकों का मरना पसन्द नहीं करता। परन्तु यह तो विचार कर कि, मरने व जन्म लेने में अन्तर क्या है जन्म से लेकर ही मरण समीप समीप आता जाता है। इसीलिये प्रत्येक समय में भी मरण होना ही समझना चाहिये तो फिर मरण से डरता हुआ भी तू यदि जन्म को आनन्द का कारण समझता है वह क्यों? वह मरण पहला है व जन्म के बाद का दूसरा है। तो फिर जन्म भी एक तरह का मरण ही तो हुआ न? भावार्थ एक मृत्यु से निकल कर आगे की मृत्यु के फन्दे में पड़ना, यही जन्म लेने का अर्थ हुआ न? और जब कि ऐसा है तो जन्म होने में खुशी होना मानो आगे आने वाले मरण के साथ प्रेम करना है। अब देख, कि तेरी भूल का क्या ठिकाना है? दोनों का मतलब मरण ही है। परन्तु एक मरण से तू तो भी द्वेष करता है व दूसरे मरण से प्रेम करता है। इस मिथ्या वासना को तू छोड़। यदि ऐसी मिथ्या वासनाएं तेरी छूटी नहीं तो ज्ञान, संयम आदि धारण करना सब व्यर्थ है। देखः—

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥१८९॥

अर्थः—तैने सम्पूर्ण तो शास्त्र का अभ्यास किया और बहुत समय तक बडे बडे गहन तप किये। परन्तु तू यदि इस शास्त्रज्ञान का व घोर तपों का फल ऐसा चाहने लगा हो कि इससे अनेक विषय-सुखों की सामग्री प्राप्त हो तथा लोगों में मेरा आदर बढ़ जाय तो कहना चाहिये कि तेरा हृदय तत्त्वज्ञान से वंचित ही रहा। तू उस तपरूप सुन्दर वृक्ष के फल न चाह कर, फक्त फूलों की कच्ची

---

* पुण्णंपि जो समीहदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥ (स्वामिकु० प्रेक्षा)

कलियों को तोर डालना चाहता है। अरे मूर्ख, ऐसा करने से तुझे इसके सुन्दर मीठे असली फल कैसे मिल सकेंगे ? इसका असली फल मोक्ष है।

ज्ञान व तपश्चरण का फल.—

तथा श्रुतमधीत्य शश्वदिह लोकपङ्क्तिं विना,
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्,
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥१९०॥

अर्थः—लोकव्यवहार व वचना छोड़ दे। लोक तो अज्ञानी है और तू विवेकी कहलाता है। यदि अब भी तुझ से वंचना व विषयाभिलाषा छूटी नहीं तो तेरे विवेक व तप को धिक्कार हो। अब तो तू ऐसी तरह शास्त्रज्ञान उत्पन्न कर और शरीर को भी तपश्चरण द्वारा ऐसा कृष कर कि, जिससे कषाय कृष हो सके व विषयों की तरफ से इन्द्रियों की इच्छा हट जा सके। कषाय-विषय बड़े ही दुर्जेय हैं। इनका जीतना सहज नहीं है। इनको वही जीत सकता है कि जो अपना सारा समय शास्त्राध्ययन मे बिताता हो और जो तपश्चरण करता हो व शास्त्रमर्यादा का विचार करता हो। यदि कोई मिथ्या, अप्रसिद्ध तपों को करने भी लगा हो और अत्यन्त भी करे तो भी उससे अभिमान बढ़ जाता है, जिससे कि उलटा पाप ही संचित हो। यदि ऐसा हुआ तो तप व श्रुत, दोनों व्यर्थ हैं। साधुओं ने तप व शास्त्रज्ञान का सच्चा फल यही बताया है कि विषयों से वैराग्य हो और क्षोभ या उद्वेग घट जाय।

कषाय जीतने का उपाय.—

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं,
स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य,
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥ १९१ ॥

अर्थः—घी दूध वगैरह चिकनाई की चीजें है, क्योंकि इनसे जठराग्नि मंद होकर रोग बढ़ता ही जाता है, कम नहीं होता। जठ-

राग्नि प्रदीप्त हो तो रसादि धातुओं की उत्पत्ति ठीक ठीक होने से रोग दूर हो सकता है। इसलिये थोड़ा सा भी चिकनाई की चीजों का खाना रोगी के लिये निषिद्ध है। इसी प्रकार संसार के रोग से छूटने वाले के लिये विषयों का स्नेह थोड़ा सा भी महा अनर्थकारी है। थोड़ा सा भी विषयों मे मोह उत्पन्न हुआ कि ज्ञान-जठराग्नि मंद पड़ता है, जिससे कि कर्मबंधन रूप त्रिदोष उत्पन्न होकर संसार-रोग वढ़ता ही चला जाता है। यदि मोह ऐसा अनर्थकारी है तो तू कुटुम्बी मनुष्यों को व शेष विषयों को देखकर उनमे बुद्धि को क्यों फसाता है ? क्यों उनमे रागद्वेष करता है ?

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं,
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य[1] भवे भवे,
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः ॥ १६२ ॥

अर्थः—संसार के प्राणी अज्ञानी है। अहितकारी विषयों से उनकी प्रीति नही है। विषय-भोगों में ही वे फस रहे है। परन्तु वे भी जिन चीजों को अहितकारी समझ लेते हैं उन चीजों को तत्काल छोड़ देते है। देखो, स्त्री अत्यन्त प्यारी वस्तु है। परन्तु यदि एक बार भी मनुष्य को यह सुनाई पड़ जाय कि यह मेरी स्त्री कुकर्म कराती है, तो वह मनुष्य उस स्त्री को तत्क्षण छोड़ने के लिये तत्पर हो जाता है। पर तू तो ज्ञानी होकर अपने सच्चे हित मे लग चुका है और विषयों की बुराई साक्षात् अनुभव कर चुका है। एक वार नहीं, किन्तु वार वार व भव-भव मे। फिर भी तू उनसे विरक्त क्यों नहीं होता ? क्यों उन्ही से आसक्ति बढ़ा रहा है ? क्या किसी को यह मालूम पड़ जाने पर कि मेरे इस भोजन मे विष मिल गया है, तो फिर वह उसको खायगा ? अरे विषय क्या हैं ? विष से भी वढ़कर है। तो फिर विषय सेवन के फदे मे तू क्यों फसना चाहता है ? तो ?

आत्मन्यात्मविलोपनात्मचरितैरासीद्दुरात्मा चिरं,
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीन[2]चरितैरात्मीकृतैरात्मनः।

---

१ 'भवान्' इति पद कर्तृ इति टीकायामुक्तम्।

२ आत्मने हितमात्मननीम्।

**आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः,**
**स्वात्सोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्समध्यात्मना ॥१९३**

**अर्थः**—अरे जीव, तू अपना नाश करने वाले निंद्य आत्म-चरित्रों को धारण करके दुष्ट या नीच जन बन रहा है। तुझे अपने स्वरूप का कुछ पता ही नहीं रहा कि मैं कौन और कैसा हूँ? अब तू अपने कर्म ऐसे पवित्र कर कि जिनसे आत्मा सुखी हो और तुझे अपनी पहिचान हो, जिससे कि बहिरात्मा से अन्तर्यामी आत्मा बन जाय। जब कि तू ऐसा पवित्र हो जायगा तो तेरा अनंत-सुख-कारी केवल ज्ञान-गुण अपने आप प्रगट होगा और उस समय सहज में ही तू आत्मा की परम पवित्र दशा को प्राप्त हो जायगा, जिसे कि परमात्मपद कहते हैं। उस समय अवश्य आत्मीय परम सुख प्रगट होगा, जो कि किसी के पराधीन नहीं है किन्तु, अपने ही अधीन जिसकी उत्पत्ति है। उसी समय तू असली शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ अपने आपे मे मग्न होकर अत्यन्त सुख तथा पवित्र ज्ञान के साथ प्रकाशित होता हुआ नजर पडेगा। परन्तु यह सब आनन्द तब तक मिल नहीं ककता, जब तक कि तू अपने शरीर मे प्रीति कर रहा है। शरीर छूट जाने पर ही ऐसा परम पवित्र सिद्धस्वरूप प्रगट होता है। शरीर उस दशा को कभी प्राप्त नहीं होने देता। और शरीर से जब तक प्रीति लग रही है तब तक शरीर कैसे छूट सकेगा? अत एव,

समय मत चूको। देखो.—

**अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित,-**
**स्ततोऽनशनसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः।**
**क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं,**
**कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम् ॥ १९४ ॥**

**अर्थः**—इसी शरीर ने पहिले चिरकालपर्यंत तुझे इसी संसार में सेवक के तुल्य बनाकर भ्रमाया है। क्या तुझे यह बात याद नहीं आती है? तो? जब कि इसने तुझे इतना कष्ट दिया है तो तू भी इससे आज पूरा पूरा बदला निकाल ले। आज यह तेरे हाथ मे आ चुका है। जब तक इसका नाश न हो तब तक तू इसे खूब क्षीण

---

१ आत्मना इत्यां प्राप्याम्।

कर। अथवा तू इसे इस तरह कष्ट दे कि जिससे नष्ट न होकर यह कृष होता रहै किन्तु अपने से बलवान् न हो सके। यदि यह बलवान् हुआ तो फिर इन्द्रिय तथा मन के द्वारा तुझे विषयकीच मे फसा देगा; जिससे कि तुझे चिरकाल तक इसके पराधीन रहना पड़ेगा।

किस उपाय से इसे वश व कृष किया जाय? अनशन = अन्नपान का सर्वथा त्याग। सामिभक्त = भूख से आधा भोजन। अर्थात्, ऊनोदर अथवा अल्पाहार। रसवर्जन=खट्टे मीठे आदि खाने के विविध रसों मे से एक दो रखकर शेष रसों का त्याग, अथवा सब रसों को त्यागकर नीरस भोजन करना। इसके सिवा कायक्लेशादि और भी अनेक ऐसे तप के भेद हैं कि जिनसे शरीर कृष व वश बना रहता है तथा आत्मभावना करने मे सुलभता तथा सहायता प्राप्त होती है। कायक्लेश अर्थात् अधिक गर्मी व शर्दी मे जाकर निवास करना किसी विकट आसन से चिरकाल तक ठहरना। ऐसा करने से शरीर को आराम न मिलकर क्लेश होता है जिससे कि जीव उस शरीर के आराम मे मग्न होकर आपे को भूल नहीं पाता किन्तु सदा सचेत रहता है। इत्यादि अनेक सुदृढ़ तपों के द्वारा तब तक तुम इस शरीर को खूब ही क्षीण करते जाओ जब तक कि इसका अन्तकाल आकर प्राप्त नहीं हुआ। तुम पक्का विश्वास करो कि यह शरीर ठीक एक दुष्ट शत्रु के समान है। जैसे शत्रु हाथ से निकल जाने पर फिर काबू नहीं देता वैसे ही यह शरीर भी आज तो तुम्हारे वश है, ज्ञानाभ्यासरूप यंत्र तुझे शरीर से अधिक बलवान् बनाये हुए हैं। परन्तु यह एक बार तुम्हारे पंजे से छूटा कि तुम्हारे मे फिर यह ज्ञानाभ्यासादि का बल इतना न रहने देगा जिससे कि फिर तुम इसे वश कर सको। इसलिये अभी तुम इसे पूरा निर्बल बनाओ।

शरीर ही सब दुःखों की जड़ है। देखोः—

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि,
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मान[1]—।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु,—
र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥ १९५ ॥

---

१—दूसरे तीसरे चरणों का समास नियमविरुद्धसा है, परन्तु यहा हो रहा है।

**अर्थः**—सबसे प्रथम, जब कि शरीर उत्पन्न हो जाता है तब उसमें दुष्ट इन्द्रियां प्रगट होती हैं। वे इन्द्रिया ही विषयों की तरफ दौड़ती हैं। और जब कि वे विषयों की तरफ दौड़ती है तब जीवों को अनेक प्रकार का अपमान सहना पडता है; क्लेश उठाने पड़ते हैं; कभी कभी भय भी पैदा होता है। आत्मज्ञान का विस्मरण होने से जीव अज्ञानी बन जाता है जिससे कि अनेक कुकर्म करके पाप का संचय कर दुर्गतियों का पात्र बनता है। अब देखिये कि इन सब आपत्ति विपत्तियों का मूल कारण क्या रहा ? मूल कारण हुआ शरीर। न शरीर होता, न इन्द्रियां पैदा होतीं। इन्द्रियां ही न होतीं तो विषयों की तरफ आत्मा को झुकाता कौन ? और वह आत्मा न तो विषयों मे फसता, न अपमान, क्लेश, भय, पाप सचित होते। दुर्गतियों मे भी तो फिर क्यों जाता ? इसलिये सारी आपत्तियों का मूल कारण शरीर ही है। भावार्थ, शरीर से प्रेम छूट जाय तो एक दिन शरीर नष्ट हो जाय। शरीर नष्ट हुआ सर्व दुःख दूर हुए। अत एव,

शरीर व विषयों से प्रेम करना पूरा अज्ञान है। देखोः—

**शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।**
**नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम्[१] ॥१९६**

**अर्थः**—शरीर का रहना व विषयों से प्रेम होना ये दो ही बातें दुःखदायक हैं। शरीर को पुष्ट करना व विषय-सेवन करना मानो विष खाकर जीने की आशा करना है। परन्तु अज्ञानी जनों के लिये कोई भी काम कठिन नहीं है। वे जो न करें वही आश्चर्य समझना चाहिये। देखो, शरीर का पोषण व विषयों का सेवन ये दोनों काम अहितकारी होने पर भी इन दोनों कामों को अज्ञानी जन करते ही हैं।

**भावार्थः**—समझदार उसीको मानना चाहिए कि जो अपने शरीर के व विषय सेवन के वशीभूत न हो। जो इनके वश है उसे मानना चाहिये कि विष खाकर जीने की इच्छा रखने वाले के समान वह नितान्त मूर्ख है। परन्तु यह कलिकाल की महिमा है कि तपस्वी तक शरीर के नाश होने से डरते हैं। देखोः—

१ 'जीवितम्' ऐसा भी पाठ है।

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विषन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥१९७

अर्थः—मृग सभी जानवरों में कायर है। दिन में वह चाहे जहाँ इधर उधर जंगलों में फिरता है, क्लेश भी उठाता है। परन्तु रात का समय हुआ कि वनचर जंतुओं से डरकर किसी गांव के आस-पास आ जाता है। बस, यही दशा कलियुग के तपस्वियों की है। वे दिन में चाहे जंगल में रहें व कायक्लेशों को भी सहलें, परन्तु रात हुई कि डर कर गावों के समीप आकर वास करते हैं। पशुओं में जो कायर हैं वे ही डरते हैं व छिपते हैं। सिंहादिक सदा निर्भय रहते हैं। परन्तु तपस्वी तो निर्भय मनुष्यों में अग्रेसर हैं। परन्तु रे कलियुग! उनको भी विनश्वर व दुःखदायक शरीर से इतना प्रेम।

कलियुग के तपस्वियों की और दुर्दशा देखो:—

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः[1] ।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकैर्लुप्तवैराग्यसंपदः[2] ॥१९८

अर्थः—आज तो वैराग्य पूर्वक तप धारण किया हो और सवेरा होने तक जिनका वैराग्य-धन स्त्रीकटाक्षरूप चोरों ने लूट लिया हो उन तपस्वियों के तप से तो गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है। जिनका तप व वैराग्य इतना शिथिल हो कि दिन दो दिन तक भी पूरा टिक नहीं सकता हो उनके हाथ से संसार का विच्छेद होना असम्भव है। ऐसा तप केवल संसारवृद्धिका ही उलटा कारण होता है। इसीलिये उस मलिन तप से निर्मल गृहधर्म श्रेष्ठ मानना चाहिये।

---

१—'भावि जन्मयत्' यह भी पाठ है। तब 'गार्हस्थ्य' शब्द का विशेषण होगा।

२—गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने. ॥श्रीसमन्तभद्र॥

यहाँ पर एक नीति याद आती है। वह यह है कि:—

वरं दारिद्र्यमन्यायप्रभवाद्विभवादिह।
कृशताभिमता देहे पीनता न तु शोफतः॥

अर्थात्—अन्याय करके धन इकट्ठा करने की अपेक्षा दरिद्री रहना ठीक है। देखो, सूजन से शरीर स्थूल होने की अपेक्षा कृश रहना ही ठीक है।

**स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयन् त्यक्तलज्जाभिमानः,**
**संप्राप्तोस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत् कलत्रम्।**
**नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोसि भूयः,**
**सख्यं साधो यदि हि मतिमान् मा ग्रहीर्विग्रहेण ॥१९९**

**अर्थः**—अरे तपस्वी, तेरा मुख्य प्रयोजन आत्मीय कल्याण करना है। परन्तु शरीर के होने से वह कल्याण नष्ट हो गया तो भी तू कुछ गिनता नहीं है, उलटा लज्जा व अपमान को छोड़कर स्त्री की खोज में लगा। वह स्त्री यदि तुझे मिली तो भी सैकड़ो अपमान दुःख सहने पड़े होंगे। और फिर भी वह स्त्री एक पैर भी तेरा साथ नहीं देगी। तो भी तू उससे मोहित ही हो रहा है। तेरी यह सब दुर्दशा क्यों हुई, यह तुझे मालूम है? केवल शरीर के रहने से। इसीलिये यदि तू बुद्धिमान् है तो अब आगे से इस शरीर के साथ प्रेम मत करना।

**भावार्थः**—यदि तेने शरीर से प्रेम करना छोड़ दिया तो प्रेममूलक बद्ध होने वाले पापकर्म धीरे धीरे क्षीण हो जाने से शरीर निर्मूल नष्ट हो जायग। और यदि शरीर ही नही रहा तो दुःख किसको व किस मार्ग से मिलेंगे?

जब तक जीव अज्ञानी है तब तक शरीर व स्त्री पुत्रादिकों में उसका प्रेम अवश्य रहेगा। वह समझता है कि शरीर ही मेरा आत्मा हो रहा है। इसीलिये वह शरीर की साल-सँभाल मे अपना सारा जन्म गमाता है। परन्तु आचार्य कहते हैं कि रे भाई, शरीर जड़, तू चेतन। तेरा उसके साथ मेल क्या है? देखः—

**न कोप्यन्योन्येन व्रजति समवायं गुणवता,**
**गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरसा।**
**न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमति-**
**स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखे भववने ॥२००**

**संस्कृत टीकाः**—कोपि गुणी द्रव्यं गुणवता अपरद्रव्येण, अन्योन्यं समवायं तन्मयत्वं, न व्रजति। द्रव्यस्वभावोयम्। तर्ह्यमूर्त आत्मा रूपिभिः शरीरादिभिः अमा सह सम्बन्ध कथमुपगतवान्?

तदुत्तरमाह, केनापि—अनादिवद्धकर्मरूपकारणवशात्त्वं शरीरादिभिः सह वन्धं समुपगतवान्। अथवा पूर्वतः कर्मसद्भावात्तेनैव सह शरीरादिकमाश्रित्य आत्मसमीपे तिष्ठति। न तु त्वया सहैकत्वं गतम्। शरीराणि कर्माणि चेत्युभयमेव तु त्वत्तो भिन्नम्। अत एव यान् त्वमुपव्रजसि एकत्वं यासि ते शरीरादिपुद्गलाः ते तव रूपं न भवितुमर्हंति तथापि त्व तेषा मध्ये गतमतिः—आसक्तमना जात। ततः कारणात् त्वमत्र वहुदुःखसमाकीर्णे भववने तद्द्वारा सदा छेद्यो भेद्यश्च भवसि भवन्वर्तसे।

**अर्थः**—कोई भी पदार्थ दूसरे किसी भी पदार्थ के साथ कभी तन्मय नहीं होता प्रत्येक वस्तु शाश्वत अपनी निरनिराली सत्ता को धारण करती है। इस नियम से जव कि मूर्तीक मूर्तीक भी परस्पर से तन्मय नहीं हो सकते तो, तू तो अमूर्तीक है व शरीरादि मूर्तीक है, इसलिये तुम दोनों की अवस्था एक कैसे हो सकेगी? कभी नहीं तो भी जो शरीर के साथ तेरी परतन्त्रतासी दीख पड़ती है उसका कोई खास सवव होना चाहिए। वह सवव केवल कर्म है। वह कर्म अनादि से जुड़ा हुआ चला आ रहा है। उसीसे तेरे साथ शरीर का वन्धन हुआ दीख रहा है। इसीलिये वे शरीरादि पुद्गल तेरा रूप नहीं है। तो भी तू उन शरीरादिकों के साथ अपने को तन्मय हुआ मान रहा है व उनमे तेरा अत्यन्त प्रेम है। इसी अज्ञान के कारण यह ससार वन तेरे लिये अनेक दुःखों का दाता हो रहा है; तू इसमे अनेक प्रकार छेदन भेदन के दुःख भोगता आ रहा है। तू यदि शरीर सम्वन्धी आत्मीय भावना व प्रेम करना छोड़ दे तो तेरा सारा सकट कट जाय।

परन्तु अज्ञानियों का प्रेम शरीर से छूटता नहीं। देखोः—

**माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।**
**प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥२०१**

**अर्थः**—जन्म मरण होना ये जीवों के माता-पिता हैं आधि-व्याधियां सहोदर भाई हैं। समीप में ठहरा हुआ वुढ़ापा, यह इस जीव का मित्र समझना चाहिये। भावार्थ, शरीर धारण करने वाले जीव के साथ माता, पिता, भाई, मित्र की तरह जन्म, मरण, आधि-व्याधी तथा जरा ये दुःख सदा लगे ही रहते हैं। ऐसे दुःखपूर्ण

शरीर में क्या आस्था होनी चाहिये ? कुछ नहीं। परन्तु अज्ञानी प्राणी तो भी इस शरीर में ममत्व व सुख की आशा लगाये ही रहता है। अरे भाई, यह शरीर क्षणभंगुर है व आधिव्याधी तथा बुढ़ापे के दुःखों से परिपूर्ण है। और तेरा निजात्मा अजर, अमर, अव्याबाध व शाश्वत सुख का धाम है। फिर तू इस तुच्छ शरीर से प्रेम क्यो करता है ?

और भी शरीर व आत्मा में क्या अन्तर है वह देखोः—

**शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तो,-**
**ऽप्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि।**
**मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र,**
**किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥**

**अर्थः**—अरे भाई, तू स्वतः तो सम्पूर्ण चराचर विषयों को जान सकता है, अमूर्तीक है, अत्यन्त शुद्ध है। परन्तु शरीर ने तुझे अत्यन्त अज्ञानी बना रक्खा है, जड़ के समान मूर्तीक सरीखा बना दिया है व बहुत ही मलिन कर दिया है। ऐसा हुआ क्यों ? यों, कि शरीर स्वयं चैतन्य शक्ति रहित है, मूर्तीक है व अशुचि है। यह शरीर तेरे ऊपर अधिकार प्राप्त कर चुका है। इसीलिये तो तुझे इसने अपनासा बना लिया है। यदि तू सावधान हो तो शरीर की क्या शक्ति है, कि वह तेरे ऊपर अपना प्रभाव डाल सके। तू यह भी मत समझ कि इस शरीर से मैं जुदा हो ही नहीं सकता हूँ। यह शरीर तुझ से वास्तव में जुदा है। अपनी शक्ति से जुदे को जुदा कर देना व अपना मूल सुखकर स्वभाव प्रगट करना कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु तू शरीर से जुदा जबतक नहीं हो सकता है तबतक तेरी यही दुर्दशा बनी रहेगी। शरीर से जिसका सम्बन्ध एक बार हो जाता है उसमे से ऐसी कौनसी चीज है कि जिसे इसने अपवित्र न बनाया हो ? इस शरीर की जितनी निन्दा की जाय उतनी ही थोड़ी है। जो शरीर केसर कपूर आदि पवित्र व सुगन्धित वस्तुओं को लगते ही अपवित्र व दुर्गन्धयुक्त कर देता है उस शरीर को, अनेक वार धिक्कार है। तब ?

**हा हतोसितरां जन्तो येनास्मिंस्तव सांप्रतम्।**
**ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं, तत्त्यागः किल साहसः ॥२०३॥**

**अर्थ:**—अरे जीव, जिस प्रत्यक्ष शरीर के पराधीनताजन्य अपार दु:खों से तू अति दु:खी हो रहा है उस शरीर के विषय में अब तुझे क्या करना उचित है? तुझे चाहिये कि शरीर को अपवित्र व दु:खदायक माने। तभी तेरा ज्ञान सत्य ज्ञान कहावेगा। और इतना समझ लेना भी बस न होगा। तब? असली साहस तेरा तब समझना चाहिये कि तू इससे उपेक्षा करके किसी दिन सर्वथा इसे त्याग दे। तू वास्तविक सुखी व स्वाधीन तभी बन सकेगा।

यदि रोगादि के कारण मन में क्षोभ हो तो क्या करना चाहिये?

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न मुनिः खेदमृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेपि नदीजले ॥२०४॥

**अर्थ:**—जो मुनि शरीर के वास्तविक क्षणिक व अपवित्र स्वभाव को समझ चुका है तथा आत्मा मे ज्ञान शान्ती उत्पन्न कर चुका है उसे रोगादिक बढ़ जाने पर भी खेद नहीं होगा। अरे, जो नाव मे बैठा हुआ है उसे नदी मे जल बढ़ आने पर भी क्षोभ क्यों हो?

**भावार्थ:**—सच्चा साधु संसार-नदी से पार होने के लिये ज्ञान शान्तीरूप नाव मे बैठा हुआ, रोगादि-जल बढ़ जाने पर भी डरता नहीं है। कितना ही वह जल बढ़ आया हो परन्तु मैं पार ही पहुचूंगा। उसे इस बात का विश्वास रहता है। हाँ, यदि ज्ञान-शांति रूप नाव को सुदृढ़ न रखकर उसमे संशयादि अथवा विपयाकुलता आदि छेद कर दिये हों तो अवश्य वह डूबेगा। इसलिए मात्र उसे ये छेद पड़ने से सावधान रहना चाहिये।

तो फिर रोग बढ़ने पर क्या करे?

जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा,
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्।
लग्नाग्निमावसति वन्हिमपोह्य गेही,
निर्याति वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥२०५॥

**अर्थ:**—रोग उत्पन्न होने पर यदि इसका उपाय हो सकता हो तो उपाय करे व शांति के साथ अपने शरीर मे स्थिरता रक्खे।

यदि उपाय होना असंभव दीख पड़ा हो तो शरीर से निर्ममत्व होकर शांतिपूर्वक शरीर त्याग दे। इन दो बातों के अतिरिक्त तीसरा तो कोई मार्ग है ही नहीं। इसलिए इन दोनों में से जो सुसाध्य व उचित हो वही करना चाहिए। उद्वेग करने की आवश्यकता नहीं है। अरे भाई, किसी के घर में यदि आग लग गई हो तो वह क्या करे? जहाँ तक हो सके वहाँ तक तो आग बुझाने का प्रयत्न करे और घर में ही बना रहे। वहाँ से निकलने की आवश्यकता नहीं है। यदि आग बुझना असाध्य दीखे तो चाहिए कि बुद्धिमान् मनुष्य घर छोड़कर अलग हो जाय। इसमें है ही क्या? विचार व खेद मानने की आवश्यकता नहीं है। खेद मानने पर भी होगा वही कि जो होना है। तो फिर खेद करके आत्मा को आगे के लिए दु:खी करना ठीक नहीं है। काम जो करना है वही करो, परन्तु शान्तता से करो, जिससे कि ममत्ववश होने वाले आज तक के से दु:ख आगे प्राप्त न हों।

शरीर रक्षा में प्रेम होना अज्ञान है। देखो—

**शिरस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।**
**शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥२०६॥**

**अर्थः**—अज्ञानी मनुष्य शिर के बोझे से दु:खी होकर यदि उसे किसी प्रकार कन्धे पर ले आया हो तो अपने को कृतकृत्य व सुखी समझने लगता है। परन्तु यह किस काम का सुख? वह दु:खदायक बोझा चाहे शिर पर से हट गया हो परन्तु शरीर से तो अलग नहीं हो पाया है? इसलिए वेदना तो अब भी होगी ही। हाँ, शिर पर रहने से यदि वेदना तीव्र होती थी तो अब थोड़ी कम होगी। इसलिए जिसे बोझे से पूरा छुटकारा पाना इष्ट है उसे चाहिये कि वह बोझे को उतार कर नीचे पटकने का प्रयत्न करे। जो शिर पर से कन्धे तक ले आने मे ही प्रसन्न है वह मूर्ख है।

**भावार्थः**—इसी प्रकार रोग होने पर जो उसे दूर कर देना ही अपना चरमसीमा का कर्तव्य समझते हैं वे अज्ञानी हैं। असली कर्तव्य यह होना चाहिये कि जिसके रहने से रोग उत्पन्न होने की शंका कायम है उसका निर्मूल नाश करें। रोग होते हैं शरीर के रहने से। बस, शरीर के नाश करने में लक्ष्य रखना ही बुद्धिमानी

है। रोग सुगमता से दूर हुआ तो ठीक, नहीं तो शरीर छूटते भी समता धारण करनी चाहिये। देखोः—

**यावदस्ति प्रतीकारस्तावत् कुर्यात्प्रतिक्रियाम्।**
**तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥२०७॥**

**अर्थः**—उत्पन्न हुए रोगों का जब तक उपाय होना शक्य हो तब तक करो। यदि उपाय करने पर भी रोग दूर न हों तो शांतता रखना ही प्रतीकार समझो। क्योंकि, उद्वेग न करने से एक दिन शरीर का बीज ही नष्ट हो जायगा जिससे कि सारे रोग सदा के लिए हट सकते हैं। तुम यह विचार कभी मत करो कि रोग होने पर उसे हम मान मर्यादा न रखकर जैसे बने वैसे दूर करने में लगें यदि तुम्हारा सयम मलिन हो गया तो रोग दूर हुआ तो भी व्यर्थ है। क्योंकि, शरीर जहाँ तक है वहाँ तक दु.ख हैं ही। इसलिए शरीर ही तोड़ने का मुख्य यत्न करो। देखो, नीचे क्या कहते हैं—

**यदादाय भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।**
**शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥२०८॥**

**अर्थः**—जिसके स्वीकार करने से जीव को संसारी बनना पड़ता है और जिसे छोड़ देने से जीव संसार के दुःखों से मुक्त हो सकता है, वह एक मात्र मुख्य शरीर ही है। तो फिर उस शरीर को ही ऐसी तरह से छोड़ना चाहिये कि फिर उसका अपने को सम्बन्ध न हो पावे। बाकी छोटी छोटी बातों की तरफ ध्यान देने से क्या लाभ है?

**भावार्थः**—गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, धर्म, परीषहजय इत्यादि मोक्षकारणों का व उनके प्रकारों का विचार करते बैठने से केवल एक शरीर के नाश करने को मुख्य समझ कर यथा सम्भव उसीके नाश करने मे लगना असली कर्तव्य है। दोनों बातों का भाव तो एक ही है परन्तु ध्यान देने योग्य दश बातें न कहकर मुख्य एक ही बात बता देने से ध्यान या उपाय में लगने वाले को सुगमता पड़ती है। और वास्तविक है भी यही बात। यदि शरीर ही न हो तो आत्मा को परतन्त्र बनाये रखने को दूसरा कौन समर्थ है?

अथवा, तत्काल के लिये केवल जिस तिस तरह रोग दूर करके सुखी बनने की इच्छा होना वह क्षुद्र या संकुचित भावना है।

और सदा के लिये सुखी होने की इच्छा से उपाय करना वह विशाल व वास्तविक भावना है। सदा के लिये सुख तभी होगा जब कि शरीर न रहे। इसीलिये शेष क्षुद्र विचार हटाकर शाश्वत सुख के कारण मे लगो। देखो —

शरीर की कृतघ्नता:—

**नयन्सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम्।**
**सोप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत् ॥२०६**

**अर्थ:**—शरीर का वास्तविक स्वरूप विचारा जाय तो अत्यन्त ही निंद्य है। हाड़, मास रुधिर, मल, मूत्र इत्यादि अति अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है। शरीर का कोई भाग भी इन अपवित्र वस्तुओ के सिवा खाली नहीं है। सर्वत. तन्मय है। शरीर सरीखी वस्तु को कोई दूर से देखना भी पसन्द न करे इतना यह शरीर निकृष्ट है। परन्तु तो भी आत्मा ने इस पर इतना बड़ा उपकार किया है कि इसे अपना साथ देकर लोक मे आदर योग्य बना रक्खा है। ठीक ही है, आत्मा के सम्बन्ध से ही इसकी पूछ है। नहीं तो इसे कोई छूता व देखता तक नहीं। परन्तु यह शरीर इतना कृतघ्न है कि आज तक सघन सम्बन्ध रहते हुए भी इसने उस आत्मा को चांडालादि बनाकर स्पर्श के योग्य भी नहीं रक्खा। इसने सदा भलाई के बदले में बुराई की। अपने परम उपकारी के साथ इतनी सहानुभूति भी न दिखाना, उससे इतना विमुख रहना, अत्यन्त नीचता है। इसकी कृतघ्नता को धिक्कार हो।

**भावार्थ:**—जब कि यह इतना कृतघ्न है तो इससे कभी लाभ न होकर अपने को सदा हानि ही होना सम्भव है। इसीलिये इसे त्याग देना व इससे उपेक्षा रखना ही ठीक है।

भला, इसे त्यागे तो किस तरह ?

**रसादिराद्यो भागः स्याज् ज्ञानावृत्त्यादिरऽन्वितः।**
**ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः ॥२१०**
**भागत्रयमिदं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम्।**
**भागद्वयात् पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥२११**

**अर्थ:**—यदि आत्मा को शरीर से जुदा करना है तो प्रथम शरीरांश व आत्मांशों को पहिचान कर जुदा समझलो। ऐसा करने

से आत्मा को शरीर से जुदा करलेने मे कोई कठिनाई न पड़ेगी। अच्छा तो यों ही करिये। देखोः—

हाड़, मांस वगैरह चीजों का जो अपने साथ यह पिंड संलग्न हो रहा है, पहिला तो यह एक सर्वप्रसिद्ध विभाग है, जो कि सुगमता से शरीर के नाम से जुदा समझा जा सकता है। इसके वाद इसके सिवा दूसरा एक भाग संसारवद्ध जीवपर्याय का वह है कि जो शरीर का मूल कारण अत्यन्त परोक्ष परन्तु सवसे अधिक या वास्तव में आत्मा को रोककर उसे मलिन व दु.खी वना रहा है। उसको कर्म कहते हैं। उसके ज्ञानावरणादि अनेक उत्तर भेद हैं। इस जीव पर्याय मे तीसरे विभाग की कल्पना करें तो वह स्वयं आप है। अर्थात्, जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा जुदा समझने मे आता है वह ज्ञानादि गुणों का पिंड आत्मा तीसरा विभाग है। इस प्रकार एक तो स्वयं आप और दूसरा प्रत्यक्ष गोचर शरीर भाग और तीसरा कर्म या लिंगशरीर अथवा सर्व संसार का वीजभूत कारण शरीर। ऐसे इस संसारापन्न जीव में तीन प्रकारों की कल्पना वैठती है। इन्हीं तीन वस्तुओं के एकीभूत पिंड को संसारी जीव या वद्ध आत्मा कहते हैं। ये तीनों भाग सदा से मिलकर एकीभूत हो रहे हैं। जव तक संसार है तव तक इन तीनों का वंध नित्य लगा ही हुआ है।

जो केवल वहिरात्मा पूरे अज्ञानी हैं वे शरीर को ही अपना स्वरूप मानते हैं। जो कुछ आगे चलकर कार्यकारण का विचार करने लगते है वे आत्मा को संकल्प मात्र मान कर उसके कारण कर्मों का विचार करने मे लगते हैं। वे भी वास्तव में अज्ञानी ही हैं, क्योंकि कर्मों के स्वरूप को उन्होंने चाहे कुछ समझ लिया हो परन्तु आत्मा को संकल्प मात्र से या शास्त्राज्ञामात्र से मान लिया है; वास्तव आत्मा को स्वयं समझ नहीं पाये हैं। उन्हीं को कहीं-कहीं पर द्रव्यलिंगी के नाम से पुकारते हैं। यहाँ तक के दोनों प्रकार के जीव अज्ञानी ही हैं, क्योंकि, उन्होंने वास्तव तत्त्व को नहीं पाया है। हाँ, सच्चा तत्त्वज्ञानी वह है कि जिसने शरीर व कर्म इन दोनों भागों से ज्ञानादि-गुणयुक्त अमूर्त आत्मा को जुदा करने का स्वरूप समझ लिया है। और शरीर का नाश करके अपने को संसार से मुक्त कर सकता है। जो इतना ज्ञानी वन चुका है वह

किसी प्रकार का कष्ट न उठा कर सहज ही आत्मा को छुटा सकता है। देखो:—

**करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।**

**चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥२१२**

अर्थः—तुम यदि क्लेशों से डरते हो तो भले ही चिरकाल-पर्यंत घोर तपों को मत करो। परन्तु कपाय जीतने में तो कोई शारीरिक क्लेश नहीं है ? अपना मन वश किया कि कपाय वश हुए। इसलिये कपाय शत्रुओं को तुम अवश्य जीतो। यदि कषाय भी तुमसे जीते न गये तो यह तुम्हारी पूरी मूर्खता है।

भावार्थः—बाह्य तप करने से बहुत से मनुष्य डरते है। वे समझते हैं कि बाह्य तप करना मानो भूख प्यास आदि अनेक दुःखों को सहना है। परन्तु ऐसा विचार उन लोगों का होता है कि जो हाल ही मे दीक्षित या धर्म की तरफ सन्मुख हुए हों, किंतु इस तपश्चर्या मे प्रवेश करके वास्तविक आनन्द नहीं उठा चुके हों। वास्तविक देखा जाय तो चिरपरिचित आत्मज्ञानी साधुओं को इस तप मे कभी खेद प्रतीत नहीं होता। शरीर-का वैभव तप से घटेगा परन्तु आत्मीय सुख में क्या बाधा आवेगी ? कुछ नहीं। प्रत्युत विषयों से मन उपरत होने के कारण आत्मानद तो बढ़ता जायगा। इसीलिये तप मे खेद मानने वाले वे ही हो सकते है कि जो धर्म मे नवदीक्षित होंगे। उन्हीं को आचार्य प्रकारांतर से धर्म में स्थिर करने का प्रयत्न इस श्लोक मे दिखा रहे हैं। तपश्चरण क्या व कषाय जीतना क्या ? वास्तविक एक ही बात है।

बहुत से लोग कषायों के जीतने की तरफ लक्ष्य न रखकर केवल कायक्लेशादि तप करने मे लगने को ही धर्म समझते हैं। उनको समझाना है कि भाई, कषायों को अवश्य जीतो। यह भी इस श्लोक का तात्पर्य है।

कषाय ही सर्वथा जीव का अपराधी है। देखो:—

**हृदयसरसि यावन्निर्मलेप्यत्यगाधे,**

**वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।**

अयति गुणगणोयं तन्न तावद्विशङ्कं,
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥ २१३ ॥

अर्थः— अरे जीव, तेरा हृदयसरोवर अत्यन्त निर्मल है। तो भी उसके अत्यन्त गहरे भाग में कषायरूप मगर जब तक रह रहे हैं तब तक उस सरोवर के पास पवित्र मोक्ष के साधन ज्ञानादि गुण निःशंक होकर आ नहीं सकते हैं। इसलिये तू यदि उन पवित्र गुणों को अपने हृदय में बुलाना चाहता है तो उन कषायों को जीतने का प्रयत्न कर। उनके जीतने का उपाय यही है कि संयम धारण करो और परिणामों को शान्त बनाओ। प्रशम, संवेग, अनुकंपा तथा इंद्रिय विजय इत्यादि अनेकों उपाय इन कषायों के ही जीतने के लिये बताये जाते हैं।

संसार मे ऐसे जन बहुत मिलते हैं कि जो उपदेश तो करते हैं परन्तु स्वयं करने से स्खलित होते हैं। ऐसों की हँसी करते हुए आचार्य कहते हैं कि. –

हित्वा हेतुफले किलात्र* सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं,
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुबिडालिकेति§ तदिदं धिग्धिक् कलेः प्राभवं,
येनैतेपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिताः ॥ २१४ ॥

अर्थः—कितने ही जीव आप ज्ञानी बनकर संसार के कारणभूत कषाय व कषायों के फलभूत विषयसेवन तथा विषयजन्य दुःखों को छोड़ना चाहते हैं और परभव के सुधारने की इच्छा रखते हैं। इस सब के लिये मन को शांत बनाना चाहिये ऐसा उपदेश भी करते हैं। शात मन की सदा प्रशंसा करते हैं। परन्तु वास्तविक मोक्ष व मोक्ष के साधनभूत कषायविजयादि उपायों में उनका मन नहीं लग पाया है इसलिये उनका वह सारा उपदेश तथा सर्व चेष्टा केवल लोगों को फसाने के लिये समझना चाहिये। जैसे बिल्ली चूहों को

---

१ 'समदमयमशेषैः' ऐसा पाठ प० टोडरमलजीने माना है पर वह ठीक नहीं है। सस्कृत टीका भी यही कहती है।

* किलेत्यरुचौ कष्टे वा।

§ आखुबिडालिकान्याय आखुबिडालचेष्टावत्वद्योतकः।

चाहे जितना उपदेश दे परन्तु वह केवल फसाने के लिये समझना चाहिये। यह सब कलिकाल की महिमा है कि जिसने सत्य हित के ज्ञाता तथा उपदेशकों को भी उस ज्ञान तथा उपदेश के फल से वंचित बना रक्खा है। इस कलिप्रभाव को धिक्कार हो। विचारे वे तपस्वी या पंडित न तो इधर के ही रहते हैं और न उधर के। संसार के वर्तमान विषयभोग सुखों को तो वे परलोक-सुख की अभिलाषा के वश होकर छोड़ चुके हैं. और सच्चे वीतरागी नही बन पाये हैं इसलिये परलोक के सुखों से यों वंचित रह गये। विचारे वे अज्ञान-वश दोनों सुखों से दूर रहकर यों ही मारे मारे फिरते हैं।

कषायविजय करने मे चूकने का स्थल दिखाते हैं—

**उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषाया,**
**प्राभूद्बोधोप्यगाधो जलमिव जलधौ किंतु दुर्लक्ष्यमन्यैः।**
**निर्व्यूढेपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग् निम्नदेशेष्ववश्यं,**
**मात्सर्यं ते स्वतुल्यैर्भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि ॥२१५**

**अर्थः**—तू तप करने में तत्पर हो चुका है और तेरे कषाय भी अत्यन्त कृष हो गये हैं। समुद्र मे जैसे जल अथाह सचित हो जाता है वैसे ही तेरे हृदय-समुद्र में अथाह ज्ञान भी प्रगट हो चुका है। कषाय का वेग भी रुक गया है।

परन्तु अभी कर्म का उदय जारी रहने से कुछ थोड़ा सा छिपा हुआ कषाय मौजूद है। जैसे किसी सरोवर मे से पानी सूख गया हो परन्तु उसके किसी किसी खड्डे मे थोड़ा थोड़ा पानी तो भी रह जाता है। इसी प्रकार तेरे हृदय मे से कषाय का प्रवाह तो निकल गया है परन्तु अपने समान ज्ञानी व तपस्वियों के साथ कुछ मत्सरता शेष रह गई है। परन्तु वह इतनी सूक्ष्म है कि दूसरे उसकी सत्ता को समझ भी नहीं पाते हैं। वह अभी छूटी नहीं है। उसका निकलना कठिन भी है। परन्तु उसे दूर करने का प्रयत्न तू अवश्य कर।

**भावार्थः**—बाकी सारे कषाय कम हो जाने पर भी साथियो के साथ मत्सरता प्राय सभी के हृदय मे बनी रहती है। और वह मत्सरता सहज मे नहीं छूट सकती है। इसीलिये उसे दुर्जय बताया है तथा उसका मुख्य उल्लेख करके दिखाया है। साथियो के साथ की मत्सरता छोड़ देना मानो बड़ा ही कषायों का विजय हुआ

समझना चाहिये। इससे इष्ट साध्य के साधने में विघ्न भी अनिर्वाच्य उत्पन्न होते हैं। इसलिये भी यहां इसका मुख्य उल्लेख करके दिखाया है।

क्रोधकृत हानिः—

चित्तस्थमप्यनवबुद्धय हरेण जाड्यात्,
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां,
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥२१६॥

अर्थः—कामवासना, यह एक मनोविकार है। इसीलिये इसका नाम मनोभू है। मन ही इसका निवास है। परन्तु यह बात न समझ कर महादेव ने जब कि उन्हें काम ने सताया तब क्रोध में आकर सामने की किसी वस्तु को भस्म कर दिया; ऐसा जान पड़ता है। और उसी को समझ लिया कि हमने कामदेव को जला दिया। पीछे से उस काम ने उन्हें खूब सताया और अनेक तरह से अपमानित किया। बस, क्रोध के आवेशवश महादेव को वास्तविक ज्ञान व उसके नाश का उपाय सूझ नहीं सका। इसीलिये उन्हे इतने कष्ट सहने पडे। क्रोध के आवेश मे पड़ने से किसकी हानि नहीं होती? क्रोध के वश जीव अन्धा बन जाता है। कार्याकार्य विचार उसे नहीं रहता। इसलिए वह अनेक दुःख भोगता है।

मान करने से हानिः—

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं,
यत् प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुक्तः।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ॥२१७॥

अर्थः—बाहुबली अपने सीधे हाथ की तरफ आकर ठहरने वाले चक्र को छोड़कर व सर्व परिग्रह को छोड़कर जैसे वे संन्यासी बने वैसे ही तत्क्षण मुक्त हो सकते थे। उनके उस तप की इतनी शक्ति संभव थी। परन्तु उन्हें भाई भरत चक्री के तरफ का थोड़ासा मान लगा रहा। उस थोड़े से मान को वे निकाल न सके। इसीलिये

चिरकालपर्यंत उन्होंने तपश्चर्या का घोर दु ख सहा। थोड़ासा मान भी वडी भारी हानि करता है।

व्यर्थ मान करने पर आश्चर्यः—

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमो,
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृते।
येषां प्रागजनीह तेपि निरहङ्काराः श्रुतेर्गोचरा,--
श्चित्रं संप्रति लेशतोपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥२१८॥

अर्थः—जिनका वचन सदा सत्य निकलता था, जिनका अतुल ज्ञान शास्त्र से परिपूर्ण था, हृदय मे सदा दया व शूरता वास करती थी, भुजाओं मे जिनके अतुल पराक्रम था, लक्ष्मी का सदा वास था। और जो याचकों को परिपूर्ण तृप्ति हुए तक दान देते थे। तथा कल्याण के या धर्म के मार्ग मे प्रवृत्त रहते थे। इतने गुण जिनमें वास करते थे ऐसे पूर्व काल मे बहुत पुरुष हो गये। परन्तु उन्हें अहंकार का लेश भी नहीं था। ऐसा शास्त्र-पुराणों मे सुनते है। किन्तु आज जिन मष्नुयों मे उनके शतांश भी गुण नहीं है तो भी वे उद्धत हो जाते हैं। यह बड़ा आश्चर्य है।

गर्व किससे करै ? एक से एक बड़ा है। देखो·—

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यै,--
रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं,
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ॥ २१९ ॥

अर्थः—जिस पृथ्वी पर समस्त जग का वास है वह भी दूसरों ने झेल रक्खी है। अर्थात्, सपूर्ण लोक की भूमि को पवनों के वेढ़ों ने अधर झेल रक्खा है। किसी की समझ होगी कि उन पवनों के वेढ़ों को तो किसी ने उठा नहीं रक्खा है, इसलिये वे तो सबसे बड़े मानने चाहिये ? परन्तु नहीं, उनसे भी वड़ा जगद्व्यापी कोई पदार्थ है। वह कौन ? आकाश। वह इतना बड़ा है कि उसके भीतर वह जग भर की पृथ्वी तथा उस पृथ्वी के आश्रयभूत पवनों के वेढ़े, ये सभी समा रहे हैं। अच्छा, इस आकाश को ही सबसे बड़ा

मान लेना चाहिये ? नहीं, ये सब चीजें तथा सम्पूर्ण आकाश जिसके भीतर तो क्या, किन्तु जिसके एक कोने मे समा रहा है ऐसा भी एक पदार्थ है। वह कौन ? सर्वज्ञ। सर्वज्ञ के ज्ञान मे ये चीजें तो क्या किन्तु और भी जो कुछ हो वह भी आ सकता है। अब कहिये, क्षुद्र प्राणी यदि अपने से श्रेष्ठों के साथ गर्व करै तो क्या देखकर ? जग मे एक से एक बड़ी चीजें पड़ी है।

कपट की निन्दा:—

**यशो मारीचीयं[1] कनकमृगमायामलिनितं,**
**हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः।**
**सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबहुवेषेण नितरा,--**
**मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः॥ २२० ॥**

**अर्थः**—मारीच ने सुवर्ण के हिरण का रूप रामचन्द्र को छलने के लिये बनाया। इसलिये उसकी निन्दा जग भर पसर गई। संग्राम के समय धर्मराज ने एक बार यह घोषणा करदी कि अश्वत्थामा मारा गया। बस, इतने ही कपट के कारण धर्मसुत के प्रेमी जन उन्हें क्षुद्र दृष्टि से देखने लगे। कृष्ण ने बाल्यावस्था मे बहुत से कपटवेश धरे थे। इतने ही पर से कृष्ण का यश काला होगया। थोड़ा सा भी विष बहुत से दूध मे डाल देने से वह सारा दूध बिगड़ जाता है इसी प्रकार थोड़ा सा भी कपट बड़े बड़ों के यश को मलिन कर देता है। अत एव,—

**भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।**
**यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः॥२२१॥**

**अर्थः**—माया, मानो बड़ा गहरा एक खड्डा है। इसके भीतर सघन मिथ्यादर्शनरूप बहुल अन्धकार भरा हुआ है। इसी सघन अन्धकार के कारण इस खड्डे में निवास करने वाले क्रोधादिक-सर्प तथा अजगर दीख नहीं पाते है। जो जीव इस मायागर्त के भीतर आ फसता है उसे ये क्रोधादि-भुजंग ऐसा डसते हैं कि फिर वह

---

१ मारीच, धर्मराज तथा कृष्ण, इन तीनों की कथाएँ पुराणों से देखना।

जीव अनन्तकाल-पर्यंत भी सचेत नहीं होता। इसलिये भाई, इस माया से डरो। और भी,

**प्रच्छन्नकर्म मम कोपि न वेत्ति धीमान् ,**
**ध्वंसं गुणस्य महतोपि हि मेति संस्थाः।**
**कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहो,**
**गूढोप्यवोधि न विधुः सविधुन्तुदः कैः ॥२२२॥**

अर्थः—मैं अमुक एक दुष्कर्म करता हूँ। परन्तु छिपकर करता हूँ इसलिये इसे कोई भी समझ नही सकेगा। इस दुष्कर्म के कारण यद्यपि मुझे बड़ा भारी पातक लगेगा और अमूल्य व पवित्र मेरे बड़े भारी आत्मगुण का विघात हो जायगा, परन्तु दूसरा कोई समझ नहीं सकता। अरे भाई, तू ऐसा कभी विचार मत कर। देख, चन्द्र मे इतना बड़ा गुण है कि अपने शीतल किरणों से जग का वह अन्धकार दूर करता है तथा सूर्य के किरणों से दिन में संतापित हुए जनों के संताप को दूर करता है। ऐसे चन्द्र को राहु चाहें जितना छिपाता है परन्तु वह चन्द्र छिप नहीं पाता। छिपाने की हालत में वह यद्यपि दव जाता है परन्तु उस दवे हुए चन्द्र को तथा छिपाने वाले राहु को, इन दोनों को ही लोग देखते हैं। ऐसा कौन मनुष्य होगा कि जो ग्रहण के समय उन दोनों के गुप्त कर्म को देख न लेता हो। वस, इसी प्रकार चाहें जितना छिपाकर कोई पाप करै परन्तु जाहिर हुए विना रहता नहीं है। किसी दुष्कर्म को छिपाना, इसी का नाम माया या कपट है। जव यह कपट जाहिर हो जाता है तव मायाचारी के वड़े बड़े फजीते होते हैं। इसीलिये माया रखना बुरा है।

लोभ-कषाय की बुराई:—

**वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः,**
**किल जडतया लोलो वालव्रजे विचलं स्थितः।**
**वत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः,**
**परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥२२३॥**

अर्थः—चमरी नाम की गौ जंगली गौ होती है। उसकी पूँछ के वाल वहुत ही सुन्दर व कोमल होते है। उसे अपनी पूँछ पर

बड़ा ही प्यार रहता है। यह एक प्रकार का लोभ है। इस प्रेम या लोभ के वश होकर वह अपने प्राण गमाती है। शिकारी या सिंहादिक हिंसक प्राणी जब उसे पकड़ने के लिये पीछा करते हैं तब वह भाग कर अपना प्राण बचाना चाहती है। वह उन सबों से भागने मे तेज होती है। इसलिये चाहे तो भागकर वह अपने को बचा सकती है। परन्तु भागते भागते जहाँ कहीं उसकी पूंछ के बाल किसी झाड़ी-आड़ी मे उलझ गये कि वह मूर्ख वहीं खड़ी रह जाती है। एक पैर भी फिर आगे नहीं धरती। कहीं पूंछ के मेरे बाल टूट न जांय, इस विचार में प्रेमवश वह अपनी सुध बुध विसर जाती है। बालों का प्रेम उसके पीछे आने वाले यमदड को उससे विसरा देता है। बस, पीछे से वह आकर उसे धर लेता है और मार डालता है। इसी प्रकार जिनको किसी भी वस्तु में आसक्ति बढ़ जाती है वह उनको परिपाक मे प्राणांत करने तक के दुःख देने वाली होती है। किसी भी वस्तु की आसक्ति को भला मत समझो। सभी आसक्तियों के दुःख इसी प्रकार के होते हैं। जिनकी विषयतृष्णा बुझी नहीं है, उनको प्रायः ऐसे ही दुःख सहने पड़ते हैं।

इस प्रकार ये सभी कषाय दुःख देने वाले हैं। एक से एक अधिक दुःखदायक हैं। इसलिये इन कषायों को जीतना सबसे बड़ व प्रथम कर्तव्य है। इन कषायों का जीतना मानो मोक्ष को प्रा कर लेना है। इसीलिये जो दीर्घ संसारी जीव हैं उनके हाथ रं कषायों का विजय नहीं हो पाता। जो कषायों का विजय करते ं उन्हें समझना चाहिये कि उनका जहाज संसार-समुद्र के किना पर आ लगा है।

उनकी पहिचान क्या है?—

**विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः,**
**शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।**
**नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,**
**भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥२२४॥**

**अर्थः**—विषयों से विराग, परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह शान्ति होना, हिंसादि पापों का छूटना, इन्द्रिय व मन का निरोध, जीवादि तत्त्वों का चिंतन, तपश्चरण की तैयारी, मन का

नियमित होना, जिनेन्द्र देव में भक्ति, परिणामों में दयालुता; ये सब बातें उसी महात्मा को प्राप्त होती हैं जिसका संसार-समुद्र का किनारा समीप आ चुका है।

इससे भी आगे की प्रगट दशा कैसी होती है ?—

**यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,**
**परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।**
**विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,**
**दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२२५॥**

अर्थः—यम[1]नियमों में निश्चल होकर लगना, शरीरादि बाहिरी चीजों से अन्तर्यामी मन की उपेक्षा होना, निर्विकल्प ध्यान में मग्न होना, यावत् जीवों में करुणा उत्पन्न होना, शास्त्राज्ञानुसार व हित मित भोजन करने की आदत पड़ना और निद्रा प्रमाद इत्यादि दोषों को जीतना, यह सब किसके हाथ से हो सकता है ? उसीके हाथ से कि असली आत्मा का सार तत्त्व जिसको मालूम पड़ चुका है। और वही मनुष्य संसार के सर्व क्लेशों का तथा क्लेशों के दाता कर्मों का निर्मूल नाश कर सकता है। वास्तव में इतनी ऊँची वृत्ति होना उसीका काम है कि जो संसार के निकट आ पहुँचा है। ऐसा मनुष्य भी यदि चिरसंचित कर्मक्लेशों को निर्मूल नहीं कर सकेगा तो दूसरा कौन करेगा ? ऐसी दशा संसारवासी की नहीं हो सकती है। तब ? परमात्मदशा को प्राप्त हुए साधु की ऐसी दशा होगी। उसके मुक्त होने में फिर सन्देह ही क्या है ? देखोः—

**समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,**
**स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ।**
**स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,**
**कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६**

अर्थः—जिन मुनिराजों ने हेयादेय का पूरा ज्ञान प्राप्त कर-लिया है, जो सभी प्रकार के पापों से उपरत हो चुके हैं, जिन्होंने

---

१ नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ श्रीसमन्तभद्र ॥ कुछ समय के लिये व्रत धारने को नियम कहते हैं और यावज्जीव व्रतों के स्वीकार करने का नाम यम है।

अपना चित्त अपने सच्चे कल्याण की खोज में लगा रक्खा है; मन तथा इन्द्रियों का विषयों की तरफ का प्रचार जिन्होंने रोक दिया है; जो सदा स्वपर के हितकारी वचन बोलते हैं, विद्यमान तथा भविष्यत विषय भोगों की तरफ से जो आकांक्षा हटा चुके हैं, ऐसे वीतरागी साधु मुक्ति के पात्र क्यों न हों ? वे न हों तो दूसरा कौन होगा ?

ऐसी दशा हो जाने पर भी भ्रष्ट होने का डर रहता है। देखो—

दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां पर,-
स्तेषां भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति ।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं,
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वं तन्मुहुर्जागृहि ॥ २२७

अर्थ:—अध्यात्मज्ञान होकर भी जिन्हें विषयी अज्ञानी जनों का सहवास हो जाता है उनका मन फिर भी विषयों में फस सकता है। उन्हीं के लिये यह शिक्षा दिखाते हैं, कि रे भाई, जो विषयरूप स्वामी के दास हो रहे हैं उनका क्या बिगड़ता है ? वे यदि सावधान रहें तो क्या और असावधान बने रहें तो भी क्या डर है ? उनके पास रक्षा करने के लायक कोई चीज ही नहीं है। और तो क्या, उन्होंने अपना आत्मा भी पराधीन कर रक्खा है। गुण-दोषों का विचार तक उनके हृदय मे नहीं रहा है। विषयो के वश होकर उन्होने अपनी ज्ञानादि-निधि सर्वथा खो दी है। अब उनके पास है ही क्या, जिसकी कि उन्हें चिन्ता हो ? डर है तो उसको कि जिसके पास कुछ मौजूद हो। जिसके पास कुछ थोड़ी सी भी जड़ सम्पत्ति होती है वह भी उसे संभालकर रखता है। तेरे पास तो अपूर्व संपत्ति है। ज्ञान दर्शन व चरित्र ये तीनों महारत्न हैं। इनका प्रकाश जगभर मे पड़ेगा। ऐसे अपूर्व अमूल्य रत्न जिसके पास हो उसे तो सदा ही सावधानी से रहना चाहिये। जहाँ सम्पत्ति है वहां उसके हरने या लूटने वाले भी रहते ही हैं। तेरे रत्नों को हरनेवाले इंद्रिय-चोर तेरे ही आस-पास फिर रहे हैं। तू थोड़ा भी अचेत हुआ कि इन्द्रिय-चोर तेरे ज्ञानादि-रत्नों को हर लेंगे। इसलिये तू अच्छी तरह जागता रह। भावार्थ, तू इन्द्रियों के विषयों मे फिर से मोहित मत हो। नहीं तो जैसे बाकी संसारी जीव अपना सर्वस्व गमाकर

बैठे हैं वैसे तू भी अपनी निधि को गमा बैठेगा । जो अपना गमाचुके हैं वे तेरा भी गमाकर सन्तुष्ट होना चाहते हैं। इसलिये तू उन विपयाधीन जनों की संगति भी मत रख।

जो सर्व विषयों को छोड़कर साधु बन चुके हैं उनको मोह हो तो किस वस्तु में हो ? उनके पास कुछ रहा ही नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि उनके पास भी मोह के कारण हैं। क्या ? देखो.—

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो,
मुह्येद्वृथा किमिति संयमसाधनेषु ।
धीमान् किमामयभयात् परिहृत्य भुक्तिं,
पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥२२८

**भावार्थः**—साधु-जन संसार वर्धक कुल विपयों को तो छोड़ देते हैं परन्तु संयम की रक्षा के लिये कमंडलु आदि कुछ थोड़ी सी चीजें तो भी उन्हें पास मे रखनी पड़ती हैं। मोह ऐसी चीज है कि उन तुच्छ वस्तुओं मे भी उत्पन्न हो जाता है। और साधु जन इसी धोके मे रहते है कि हमने सारा संसार छोड दिया। हमको अब अज्ञान तथा मोह व मोहादि के कारण नहीं रहे। हमारी अब कुछ हानि नहीं हो सकती है। साधुओं को ऐसी भूल होना सम्भव है। इसीलिये उस सूक्ष्म निपयाधीन मोह से सावधान रहने का इस श्लोक मे उपदेश है।

**अर्थः**—अति रमणीय वनितादि वस्तुओं से जब कि तू मोह हटा चुका है तो सयम की रक्षा के लिये केवल जिन थोड़ी सी चीजों के रखने की तुझे आज्ञा मिली है उनमे तू क्यों वृथा ही मोहित होता है ? इस मोह की महिमा को तू समझता है। स्वल्प-वस्तु-सम्बन्धी जो स्वल्प मोह संसारी जनों की विशेप हानि नहीं कर सकता है वही तेरे लिये भयकर हानि पहुँचावेगा[१]। जैसे औषधि अजीर्णादि रोगों का नाश करती है परन्तु मात्रा से अधिक उसका सेवन करना अपाय करता है। इसीलिये जिसे अजीर्ण रोग हुआ हो वह रोग-शमनार्थ भोजन को त्याग कर औषध सेवन करता है।

---

१ गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ श्रीसमन्तभद्र ॥

परन्तु वही औषधि यदि आसक्ति रखकर अधिक सेवन की जाय तो उलटी अजीर्ण बढ़ाने वाली होगी। इसीलिये जो बुद्धिमान् है वह अजीर्ण शमनार्थ भोजन का त्याग करता है और औषध पीता है। परन्तु वह केवल औषध को अधिक पीकर कभी अपना अजीर्ण बढ़ावेगा नहीं। जो औषध करता हुआ भी आसक्तिवश अजीर्ण को बढ़ा लेता है वह मूर्ख है। इसी प्रकार जो आत्मकल्याणार्थ सारे ससार को छोड़कर आवश्यकतानुसार रक्खी हुई थोड़ी सी वस्तुओं में ही मोहित हो बैठता है वह नितान्त मूर्ख है। मोहित ही होना था तो संसार को क्यों त्यागा? भावार्थ, जब तक कर्मों का नाश नहीं हुआ तब तक कार्यसिद्धि में अनेकों तरह से डर ही डर है। इसलिये साधु को सदा निर्मोही व सावधान रहना चाहिये।

कभी निश्चिन्त भी होगा या नहीं?

तपः श्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य रूढं यदा,
कृषीफलमिवालये समुपनीयते स्वात्मनि।
कृषीवल इवोज्झितं करणचोरबाधादिभि,--
स्तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः ॥२२९

अर्थः—किसान खेत में बीज बोता है। परन्तु बीज उगकर फल मिलने तक बहुत सी बाधाएँ बीच बीच में आती हैं। उन सभी बाधाओं को हटाता हुआ किसान अपने खेत की पूरी व सदा ही रक्षा करता है। जब तक कि खेती का फल वह अपने घर में नहीं लाकर रखता तब तक सदा ही सचेत रहता है। निश्चिन्त वह तभी हो पाता है जब कि बाहिर पैदा किये हुए अनाज को घर में लाकर रख लेता है।

इसी प्रकार जिस साधु का विचार दृढ़ है वह तपश्चरण व शास्त्रज्ञान को बाहिर की तरफ प्रकाशित करता है, उसे बढ़ाता है, परन्तु इतने से वह निश्चित नहीं बन जाता। इस सब का फल यह है कि आत्मा वीतरागी होकर ससार से मुक्त हो जाय। जब तक यह फल प्राप्त नहीं हुआ है तबतक निश्चित बन कर बैठना ठीक नहीं है। क्योंकि, इन्द्रिय-चोरों का बीच मे सदा ही डर है। इसलिए जब वह साधु इन सब बाधाओं को हटाकर वास्तविक अपने

कुछ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तब वह अपने को कृतार्थ मानता है और निश्चिंत होकर बैठता है।

कितने ही यह समझते हैं कि शास्त्रज्ञान होने पर विषयमोह कुछ कर नहीं सकता है। परन्तु आचार्य कहते हैं कि जबतक कषायों का संस्कार क्षीण नहीं हुआ तब तक भरोसा नहीं कि कब उस कषाय का उद्रेक बढ़ जाय। तबतक ज्ञानियों के चित्त को भी मोह होना दुर्लभ नहीं है। इसीलिये विषयासक्ति से कभी स्वस्थ होकर मत बैठो। सदा उससे डरते रहो व उसे दबाते रहो। देखो–

> दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति[1] ज्ञानावलेपादमुं[2],
> नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं[3] निःशेषयाऽऽशाद्विषम्।
> पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः,
> क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः ॥२३०॥

अर्थः—मुझे तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो चुका है। ज्ञानी मनुष्य के सामने यह विषयाशा[4]—शत्रु कुछ नहीं है। अरे भाई, तू ऐसा ज्ञान का मद मत कर ऐसा मद रक्खा तो आशा शत्रु की उपेक्षा हो जायगी किन्तु उसकी तरफ से निश्चित होना ठीक नहीं है। इस शत्रु को तो जैसे बन सके वैसे सदा दबाता ही रह। यह आशा–शत्रु इतना प्रबल व भयंकर है कि इससे तीनों लोक के प्राणी दब रहे हैं। जबतक इसका नाश नहीं हुआ तबतक तू कभी स्वस्थ मत बैठ। जग मे जबतक किसी को शत्रु दबा रहा हो अथवा जिसका शत्रु जीता हो तबतक उसे शान्ति कैसी? देखो, समुद्र मे जल की कमी नहीं है—अगाध जल का वह स्वामी है। तो भी उसे सदा वडवाग्नि जलाता ही है। शत्रु का रहना सभी को दुःखदायक होता है। पूरा निर्मोह हुए विना आशापाश छूटेगा नहीं। यह आशा पवित्र ज्ञानादि गुणों को भी प्रशंसा योग्य होने नहीं देती है। देखो–

> स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोपि न श्लाघ्यः।
> दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥२३१॥

---

१ ज्ञानिनामपि चेतांसि महामाया प्रमोहयेत् ॥

२ आशाद्विट्। ३ जगत्त्रयस्यैक डमरं = भय क्षोभो वा यस्मात्तम्।

४ आशा अर्थात् स्नेह या राग। यहा द्वेष का संग्रह उपलक्षण से हो सकता है।

अर्थः—जबतक किसी साधु के हृदय से स्नेह निर्मूल नष्ट नहीं हुआ तबतक उसके ज्ञान-चारित्रादि गुणों की प्रशंसा नहीं हो पाती है। दीपक से प्रकाश जो होता है वह उत्तम कार्य है। परन्तु साथ ही जो काजल निकलता है उसे लोग अच्छा नहीं मानते हैं। यदि दीपक में तेल का स्नेह न होता तो काजल नहीं निकलता और उसकी निन्दा भी न होती। इसी प्रकार साधु के ज्ञानादि गुण आत्मा को पवित्र बनाते हैं परन्तु साथ ही स्नेहांश की सत्ता उसमें मलिनता उत्पन्न करती है जिससे कि ज्ञानादि गुणों की सारी कृति मलिन हो जाती है। इसलिये मोह को जैसे हो सके छोडो। मोह का माहात्म्य ऐसा है कि वह वीतरागता नहीं होने देता। और वीतरागता जबतक नहीं हो तबतक सब व्यर्थ है। देखो—

रतेररतिमायातः पुना-रतिमुपागतः।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो बत सीदसि ॥२३२॥

अर्थः—कभी तू रति करता है और कभी रति छोड़कर अरति धारण करता है। रति = राग, अरति=द्वेष। बस इसी मे सदा संकल्प विकल्प करता हुआ उलझ रहा है। तीसरा उदासीनता का पद तुझे जबतक प्राप्त नहीं होता तबतक इसी प्रकार तू दुःख भोगता रहेगा। जबतक बाह्य वस्तुओं मे रागद्वेष मानता हुआ उलझ रहा है तबतक उदासीनता कहाँ से प्राप्त होगी ? अरे तू बड़ा मूर्ख है। तुझे अभी तक अपना हित मालूम नहीं पड़ा। ऐसी अवस्था में तू कभी सुखी नहीं हो सकेगा। देखः—

तावद्दुःखाग्नितप्तात्माऽयःपिण्ड इव सीदसि[1]।
निर्वासि निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥२३३॥

अर्थः—आग से तपे हुए लोह के गोले की तरह तू दुःखों से संतप्त होरहा है। इस दुःख सन्ताप का नाश तू तबतक नहीं कर सकता जबतक कि मोक्ष सुख रूप अगाध जल के स्वामी समुद्र में गोता नहीं लगावेगा। संसार की दशा में भी दुःख दूर करने के उपायों को लोग तलाश करते हैं और उन्हें पाकर वे सुखी होते हैं। परन्तु उनका वह सुख वास्तविक नहीं है। इन्द्रियों के विषय अनु-

१ 'सुखसीकरे' ऐसा पाठ संस्कृत टीका में मिलता है।

कूल मिलना, इतना ही संसार का सुख है। परन्तु वह स्वाधीन नहीं होता व शाश्वत नहीं रहता। इसीलिये उस सुख मे आनन्द मानना मानो सदा के लिये सच्चे सुख से विमुख बनना है। इसलिये तू मोक्ष सुख को जैसे हो सके प्राप्त कर। देख:—

मंक्षु मोक्षं सुसम्यक्त्वसत्यङ्कारस्वसात्कृतम् ।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु ॥२३४॥

अर्थ:—श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना, यही मोक्ष की प्राप्ति का वास्तविक उपाय है। इस उपाय से उस मोक्ष को स्वाधीन बना कर शीघ्र ही अपने हस्तगत कर। किसी चीज को अपने हस्तगत करने मे उसकी कीमत देनी पड़ती है। मोक्ष को अपने अधीन करने मे परिपूर्ण ज्ञानचारित्र की आवश्यकता है। इसलिये ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष प्राप्ति के लिये मूल्य है। वह मूल्य पूरा अपने पास हुआ तो मोक्ष को हस्तगत कर लेना कोई कठिन नहीं है। भावार्थ, जब तक तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पूरा संचित करके उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर पाया है तबतक स्वस्थ मत बैठ। विषयों के सुख से अपना मन सन्तुष्ट करके स्वस्थ कभी मत हो। देख, विषयों में रत होना न होना, यही अज्ञान व ज्ञान है:—

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम् ।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाङ्क्षी २३५

अर्थ:—पूरा बहिरात्मा बन कर यदि देखा जाय तो सारा जग सुख-दुःख का कारण होने से भोगने योग्य दीख पडेगा। जो अनिष्ट है उसको दूर करना, यह उस अनिष्ट का भोगना है। और जो इष्ट है उसको ग्रहण करना, यही उसका भोगना है। अथवा, सभी पदार्थ किसी न किसी की अपेक्षा सफल या प्रयोजनीय होते हैं। इस न्याय से यदि देखा जाय तो भी सब जगत् सार्थक व उपभोग्य ठहरता है। परन्तु यह कब तक ? जबतक कि अन्तरङ्ग दृष्टि का लेशमात्र भी प्रकाश नहीं है; किन्तु केवल बहिर्मुख होकर जिसकी सारी प्रवृत्ति हो रही है। जो आत्मानन्द का भोक्ता होकर बाहिरी चीजों से पूरा निवृत्त हो चुका है उसके लिये यह सारा जग सकट का कारण होने से तथा अपूर्व आत्मानन्द का विघातक होने से सर्वथा हेय है; अभोग्य है, उपेक्षणीय है। जग तो एक ही

है परन्तु दृष्टि भेद के कारण दो प्रकार का कहने मे आ सकता है। अव मोक्षार्थी को क्या करना चाहिये ? उसे यह करना चाहिये कि हेयोपादेयता की अपेक्षा समझ कर निवृत्ति का अभ्यास करे। क्योंकि, वास्तविक आनन्द आत्मानन्द है और वह जग से निवृत्ति पाने पर प्राप्त हो सकता है।

निवृत्ति करते रहने से सदा निवृत्ति मे व्याकुलता रखनी पड़ती है। इसलिये क्या निवृत्ति ही सदा करने मे लगा रहना चाहिये ? नहीं। तो फिर,

**निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः।**
**न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥ २३६ ॥**

**अर्थः**—निवृत्ति की भावना तव तक करो जव तक कि वाह्य उपाधि हटकर आत्मानंद की पूरी प्राप्ति नहीं हुई हो। जव कि वाह्य उपाधियों से चित्त हटकर आत्मानन्द में पूरा लीन हुआ कि फिर न प्रवृत्ति ही करना शेष रहता है और न निवृत्ति करना। जव कि आत्मानन्द मे जीव मग्न हुआ तो फिर प्रवृत्ति किस में और निवृत्ति किससे ? यह कल्पना वहां मिट जाती है। वस, इसी का नाम अविनाशी मोक्षपद है।

रागद्वेष कैसे मिटें ?—

**रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।**
**तौ च वाह्यार्थसंबद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥ २३७ ॥**

**अर्थः**—रागद्वेष का ही नाम प्रवृत्ति है और उसके रोकने को निवृत्ति कहते हैं। राग द्वेष का होना वाह्य विषय के अधीन है। इसीलिये राग-द्वेष दूर करने के लिये वाह्य विषयों से संबंध छोड़ो।

**भावार्थः**—राग-द्वेष ही दुःख के कारण हैं। और रागद्वेष की उत्पत्ति विषयों से होती है। इसलिये रागद्वेष दूर करना पसंद है तो वाह्य विषयों को हटाओ। कितने ही लोगों की जो यह समझ रहती है कि विषयों मे रह कर भी परिणाम शुद्ध रखने से कल्याण होना संभव है; वह भूल है। जव तक उपाधि हटती नहीं है तव तक उसके कार्य जो रागद्वेष वे अवश्य उत्पन्न होंगे। वे उत्पन्न हुए कि आकुलताजन्य दुःख निःसदेह होगा। और जव कि उपाधि

हटा दी गई तो फिर प्रवृत्ति की भावना ही नहीं रहती। बस, इसी लिये वह सच्चा सुख है।

उदासीन भावना का स्वरूप—

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः॥ २३८॥

अर्थः—अब मुझे संसार भ्रमण का उच्छेद करके आत्मसुख प्राप्त करना है। इसलिये जो भावनाएं संसार चक्र में पड़े हुए आजतक मैंने धारण कर रक्खी थीं उन्हें तो अब मैं छोड़ता हूं और जो आज तक कभी धारण नहीं कीं उनका चिंतवन करता हूँ क्योंकि, आज तक की भावनाओं से संसार की वृद्धि हुई। उसके क्षय के कारण आज तक की भावनाओं से उल्टे ही होंगे। आज तक की संसारवर्धक भावना मिथ्या दर्शन, विपरीत ज्ञान व उल्टी प्रवृत्ति। अब जिन भावनाओं को स्वीकार करना है वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र हैं।

इसी का विशेष कथनः—

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षत् त्रयम्
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम्॥ २३९॥

अर्थः—शुभाशुभ दो योग, इससे आने वाले पुण्य-पाप ये दो कर्म, इसका फल सुख दुःख ये दो। ऐसे ये मिलकर छह होते हैं। इनमें से शुभ योग, पुण्य कर्म, सुखानुभव ये तीन हितावह होने से ग्राह्य हैं। बाकी के तीन दुःखजनक होने से हेय हैं। भावार्थ, तीनों हेय विषयों को छोड़कर उपादेय तीनों का स्वीकार करना अवश्य है। पहिली अवस्था मे मेरी इस प्रकार भावना होनी चाहिये और तदनुसार शुभ, पुण्य, सुख इनमे कार्यकारण तथा भेदाभेद का विचार करके प्रवर्तना चाहिये।

इसमे भी आगे का भावना का क्रम.—

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्॥ २४०॥

अर्थः[१]—अशुभ, पाप व दुःख ये तीनों हेय होने के कारण छोड़ देने चाहिये। परन्तु इन तीनों मे से अशुभ, यह योग होने से पाप कर्म का तथा पाप कर्माधीन प्राप्त होने वाले दुःख का कारण है; इसलिये सबसे प्रथम अशुभोपयोग ही छोड़ो। कारण न रहा तो आगे के पाप व दुःख ये दोनों कार्य अपने आप ही नहीं रहेंगे।

इस प्रकार अहितकारी तीनों को छोड़ने पर हितकारी तीनों का विचार करना चाहिए। शुभ, पुण्य व सुख ये तीनों हितकारी हैं। इनमे भी शुभ यह योग होने से पुण्य कर्मबंध का कारण है पुण्य कर्म इसका कार्य है। पुण्य का भी उत्तर कार्य सुख है। इस-लिये शुभ, यह पुण्य का साक्षात् तथा सुख का परंपरया कारण है। अशुभ, दुःख का कारण होने से प्रथम ही छोड़ दिया गया। शुभ, यह सुख का कारण है परन्तु कौन से सुख का? ससारी सुख का। इसलिये वास्तविक दृष्टि या यह भी संसार का कारण होने से छोड़ना ही चाहिए। बस, यहां भी शुभ छूटा कि इसके दोनों कार्य भी अपने आप हट जाते है। इस समय अंत मे केवल शुद्ध या पूर्ण वीतराग-दशा रह जाती है। यह दशा प्राप्त हुई कि परम धाम प्राप्त होता है।

आत्मा ही नहीं है तो मुक्त कौन होगा? अथवा है तो भी वह मुक्त किससे हो? अमूर्त आत्मा को बंध ही सभव नहीं है। कदाचित् वन्ध हुआ भी तो फिर वन्ध ही रहेगा। उसके छूटने का कोई सभव नहीं है। यदि छूट सकता है तो कब और कैसे छूटेगा? ऐसी आशकाओं को हटाने के लिये नीचे कहते है कि.—

अस्त्यात्माऽस्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवै,—
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्,
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषताऽयोगैः क्रमान्मुच्यते ॥२४१॥

अर्थः—ज्ञान इच्छा रोग द्वेष व इनके प्रकार, एवं जन्मते ही स्तन्यपान, इत्यादि विचित्रता या असाधारणता देखने से आत्मा

१. इस श्लोक का अर्थ सस्कृत टीका मे उतना स्पष्ट नहीं लिखा जितना कि टोडरमल जी ने अच्छा लिखा है।

२. "स्तिमितादिबन्धनगत" ऐसा भी पाठ है। स्तिमित स्थिति।

मानना पड़ता है। अनिष्ट दुःखों को भोग रहा है इसलिये वह परतन्त्र अथवा बद्ध भी मानना पड़ता है। पूर्व कर्मों का नाश होता रहता है व नवीन कर्मों का संचय होता जाता है इसलिये अनादि से यह जीव कर्मबद्ध ही चला आ रहा है। उन कर्मों के स्थिति अनुभागादि व ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार हैं। कर्म पिण्ड का वन्धन मन वचन शरीर की चंचलता से होता है। कर्म पिण्ड में फलदान शक्ति तथा बंधने की शक्ति क्रोधादि कषायों से उपजती है। कर्मपिण्ड का आना व फलदानादि शक्ति का उपजना ये दोनों कार्य एक साथ होते हैं इसलिये दोनों के कारण भी एक ही साथ जमा हो जाते हैं। अर्थात्, कर्मपिण्ड के लिये निमित्तभूत चंचलता को कषाय मिलकर उत्तेजित करते हैं तब यह बंध शुरू होता है। कषायों का प्रादुर्भाव तब होता है जब कि आत्मा प्रमादी बनता है। प्रमाद की वृद्धि हिंसादि अव्रत-कर्मों के करने से होती है। हिंसादि अव्रतों में जो जोर बढ़ता है वह मिथ्यात्व के सहवास से। इस प्रकार यह जीव इन उत्तरोत्तर कारणों के मिलने से अधिकाधिक मलिन होता है। उपदेश आदि निमित्तों के मिलने पर कदाचित् किसी एक मनुष्यभव में यदि इस प्राणी को सम्यग्दर्शन, व्रत, विवेक तथा वीतरागता व निश्चलता प्राप्त हो जाय तो यह प्राणी तर जाता है। सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, फिर छट्ठे गुणस्थान तक क्रम से व्रत, और उसके आगे शुक्लध्यानादिरूप विवेक, विवेक के बाद दशम गुणस्थान के अंत से लेकर वीतरागता प्राप्त होती है। और सब के अन्त में चंचलता[1] का अभाव होता है। चंचलता का ही नाम योग है। जैसे ये कारण प्राप्त हो जाते हैं वैसे ही इसकी कर्मों से मुक्ति भी होती जाती है। मुक्त होने का यही क्रम है और ये ही उसके कारण हैं।

मुक्ति का बाधक कारण—

**ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता ।**
**क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् काशा तपःफले ॥ २४२ ॥**

---

१ टोडरमलजी ने 'अयोगैः' ऐसा पदिच्छेद न समझकर इनके योग से ऐसा अर्थ लिख दिया है परन्तु वह ठीक नहीं है। ठीक न होने का हेतु एक तो यह है कि संस्कृत टीका में 'अयोग' एक कारण माना है, दूसरे, यही सभव है, तीसरे बहुवचनान्त पद तभी चरितार्थ होगा।

अर्थः—यह शरीरादिक मेरा है, मैं इसका हूँ, ऐसी प्रीति जब तक आत्मा में तन्मय होकर लग रही है तब तक तप निरर्थक है। तप का असली फल मोक्ष प्राप्त होना है। परन्तु बाह्य वस्तुओं में प्रीति, मानो एक प्रकार का भयंकर उपद्रव[1] है। चूहे आदिकों का उपद्रव जिस प्रकार भयंकर व सर्वस्व हानि करता है उसी प्रकार विषय-प्रीति के होते ही मोक्ष-पद का विघात हो जाता है।

मामन्यमन्यं मां मत्त्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति[2] न ॥ २४३ ॥

अर्थः—जीव जब तक इस भ्रान्ति में पड़कर अज्ञानी बन रहा है तब तक संसार समुद्र में भ्रमेगा। वह भ्रान्ति कौन सी? ऐसा मानना ही वह भ्रान्ति है कि मैं शरीरादिमय हूं अथवा शरीरादिक ही मैं हूं। अरे भाई, शरीरादि कभी अपना स्वरूप नहीं हो सकते और आप स्वयं कभी शरीरादिरूप नहीं हो सकता है। मैं, मैं ही रहूंगा, शरीरादिक जो भिन्न हैं वे भिन्न ही रहेंगे। ऐसा निश्चित ज्ञान जब तक नहीं उत्पन्न होता तब तक संसार से छुटकारा होना असंभव है।

दृष्टि के फेर से उसके फल में फेरफारः—

बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना,
बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम्।
तत्तत् तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो,
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम् ॥ २४४ ॥

अर्थः—आज तक के पहिले भवों में मेरी बाह्य वस्तुओं में अकथनीय प्रीति रही। इसलिये वे पदार्थ सब निबिड़ बंध के कारण हुए। परन्तु अब मुझे सत्य आत्मज्ञान प्रगट हो चुका है और इसीलिये वैराग्य भी सीमान्त प्राप्त हो चुका है। इसलिये जो पदार्थ बंध उत्पन्न करते थे वे ही आज बंध का नाश कर रहे हैं। ठीक ही है। कहां वह अज्ञान और कहां यह सच्चे ज्ञानियों की अनुपम

---

१. उपद्रव सात प्रकार के माने जाते हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, टिड्डी, सुआ, स्वचक्र, परचक्र। इन्हीं को ईति भी कहते हैं।

२. 'अस्मि' ऐसा पाठ ठीक दीखता है।

कुशलता ? बड़ा अन्तर है। बंध का कारण क्रियामात्र नहीं है किन्तु परिणाम[1] हैं।

बन्धव्युच्छेद-क्रम.—

**अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्समः[2] ।**
**क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मतः ॥ २४५ ॥**

**अर्थः—** अभव्य जीवों मे कर्मबंधन सबसे अधिक होता है और आसन्न भव्यों में समान, एवं अतीव आसन्न भव्यों मे केवल कर्मों का मोचन होता है। यह संसार के जीवों की दशा है जहा पर जितना कर्मबंधन कम है वहां पर उतनी ही निर्जरा समझनी चाहिये यह अभिप्राय अनेक जीवों की अपेक्षा कहा। अब एक ही जीव की जैसी जैसी दशा बदलती है वैसा वैसा कर्मवधन मे अंतर पड़ता है वह भी दिखाते हैं। वह कैसे ?

जब मिथ्या गुणस्थान रहता है तब जीव को कर्मबंधन सबसे अधिक होता है। अथवा यों कहिये कि, वहा केवल बंध ही बंध है। जीव कर्मबंधन की जिस निर्जरा से मुक्त हो सकता है वह अविपाक-निर्जरा वहां लेशमात्र[3] भी नहीं होती। आगे चलकर जब जीव की अर्ध शुद्ध मिश्रगुणस्थान की दशा प्राप्त होती है तब कर्मबंधन पहिले की अपेक्षा आधा सा कम होने लगता है और पूर्व कर्मों की निर्जरा होना भी शु हो जाता है। यहां से भी ऊपर चलकर जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तब कर्मो का बंधन बहुत ही थोड़ा होने लगता है और पूर्वकर्मों की निर्जरा बहुत अधिक होने लगती है। जब जीव यहा से ऊपर चलकर कपायों का क्षय कर डालता है तब

---

१ यद्वा क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

२ पहिले छापे में इस श्लोक का अर्थ करते समय कुछ चूक की है। वह यह कि, पहिले गुणस्थान मे अविपाक-निर्जरा नहीं हो सकती परन्तु उन्होंने बताई है। यदि वह निर्जरा सविपाक मानी जाय तो फिर थोड़ी लिखना भूल है। दूसरी भूल यह है कि चतुर्थ गुणस्थान में वन्ध व निर्जरा को समान वताया है, किन्तु ऐसा है नहीं। तीसरे गुणस्थान में वह समान है और चौथे में वध थोड़ा है निर्जरा अधिक है, ऐसा कहना चाहिये था।

३. यहां श्लोक के 'अधिक' शब्द का अर्थ अत्यन्त या सर्वथा करना चाहिये।

कर्मों का बंध होना रुक जाता है और पूर्वकर्मों की केवल निर्जरा ही निर्जरा होने लगती है। यद्यपि सद्वेद्य-कर्म का बंध वहाँ भी होता है परन्तु वह उसी समय छूटता भी जाता है। इसलिये असली बंध होने का वहां से लेकर अभाव ही समझना चाहिये। वस, थोड़ा आगे चलकर वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। यह कर्मों के बंधन व मोचन का प्रकार है।

फल देकर जो कर्मों का क्षय होना है उसकी अपेक्षा से यदि देखा जाय तो निर्जरा भी बंध के बराबर ही होती है और वह सभी को होती है परन्तु उसके होते हुए भी जीव का वास्तविक छुटकरा नहीं हो सकता है, क्योंकि, उस अवस्था में जैसी निर्जरा होती है वैसा ही बंध भी नवीन नवीन होता ही जाता है। इसलिये वह निर्जरा मोक्षार्थी के काम की नहीं है। तो फिर मोक्षार्थी के काम की कैसी निर्जरा होनी चाहिये ?—

**यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।**
**स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः॥ २४६॥**

**अर्थः**—जिस साधु के पूर्वसंचित पुण्य तथा पाप, दोनों ही कर्म फल न देते ही छूट जाते हैं वही सच्चा योगी है और उसी को निर्वाण पद प्राप्त होता है। ऐसे योगी को फिर नवीन कर्मों का संचय नहीं होता।

कर्मों का निष्फल नष्ट करना कैसे हो ? —

**महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा।**
**मर्यादापालिबन्धेल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम्॥ २४७॥**

**अर्थः**—अहिंसादि पांच महाव्रत तथा परीषह-जय, एवं कायक्लेश व स्वाध्याय ध्यान, इत्यादि अनेकों घोर तप हैं। इन सबों का एकत्र धारण करना, वह हुआ मानो एक तालाव इस तालाव में सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप जो अनुपम गुण रहते हैं वह मानो जल है। यह तालाव इस जल से भरा हुआ हो तभी इस तालाव की शोभा है। परन्तु यह जल पूर्ण भरा तभी रहेगा जब कि इसकी पाल ठीक ठीक बँधी रहेगी। इसकी पाल क्या है ? मर्यादा या प्रतिज्ञा अथवा संयम मार्ग को जो एक वार यावज्जीवन स्वीकार किया है वही इसकी पाल है। वस, यह पाल ठीक ठीक सुरक्षित

रहनी चाहिये। यदि पाल टूटी तो जल नहीं ठहर सकेगा। ठीक ही है, जब साधु मर्यादा का उल्लंघन करके यद्वा तद्वा प्रवर्तने लगा हो तो मोक्ष के साधक ज्ञानादि गुण कैसे ठहर सकते हैं ? ज्ञानादि गुण नष्ट हुए कि वीतरागता छूट कर राग-द्वेष की मात्रा दहकने लगेगा। कर्मबंध का यही कारण है। जब कि रागद्वेष जाज्वल्यमान हो चुके तो पूर्वबद्ध कर्म आत्मा को रागद्वेष जगाकर अवश्य दुःख देंगे। दुःख का अनुभव होना इसी का नाम रागद्वेष है। इसीलिये जिस साधु में रागद्वेष जाज्वल्यमान हो चुके हों उसका फिर निर्वाण प्राप्त होना कठिन नहीं किन्तु असंभव है। इसीलिये भाई, मर्यादा में थोड़ा सा भी भंग होना अच्छा मत समझो, उसकी उपेक्षा मत करो। भंग होता दीखे तो तत्काल उसे संभालो।

मर्यादा भंग के हेतु—

**दृढगुप्तिकपाटसंवृ[1]तिधृ तिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः ।**
**यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः ॥२४८॥**

**अर्थः**—घर के दरवाजों में किवाड़ लगाने पड़ते हैं, घर की भीतें ठीक रखनी पड़ती हैं। तो भी कहीं कोई छेद हो जाय तो उसी में से सर्प घर में घुस जाते हैं। इसलिये घर का स्वामी छेद भी न रहने देने की सावधानी रखता है। बस, यही अवस्था योगी की है।

यति का शरीर, यह मानो एक घर है। शरीर-वचन-मन की पूर्ण सावधानी या स्थिरता, ये जिस घर के किवाड़ हैं। ये किवाड़ अच्छी तरह बन्द कर रक्खे हैं। प्रवृत्ति करने में जो धैर्य है वे ही जिस घर की भीतें हैं। निर्दोष, दृढ़ व पवित्र बुद्धि, यही जिसकी मजबूत नींव है। घर के समान यह साधु का शरीर इतना दृढ़ तथा सुरक्षित है। तो भी इसमें कदाचित् किसी तरफ यदि कोई प्रमादादिरूप छोटा-सा छेद पड़ जाय तो उसी के द्वारा कुटिल रागादि-सर्प घर के भीतर घुस जाते हैं और घर को भयंकर बना देते हैं। प्रमादि अथवा व्रतादि भंग करना, यही साधु शरीररूप घर के भीतर घुसने के लिये छेद समझना चाहिये।

**भावार्थः**—प्रमादादि दोष ही साधु के आत्मा को कर्मबद्ध करने के कारण हैं। इसलिये प्रमाद तथा व्रत भंग एव व्रतातीचार, इन सबों को न आने देना चाहिये। इनका आना पूरा पूरा रुक

---

१ यह विषम छन्द है। अथवा, 'संवृतिवै' ऐसा हो सकता है।

गया तो पूर्वबद्ध पुण्य पाप कर्म यों ही निकल जांयगे और साधु शीघ्र ही संसार व शरीरादि से मुक्त हो जायगा।

प्रमादादि दोष कैसे आते हैं?—

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः॥ २४६॥

अर्थः—साधु, जब कि सभी पापारंभ से निवृत्त हो चुका है तो उसमें कषायों का उद्रेक बढ़ना सहज संभव नहीं है। परन्तु पास में जो शरीर शेष है उसमें यदि आसक्ति होने लगे तो कषायोद्रेक हो जाना संभव है। अतएव इस आसक्ति को क्षीण करने के लिये वह साधु अति दुर्धर कायक्लेशादि तपों को सदा करता रहता है। उसकी यह समझ हो रही है कि यदि मैं तपश्चरण से सावधान रहा तो रागादि या प्रमादादि दोष मुझमें से निकल जांयगे। आश्चर्य, वह साधु यह नहीं समझता है कि मैं चाहे कैसे ही घोर तपश्चरणों द्वारा दोष न बढ़ने देने की सावधानी रक्खूं परन्तु दूसरों के दोष गाने से तथा सुनने से भी वे दोष बढ़ेंगे। इस अज्ञान में पड़ा हुआ वह साधु दूसरों के दोष देखता है, दूसरों से कहता है, सुनता है। इस विपरीताचरण के वश वह सदा ही अपने प्रमादादि दोषों को बढ़ाता है। अरे भाई, यदि कोई अजीर्णादि दोष[1] हटाने के लिये वायु सेवन या भ्रमणादि क्लेश तो सहता हो किन्तु गरिष्ठ भोजन करता ही जाय तो उसका वह दोष किस प्रकार नष्ट होगा? प्रमादादि दोषों के शमनार्थ तप करना तो भ्रमणादि के तुल्य तुच्छ उपचार है और परदोषकथादि का छोड़ना भोजन त्याग के तुल्य मुख्य उपचार है। इसलिये यदि वीतरागी बनना है तो इसे अवश्य छोड़ो।

किसी महात्मा के दोष देखने में मत लगो.—

दोषः[2] सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात् क्वचि,—
ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोप्यलम्।

---

१. 'रससंयुक्त भोजन करि देह पुष्ट होय' यह पं० टोडरमलजी का लिखना ठीक नहीं है यदि शरीर की जगह 'अजीर्णादि' लिखते तो ठीक था। क्योंकि, अजीर्णादि, दोष होने से दोषों के साथ समानता बैठती है।

२ इस श्लोक की उत्थानिका तथा अर्थ पं० टोडरमलजी की समझ में नहीं आया। देखो प्रस्तावना।

**द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जग,-**
**द्विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोप्यगात्तत्पदम् ॥२५०॥**

**अर्थः**—जिनमें ज्ञानादि अनेकों गुण प्रकट हो चुके हैं ऐसे महात्माओं में भी कभी कभी दैववशात् तुच्छ दोष उत्पन्न हो जाते हैं। उनके अनेक उत्कृष्ट गुणों के प्रकाश में वे दोष अति तुच्छ होकर भी जैसे के तैसे ठीक झलकने लगते हैं। इसीलिये वे दोष उत्पन्न होते ही अज्ञानियों तक की समझ में आ जाते हैं। परन्तु महात्मा महात्मा ही रहते हैं और वे अज्ञानी अज्ञानी ही रहते हैं। दोष का देखने वाला देख लेने मात्र से कुछ ज्ञानी या वैसा महात्मा नहीं बन जाता। दोषों का देखने वाला सदा दोषों में ही पड़ा रहता है। उसके आत्मीय गुणों का उत्कर्ष नहीं हो पाता। देखो,—

चन्द्र में अनेकों गुण हैं। परन्तु साथ ही उसमे एक ऐसा लांछन पड़ा है कि वह लांछन छोटा-सा होकर भी सारे जग के देखने मे आता है। उसकी प्रभा से वह लाछन सारा प्रकाशित होता है। इसी कारण जग भर के लोग उसे देख लेते हैं। परन्तु क्या देखने वालों में से आज तक कोई एक भी उसके महत्त्व को पा सका है? नहीं। उत्तम पदार्थ के अन्तर्गत रहने वाले किसी दोष के देख लेने मात्र से उस दर्शक की योग्यता कभी बढ़ती नहीं है। वह कभी वैसा महात्मा या उससे चढ़-बढ़ कर नहीं हो सकता है।

**भावार्थः**—रे तपस्वी, जब कि तू अपने कषायों के नाश करने से मोक्ष पद पा सकता है, अन्यथा नहीं; तो फिर दूसरों के दोष देखने में क्यों तत्पर होता है? दूसरों के दोष देखना, यह भी एक कषाय है। ऐसा करने से तेरे कषाय व दोष सर्वथा नष्ट नहीं हो सकेंगे। इसीलिये तबतक तेरा कल्याण भी नहीं होगा जबतक कि तू दूसरों के दोष देखने मे लगा रहेगा। क्यों? यों कि, दोष देखने वाले के हृदय में ईर्ष्या सदा जाज्वल्यमान रहती है। एक तो यही कारण है कि उसका कल्याण नहीं हो पाता। दूसरे, दोषैकदृष्टि पुरुष के उत्कृष्ट गुणों का उत्कर्ष व प्रादुर्भाव नहीं हो पाता। हो कहाँ से? गुणों का उत्कर्ष करने की तरफ उसका लक्ष्य ही नहीं जाने पाता है।

जबतक जग है तबतक थोड़े या बहुत दोष तो सभी में प्राय: रहते हैं। इसलिये सर्वांश शुद्धता का जग में तो कहीं उदाहरण ही नहीं मिल सकेगा। और उन्नति का क्रम यह है कि एक को देखकर दूसरा अपनी उन्नति करने में लगता है। किन्तु जो दोषदर्शी है वह अपने से बड़ा किसी को भी नहीं समझ पाता। इसलिये उसका गुणोत्कर्ष होने के बदले दोषों में उत्कर्ष होने लगना संभव है। इसलिये भाई, तू किसी महात्मा के दोष देखने में मत लग। तभी तेरा कल्याण होगा। जिसमें दोष है वह अपने दोषों को जब सुधारेगा उसका कल्याण तभी होगा; नहीं तो नहीं। उसके दोष बने रहने न रहने से तुझे हानि या लाभ क्या है? सारांश, तू उससे उपेक्षित हो। परन्तु, जबतक वास्तविक ज्ञान नहीं हुआ तभी तक परदोषग्रहणादि दोष रहते हैं। देखो.—

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥२५१॥

**अर्थ:**—दूसरे साथियों से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की अभिलाषा होना स्वाभाविक बात है। जबतक अज्ञान रहता है तब तक यह अभिलाषा अवश्य रहती है। इस अभिलाषा के वश जीव परनिंदा, स्वप्रशंसा, परगुणोच्छादन, स्वगुणाविर्भाव, उपवास व कायक्लेशादि उग्रतप आदि कार्य करता है। परन्तु जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वही सच्चा योगी बन जाता है और उसे पहिले अपने पूर्वोक्त सभी ये कार्य अज्ञानकृत भासने लगते हैं।

**भावार्थ:**—सभी जगह केवल क्रियाओं से कार्यसिद्धि नहीं होती, किन्तु कषायादि दोष दूर होने पर जो परिणामों में विशुद्धता प्राप्त होती है वही मुख्य कार्यसाधक समझनी चाहिये। इसलिये सबसे प्रथम उदासीनता धारण करो। देखो.—

अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते,
भवति हि मनोमूलो यावन्ममत्वजलार्द्रता।
इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं,
चिरपरिचिते देहेप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥ २५२ ॥

**अर्थ:**—आशा, यह एक बेल के तुल्य है। बड़े बड़े तपस्वियों में भी यह आशा बेल हरी-भरी कायम रहती है। इसके ऊपर की

डालियाँ सदा ही लहलहाया करती हैं। कबतक? जबतक कि इसकी जड़ में पानी का गीलापन रहता है। इसकी जड़ कौनसी है? मन। मन से ही इस आशा की उत्पत्ति होती है। इसकी वृद्धि भी तबतक होती है जबतक कि मन से ममत्व छूटा नहीं है। इसलिये ममत्व, मानो आशा-बेल को हरा-भरा रखने वाला पानी है। इस आशा को जिन्हें नष्ट करने की इच्छा होती है वे प्रथम ही ममत्व दूर करते हैं। जैसे पानी का गीलापन न रहने पर बेल सूख जाती है वैसे ही ममत्व नष्ट होते ही आशाबेल सूख जाती है। इसलिये बुद्धिमान् योगी कठोर कठोर तपों द्वारा ममत्व नष्ट करने का निरंतर प्रयत्न करते हैं। और तो क्या, चिरपरिचित अपने शरीर से भी वे योगी अत्यन्त विरक्त हो जाते हैं।

क्या शरीर से ही विरक्त होते हैं, अन्य वस्तुओं से नहीं?—

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।
भेद एव यदि भेदवत्स्वऽलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३

**अर्थः**—क्षीरनीर की तरह अभिन्न दीखने वाले शरीर व आत्मा मे ही जब कि भेदज्ञान उत्पन्न होकर उसने शरीर से ममता छुड़ा दी तो जो प्रत्यक्ष जुदे दीखने वाले स्त्री-पुत्रादि बाह्य विषय हैं उनसे ममता क्यों न छूटेगी? भला, अब प्रत्यक्ष बाह्य विषयों की क्या गिनती रही?

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात्।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥ २५४ ॥

**अर्थः**—जैसे अग्नि से जल गरम हो जाता है वैसे ही मैं शरीर के सम्बन्ध से संतप्त हो रहा हूँ। इसीलिये इस देह का सम्बन्ध जब छोड़ा तभी मोक्षार्थी महायोगियों को शाश्वतिक शान्ति प्राप्त हुई।

**भावार्थः**—मैं भी जब शरीर को क्षीण करूँगा तभी मुझे शान्ति प्राप्त होगी। और भी—

अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुध्यति ॥ २५५ ॥

अर्थ:—जीवों के हृदय मे महामोह का संचय हो रहा है और वह अनादिकाल से होरहा है। जिन्होंने वास्तविक चित्तनिरोध करके इस महामोह को निकाल दिया उन्हीं का उत्तरकाल सम्बन्धी पर्याय सुधरा। जबतक महामोह नष्ट नहीं होता तबतक अंतरीय आत्मा ममत्व से छूटता नहीं है। इसलिये ममता नष्ट करने का मूल उपाय मोह कर्म का नाश है। देखो, किसी के भीतर यदि मलप्रकोप हुआ हो तो वह रोगी बन जाता है। उसके रोग दूर करने का उपाय यह है कि वमन तथा रेचन द्वारा वह मल निकाल दिया जाय। इसके लिये उत्तम औषधों का प्रयोग ग्रहण करना पड़ता है। उत्तम औषध ली तो वह मल दूर होने से शरीर आगे के लिये शुद्ध हो जाता है। ससार-रोग का नाश करने के लिये भी ऐसा ही कोई औषध लेना चाहिये। चित्त का पसारा बढ़ने से महामोह कर्म बढ़ता है और उसी का संचय होने से ससार के दुःख बढ़ते हैं। इसलिये चित्त का वास्तविक निरोध करना, यही इसकी औषध है। इस औषध से अनादि-संचित महामोह को दूर किया कि संसार रोग दूर हो जायगा।

महामोह हटने के चिह्न:—

**एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्युतिं,**
**दुःखं दुष्कृतिनिष्कृतिं सुखमलं संसारसौख्योज्झनम्।**
**सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां,**
**किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥२५६**

अर्थ:—जिन महात्माओं का मोह गलित हो गया है उन्हें एकाकी रहना, चक्रवर्ती के सर्वोपरि सुख के समान अपूर्व दीख पड़ता है। उनका मरण होने लगा तो वे मनवांछित लाभ के समान समझते है। लाभान्तरायादि घाति कर्मों के क्षयोपशम से यदि कभी सुख सयोग होता दीखा तो उसे वे मोक्षविघातक विघ्न समझकर दुःख मानते है। ससार के विषय सुख जैसे जैसे छूटते जाते हैं वैसा ही वैसा उन्हें आनन्द होता है। परोपकार करने में वे सर्वस्व गमा देने को भी बड़ा भारी आनन्द मानते है। और तो क्या, प्राण भी चले जांय तो परवाह नहीं। अथवा सब त्याग करके जब जैनेश्वरी दीक्षा ली जाती है तब जैसे अतीव उत्सव या आनन्द होता है वैसे ही प्राण-नाश होते उन्हें आनन्द होता है। जिनकी यह भावना हो चुकी है

उन्हें कैसा ही दुःख का प्रसंग क्यों न प्राप्त हो परन्तु वे दुःख न मानकर सुख ही उसे मानते हैं। ठीक ही है, इष्टानिष्ट की जब भावना ही नहीं रही तो ऐसा कौनसा प्रसंग है जो उन्हे सुखमय न भासता हो ? इसीलिये साधु-जन सदा सुखी रहते है ऐसा कहना सर्वथा सत्य है ।

**भावार्थः**—जब कि मोह नहीं रहा तो चाहे जैसा दुःख का प्रसग आवे पर उन्हे दुःख नहीं होता। कारण ?—

**आकृष्योग्रतपोवलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते,**
**मत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः ।**
**यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोरिः स्वयं,**
**वृद्धिः प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः ॥ २५७ ॥**

**अर्थः**—पूर्वबद्ध कर्म जबतक प्रगट न हो तबतक दुःख का होना संभव नहीं है। और योगी-जन कर्मों का नाश करने में ऐसे दत्तचित्त होते हैं कि जो कर्म अपने आप आकर प्रगट नहीं होते उन्हें भी वे उग्र तपोबल से खींचकर सामने लाते हैं और नष्ट करते जाते हैं। जबकि यह बात है तो जो कर्म अपने आप ही प्रगट होकर दुःख देने के लिये तत्पर होते हैं उन्हे तो वे योगी बहुत ही प्रसन्नता के साथ भस्म करने को उत्साहित होते हैं। अब कहिये, आये हुए कर्मो से उन्हें संकट क्यों होने लगा ? इसीलिये विद्वान् योगियों को कर्मों के उदय से खेद होना सम्भव नहीं है। देखो—

जिस शूर को शत्रु जीतने की उत्कंठा है वह आप ही शत्रु पर टूटकर पड़ना चाहता है। यदि शत्रु ही स्वयं आकर लड़ना चाहें तो और भी अधिक आनन्द की बात है। उसे उस शत्रु के आक्रमण से दुःख तथा भय कैसा ? प्रत्युत, जो विजय प्रयत्नसाध्य था उसमे अधिक सुगमता हुई समझना चाहिये। उस शत्रु के साथ लडाई से निःसदेह विजय ही मिलेगा। बस, इसी प्रकार योगी को उदयावली आकर प्राप्त होने वाले कर्मों से खेद नहीं होता।

अरे भाई, कर्म आकर यदि दुःख दे तो कैसे दे ? ऐसे ही न ? कि वह आत्मेतर इष्ट वस्तुओं का विध्वंस करदे। परन्तु जब कि वे स्वयमेव अन्य वस्तुओं का संयोग हटाने में सुखी हैं तो इष्टसंयोग-

विच्छेद से उन्हें दुःख किस लिये होगा? देखो, वे साधु मुक्ति का प्रयत्न करते हुए शरीर का छूट जाना अच्छा समझते हैं:—

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वाद्,
भ्रान्त्याऽचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जः
सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धा,
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः॥२५८

अर्थः—असज्ञान जिनका चितवन भी नहीं कर पाता है। अर्थात् जिनमें से मिथ्याज्ञान सर्वथा हट गया है। ऐसे महात्मा सच्चे शूर योगी मोह का सर्वथा नाश कर चुके हे। एकाकी रहने की प्रतिज्ञा स्वीकार कर चुके । अकेले रहकर निर्वाह कर सकते हैं, इसलिये सारा परिग्रह-जंजाल छोड़कर परीषह जीतने को कटिबद्ध हो रहे हैं। अपना कल्याण सिद्ध करने से सदा ही सावधान रहते हैं। आजतक अपने शरीर को अपना सहाई मान रक्खा था और अब भी कर्मों के नाशार्थ तपश्चर्या के लिये कुछ सहाई सा मानते हैं। परन्तु तो भी उसके सम्बन्ध को लज्जा का कारण समझ रहे हैं। इसीलिये वे महात्मा सब पल्यङ्क—आसन बाधकर इस बात का विचार करते बैठते है कि इस शरीर का किस प्रकार नाश हो। हम शरीर के नाश का उपाय वास्तविक ढूँढ़कर निकालें ऐसा विचार कर वे योगी कभी पर्वतों से, कभी जंगलो से और कभी गुफाओं मे—ऐसे शान्त एकात स्थानो मे जाकर ध्यान रखते हैं। अपने मुख्य कार्य को कभी विसरते नही है। मोह का नाश हो जाने से वे सदा ही अपनी सिद्धि करने पे तैयार रहते है। ऐसे महत्मा अपनी सिद्धि तो करते ही है किन्तु दूसरो के भी कल्याणकर्ता बनते है। देखो:—

येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजः स्थानं शिलायास्तलं,
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थय,—
स्ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निःस्पृहाः॥२५९

अर्थः—सारे शरीर से लगी हुई धूल जिनकी शोभा बढ़ा रही है। जिन्होंने पत्थरों के शिलातल को ठहरने का स्थान बनाया है।

जिन्होंने सोने के लिये शय्या, कंकरीली भूमि को बनाया है। जो व्याघ्रादि भयंकर जन्तुओं के रहने की गुफाओं को अपना रहने का घर समझते हैं। शरीर को अपना और आत्मा को शरीरमय मानने की मिथ्या वासना जिनके हृदय से निकल गई है अज्ञानान्धकार की गाँठ हृदय से खुल चुकी है। जो आत्मा को केवल संसार से मुक्त करने के अभिलाषी हैं, किन्तु शेष सर्व अभिलाषा नष्ट कर चुके हैं। जिन्होंने केवलज्ञान को ही अपना सर्वस्व समझ रक्खा है। ऐसे योगीश्वर हमारे मन को वीतराग बनाकर पवित्र करो। देखो, और भी उनकी महिमा.—

दूरारूढतपोनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणै,-
रन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः।
विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने,
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरिता धीराश्चिरं वासरान्॥ २६०

**अर्थः**—जो योगी अपने सातिशय तप के प्रभाव से ज्ञान-ज्योति का प्रकाश कर चुके हैं और उस ज्योति के जो किरण पसरे हैं उनके द्वारा वास्तविक अन्तर्गत आत्मतत्त्व को पहिचान चुके हैं। वे ही योगी सच्चे आनन्द मे मग्न होने वाले हैं। उस आत्मानन्द में वे ऐसे तत्पर हो चुके है कि उनकी परम शांत मुद्रा को चंचल नेत्र-वाली बनों मे विचरने वाली हरिणी भी निर्भयता के साथ देखकर मस्त हो उठती हैं। धन्य वे धीर योगीश्वर। जो इस प्रकार अद्भुत चर्या से अपने दिनों को विताते हैं।

**भावार्थः**—जो आत्मतत्त्व संसारी जनों के स्वप्नगोचर भी नहीं हुआ वह जिन्होंने साक्षात् पा लिया है ऐसे असाधारण एक महिमा के स्वामी योगीश्वर धन्य हैं। जिनके आत्मतत्त्व पाने का परिचय जंगल की अति चंचल हरिणी भी दे रही है। हरिणियों का इतना चचल व भययुक्त स्वभाव होता है कि वे मनुष्य को देखते ही दूर भाग जाती है। परन्तु जो अन्तरात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से परम वीतरागी बन चुके है और जिनकी परम वीतराग चेष्टा ऊपर झलकने लगी है उन योगीश्वरों के दर्शन से कौन भला, दूर भागेगा? अहो, जिनकी आत्मनिष्ठा के बल से सिंहादिक क्रूर जीव भी अपनी

दुष्टता भूल जाते हैं उनके दर्शन से भय कैसा ? उन्हें जो देखे उसे आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है। यह उनके आत्मप्रत्यक्ष होने की महिमा है। देखो, और उन्हीं की महिमा:—

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं,
गत्वोच्चैरविधाय भेदनमयोरारान्न विश्राम्यति।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढं बहिर्व्याप्तय,-
स्तेषां नोत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोज्झिताः पांशवः ॥२६१

**अर्थः**—विषयाशा तथा आत्मा, इन दोनों का ही ज्ञान होना कठिन है। विषयों की आशा जहा देखो वहा ही जाज्वल्यमान दीख पड़ती है। शुद्ध आत्मा का अनुभव ससार दशा मे कभी कहीं भी दीख नहीं पाता। इसीलिये ससारी जन स्वानुभूत कामविकारों को ही आत्मा या आत्मलक्षण समझ वैठते हैं। परन्तु इस विषयाशा तथा आत्मा के परस्पर दुर्लक्ष्य भेद को जब तक पूरा समझ नहीं पाया तब तक जिन्होंने थककर अधबीच मे ही अपनी वुद्धि को हटाया नहीं, किन्तु जो सतत श्रम करते ही रहे। और अन्त में उस शुद्ध आत्मा को जिन्होंने वास्तविक समझ ही लिया। अतएव जिनका मन वाह्य विषयों मे से हटकर आत्मस्वरूप के परमानन्द भोगने मे लीन हो गया है। जिन्होने परम शातता को ही अपना सर्वस्व समझ रक्खा है। जग में उन योगाश्वरों के चरणों से झड़कर गिरी हुई परम-पवित्र धूल हमको पवित्र करे। भावार्थ, ऐसे योगीश्वरों की चरणरज हमारा निस्तार करने वाली हो। और उन योगियों के चरणों का हमे सदा ही सहवास प्राप्त हो।

संसारी जनों से उनकी अपूर्वता:

यत् प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।
कुर्याद्यः शुभमेव सोप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२६२

**अर्थः**—जीव पूर्वभवो मे जिन शुभ या अशुभ कर्मों का संचय करते हैं उसी का नाम दैव है। जब उस दैव का तीव्र उद्रेक प्रगट होता है तब जीवो को सुख या दुःख आकर मिलते हैं। उस समय

**द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जग,-**
**द्विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोप्यगात्तत्पदम् ॥२५०॥**

**अर्थः**— जिनमें ज्ञानादि अनेकों गुण प्रकट हो चुके हैं ऐसे महात्माओं में भी कभी कभी दैववशात् तुच्छ दोष उत्पन्न हो जाते हैं। उनके अनेक उत्कृष्ट गुणों के प्रकाश में वे दोष अति तुच्छ होकर भी जैसे के तैसे ठीक झलकने लगते हैं। इसीलिये वे दोष उत्पन्न होते ही अज्ञानियों तक की समझ में आ जाते हैं। परन्तु महात्मा महात्मा ही रहते हैं और वे अज्ञानी अज्ञानी ही रहते है। दोष का देखने वाला देख लेने मात्र से कुछ ज्ञानी या वैसा महात्मा नहीं बन जाता। दोषों का देखने वाला सदा दोषों मे ही पड़ा रहता है। उसके आत्मीय गुणों का उत्कर्ष नहीं हो पाता। देखो,—

चन्द्र मे अनेकों गुण है। परन्तु साथ ही उसमें एक ऐसा लांछन पड़ा है कि वह लांछन छोटा-सा होकर भी सारे जग के देखने में आता है। उसकी प्रभा से वह लाछन सारा प्रकाशित होता है। इसी कारण जग भर के लोग उसे देख लेते हैं। परन्तु क्या देखने वालों में से आज तक कोई एक भी उसके महत्त्व को पा सका है? नहीं। उत्तम पदार्थ के अन्तर्गत रहने वाले किसी दोष के देख लेने मात्र से उस दर्शक की योग्यता कभी बढ़ती नहीं है। वह कभी वैसा महात्मा या उससे चढ़-बढ़ कर नहीं हो सकता है।

**भावार्थः**—रे तपस्वी, जब कि तू अपने कषायों के नाश करने से मोक्ष पद पा सकता है, अन्यथा नहीं, तो फिर दूसरों के दोष देखने में क्यों तत्पर होता है? दूसरों के दोष देखना, यह भी एक कषाय है। ऐसा करने से तेरे कषाय व दोष सर्वथा नष्ट नहीं हो सकेंगे। इसीलिये तबतक तेरा कल्याण भी नहीं होगा जबतक कि तू दूसरों के दोष देखने में लगा रहेगा। क्यों? यों कि, दोष देखने वाले के हृदय में ईर्ष्या सदा जाज्वल्यमान रहती है। एक तो यही कारण है कि उसका कल्याण नहीं हो पाता। दूसरे, दोषैकदृष्टि पुरुष के उत्कृष्ट गुणों का उत्कर्ष व प्रादुर्भाव नहीं हो पाता। हो कहाँ से? गुणों का उत्कर्ष करने की तरफ उसका लक्ष्य ही नहीं जाने पाता है।

जबतक जग है तबतक थोड़े या बहुत दोष तो सभी में प्राय: रहते हैं। इसलिये सर्वांश शुद्धता का जग में तो कहीं उदाहरण ही नहीं मिल सकेगा। और उन्नति का क्रम यह है कि एक को देखकर दूसरा अपनी उन्नति करने में लगता है। किन्तु जो दोषदर्शी है वह अपने से बड़ा किसी को भी नहीं समझ पाता। इसलिये उसका गुणोत्कर्ष होने के बदले दोषों में उत्कर्ष होने लगना संभव है। इसलिये भाई, तू किसी महात्मा के दोष देखने में मत लग। तभी तेरा कल्याण होगा। जिसमें दोष हैं वह अपने दोषों को जब सुधारेगा उसका कल्याण तभी होगा, नहीं तो नहीं। उसके दोष बने रहने न रहने से तुझे हानि या लाभ क्या है? सारांश, तू उससे उपेक्षित हो। परन्तु, जबतक वास्तविक ज्ञान नहीं हुआ तभी तक परदोषग्रहणादि दोष रहते हैं। देखो:—

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम् ।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥२५१॥

**अर्थ:**—दूसरे साथियों से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की अभिलाषा होना स्वाभाविक बात है। जबतक अज्ञान रहता है तब तक यह अभिलाषा अवश्य रहती है। इस अभिलाषा के वश जीव परनिंदा, स्वप्रशंसा, परगुणोच्छादन, स्वगुणाविर्भाव, उपवास व कायक्लेशादि उग्रतप आदि कार्य करता है। परन्तु जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वही सच्चा योगी बन जाता है और उसे पहिले अपने पूर्वोक्त सभी ये कार्य अज्ञानकृत भासने लगते हैं।

**भावार्थ:**—सभी जगह केवल क्रियाओं से कार्यसिद्धि नहीं होती, किन्तु कषायादि दोष दूर होने पर जो परिणामों में विशुद्धता प्राप्त होती है वही मुख्य कार्यसाधक समझनी चाहिये। इसलिये सबसे प्रथम उदासीनता धारण करो। देखो:—

अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते,
भवति हि मनोमूलो यावन्ममत्वजलार्द्रता।
इति कृतिधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं,
चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥ २५२ ॥

**अर्थ:**—आशा, यह एक बेल के तुल्य है। बड़े बड़े तपस्वियों में भी यह आशा-बेल हरी-भरी कायम रहती है। इसके ऊपर की

डालियाँ सदा ही लहलहाया करती हैं। कवतक ? जबतक कि इसकी जड़ में पानी का गीलापन रहता है। इसकी जड़ कौनसी है ? मन। मन से ही इस आशा की उत्पत्ति होती है। इसकी वृद्धि भी तवतक होती है जवतक कि मन से ममत्व छूटा नहीं है। इसलिये ममत्व, मानो आशा-बेल को हरा-भरा रखने वाला पानी है। इस आशा को जिन्हें नष्ट करने की इच्छा होती है वे प्रथम ही ममत्व दूर करते हैं। जैसे पानी का गीलापन न रहने पर बेल सूख जाती है वैसे ही ममत्व नष्ट होते ही आशाबेल सूख जाती है। इसलिये बुद्धिमान् योगी कठोर कठोर तपों द्वारा ममत्व नष्ट करने का निरंतर प्रयत्न करते हैं। और तो क्या, चिरपरिचित अपने शरीर से भी वे योगी अत्यन्त विरक्त हो जाते हैं।

क्या शरीर से ही विरक्त होते हैं, अन्य वस्तुओं से नहीं ?—

**क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।**
**भेद एव यदि भेदवत्स्वऽलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३**

**अर्थः**—क्षीरनीर की तरह अभिन्न दीखने वाले शरीर व आत्मा में ही जब कि भेदज्ञान उत्पन्न होकर उसने शरीर से ममता छुड़ा दी तो जो प्रत्यक्ष जुदे दीखने वाले स्त्री-पुत्रादि बाह्य विषय हैं उनसे ममता क्यों न छूटेगी ? भला, अब प्रत्यक्ष बाह्य विषयों की क्या गिनती रही ?

**तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात्।**
**इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥ २५४ ॥**

**अर्थः**—जैसे अग्नि से जल गरम हो जाता है वैसे ही मैं शरीर के सम्बन्ध से संतप्त हो रहा हूँ। इसीलिये इस देह का सम्बन्ध जब छोड़ा तभी मोक्षार्थी महायोगियों को शाश्वतिक शान्ति प्राप्त हुई।

**भावार्थः**—मैं भी जब शरीर को क्षीण करूँगा तभी मुझे शान्ति प्राप्त होगी। और भी—

**अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः।**
**सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुध्यति ॥ २५५ ॥**

**अर्थ:**—जीवों के हृदय में महामोह का संचय हो रहा है और वह अनादिकाल से होरहा है। जिन्होंने वास्तविक चित्तनिरोध करके इस महामोह को निकाल दिया उन्हीं का उत्तरकाल सम्वन्धी पर्याय सुधरा। जवतक महामोह नष्ट नहीं होता तवतक अंतरीय आत्मा ममत्व से छूटता नहीं है। इसलिये ममता नष्ट करने का मूल उपाय मोह कर्म का नाश है। देखो, किसी के भीतर यदि मलप्रकोप हुआ हो तो वह रोगी वन जाता है। उसके रोग दूर करने का उपाय यह है कि वमन तथा रेचन द्वारा वह मल निकाल दिया जाय। इसके लिये उत्तम औषधों का प्रयोग ग्रहण करना पड़ता है। उत्तम औषध ली तो वह मल दूर होने से शरीर आगे के लिये शुद्ध हो जाता है। ससार-रोग का नाश करने के लिये भी ऐसा ही कोई औषध लेना चाहिये। चित्त का पसारा वढ़ने से महामोह कर्म वढ़ता है और उसी का सचय होने से ससार के दु ख वढ़ते हैं। इसलिये चित्त का वास्तविक निरोध करना, यही इसकी औषध है। इस औषध से अनादि-सचित महामोह को दूर किया कि ससार रोग दूर हो जायगा।

महामोह हटने के चिह्न:—

**एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्युतिं,**
**दुःखं दुष्कृतिनिष्कृतिं सुखमलं संसारसौख्योज्झनम्।**
**सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां,**
**किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥२५६**

**अर्थ:**—जिन महात्माओं का मोह गलित हो गया है उन्हें एकाकी रहना, चक्रवर्ती के सर्वोपरि सुख के समान अपूर्व दीख पड़ता है। उनका मरण होने लगा तो वे मनवांछित लाभ के समान समझते हैं। लाभान्तरायादि घाति कर्मों के क्षयोपशम से यदि कभी सुख संयोग होता दीखा तो उसे वे मोक्षविघातक विघ्न समझकर दुःख मानते हैं। संसार के विषय सुख जैसे जैसे छूटते जाते हैं वैसा ही वैसा उन्हें आनन्द होता है। परोपकार करने मे वे सर्वस्व गमा देने को भी वड़ा भारी आनन्द मानते हैं। और तो क्या, प्राण भी चले जांय तो परवाह नहीं। अथवा सव त्याग करके जब जैनेश्वरी दीक्षा ली जाती है तव जैसे अतीव उत्सव या आनन्द होता है वैसे ही प्राण-नाश होते उन्हें आनन्द होता है। जिनकी यह भावना हो चुकी है

उन्हें कैसा ही दुःख का प्रसंग क्यों न प्राप्त हो परन्तु वे दुःख न मानकर सुख ही उसे मानते हैं। ठीक ही है, इष्टानिष्ट की जब भावना ही नहीं रही तो ऐसा कौनसा प्रसंग है जो उन्हें सुखमय न भासता हो ? इसीलिये साधु-जन सदा सुखी रहते हैं ऐसा कहना सर्वथा सत्य है।

**भावार्थः**—जब कि मोह नहीं रहा तो चाहे जैसा दुःख का प्रसंग आवे पर उन्हें दुःख नहीं होता। कारण ?—

**आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते,**
**मत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः।**
**यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोरिः स्वयं,**
**वृद्धिः प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः॥ २५७॥**

**अर्थः**—पूर्वबद्ध कर्म जबतक प्रगट न हो तबतक दुःख का होना संभव नहीं है। और योगी-जन कर्मों का नाश करने मे ऐसे दत्तचित्त होते हैं कि जो कर्म अपने आप आकर प्रगट नहीं होते उन्हें भी वे उग्र तपोबल से खींचकर सामने लाते हैं और नष्ट करते जाते हैं। जबकि यह बात है तो जो कर्म अपने आप ही प्रगट होकर दुःख देने के लिये तत्पर होते हैं उन्हें तो वे योगी बहुत ही प्रसन्नता के साथ भस्म करने को उत्साहित होते हैं। अब कहिये, आये हुए कर्मों से उन्हें संकट क्यों होने लगा ? इसीलिये विद्वान् योगियों को कर्मों के उदय से खेद होना सम्भव नहीं है। देखो—

जिस शूर को शत्रु जीतने की उत्कंठा है वह आप ही शत्रु पर टूटकर पड़ना चाहता है। यदि शत्रु ही स्वयं आकर लड़ना चाहें तो और भी अधिक आनन्द की बात है। उसे उस शत्रु के आक्रमण से दुःख तथा भय कैसा ? प्रत्युत, जो विजय प्रयत्नसाध्य था उसमे अधिक सुगमता हुई समझना चाहिये। उस शत्रु के साथ लडाई मे निःसंदेह विजय ही मिलेगा। बस, इसी प्रकार योगी को उदयावली आकर प्राप्त होने वाले कर्मों से खेद नहीं होता।

अरे भाई, कर्म आकर यदि दुःख दे तो कैसे दे ? ऐसे ही न ? कि वह आत्मेतर इष्ट वस्तुओं का विध्वंस करदे। परन्तु जब कि वे स्वयमेव अन्य वस्तुओं का संयोग हटाने मे सुखी हैं तो इष्टसंयोग-

विच्छेद से उन्हें दुःख किस लिये होगा? देखो, वे साधु मुक्ति का प्रयत्न करते हुए शरीर का छूट जाना अच्छा समझते हैं.—

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वाद्,
भ्रान्त्याऽचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः
सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धा,
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः ॥२५८

अर्थः—असमझान ... चिंतवन भी नहीं कर पाता है। अर्थात् जिनमें से मिथ्याज्ञान सर्वथा हट गया है। ऐसे महात्मा सच्चे शूर योगी मोह का सर्वथा नाश कर चुके हैं। एकाकी रहने की प्रतिज्ञा स्वीकार कर चुके हैं। अकेले रहकर निर्वाह कर सकते हैं, इसलिये सारा परिग्रह-जंजाल छोड़कर परीषह जीतने को कटिबद्ध हो रहे हैं। अपना कल्याण सिद्ध करने में सदा ही सावधान रहते हैं। आजतक अपने शरीर को अपना सहाई मान रक्खा था और अब भी कर्मों के नाशार्थ तपश्चर्या के लिये कुछ सहाई सा मानते हैं। परन्तु तो भी उसके सम्बन्ध को लज्जा का कारण समझ रहे हैं। इसीलिये वे महात्मा सदा पल्यङ्क-आसन बांधकर इस बात का विचार करते बैठते हैं कि इस शरीर का किस प्रकार नाश हो। हम शरीर के नाश का उपाय वास्तविक ढूंढ़कर निकालें ऐसा विचार कर वे योगी कभी पर्वतों में, कभी जंगलों में और कभी गुफाओं में—ऐसे ही एकांत स्थानों में जाकर ध्यान रखते हैं। अपने मुख्य कार्य को कभी विसरते नहीं हैं। मोह का नाश हो जाने से वे सदा ही अपनी सिद्धि करने में तैयार रहते हैं। ऐसे महात्मा अपनी सिद्धि तो करते ही हैं किन्तु दूसरों के भी कल्याणकर्ता बनते हैं। देखो:—

येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजः स्थानं शिलायास्तलं,
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थय,—
स्ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निःस्पृहाः ॥२५९

अर्थः—सारे शरीर में लगी हुई धूल जिनकी शोभा बढ़ा रही है। जिन्होंने पत्थरों के शिलातल को रहने का स्थान बनाया है।

जिन्होंने सोने के लिये शय्या, ककरीली भूमि को बनाया है। जो व्याघ्रादि भयकर जन्तुओं के रहने की गुफाओ को अपना रहने का घर समझते हैं। शरीर को अपना और आत्मा को शरीरमय मानने की मिथ्या वासना जिनके हृदय से निकल गई है अज्ञानान्धकार की गाँठ हृदय से खुल चुकी है। जो आत्मा को केवल संसार से मुक्त करने के अभिलाषी हैं, किन्तु शेष सर्व अभिलाषा नष्ट कर चुके हैं। जिन्होंने केवलज्ञान को ही अपना सर्वस्व समझ रक्खा है। ऐसे योगीश्वर हमारे मन को वीतराग बनाकर पवित्र करो। देखो, और भी उनकी महिमा:—

दूरारूढतपोनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणै,-
रन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः।
विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने,
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितै धीराश्चिरं वासरान् ॥ २६०

अर्थ:—जो योगी अपने सातिशय तप के प्रभाव से ज्ञान-ज्योति का प्रकाश कर चुके है और उस ज्योति के जो किरण पसरे हैं उनके द्वारा वास्तविक अन्तर्गत आत्मतत्त्व को पहिचान चुके हैं। वे ही योगी सच्चे आनन्द मे मग्न होने वाले हैं। उस आत्मानन्द में वे ऐसे तत्पर हो चुके हैं कि उनकी परम शांत मुद्रा को चंचल नेत्र-वाली बनो मे विचरने वाली हरिणी भी निर्भयता के साथ देखकर मस्त हो उठती हैं। धन्य वे धीर योगीश्वर! जो इस प्रकार अद्भुत चर्या से अपने दिनों को विताते हैं।

भावार्थ:—जो आत्मतत्त्व संसारी जनों के स्वप्नगोचर भी नही हुआ वह जिन्होने साक्षात् पा लिया है ऐसे असाधारण एक महिमा के स्वामी योगीश्वर धन्य है। उनके आत्मतत्त्व पाने का परिचय जगल की अति चचल हरिणी भी दे रही है। हरिणियों का इतना चंचल व भययुक्त स्वभाव होता है कि वे मनुष्य को देखते ही दूर भाग जाती हैं। परन्तु जो अन्तरात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से परम वीतरागी बन चुके हैं और जिनकी परम वीतराग चेष्टा ऊपर झलकने लगी है उन योगीश्वरो के दर्शन से कौन भला, दूर भागेगा? अहो, जिनकी आत्मनिष्ठा के बल से सिंहादिक क्रूर जीव भी अपनी

दुष्टता भूल जाते हैं उनके दर्शन से भय कैसा ? उन्हें जो देखे उसे आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है। यह उनके आत्मप्रत्यक्ष होने की महिमा है। देखो, और उन्हीं की महिमा.—

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं,
गत्वोच्चैरविधाय भेदनमयोराराच्च विश्राम्यति ।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढं वहिर्व्याप्तय,-
स्तेषां नोत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोज्झिताः पांशवः ॥२६१

**अर्थः**—विषयाशा तथा आत्मा, इन दोनों का ही ज्ञान होना कठिन है। विषयों की आशा जहां देखो वहां ही जाज्वल्यमान दीख पड़ती है। शुद्ध आत्मा का अनुभव संसार दशा मे कभी कहीं भी दीख नहीं पाता। इसीलिये संसारी जन स्वानुभूत कामविकारों को ही आत्मा या आत्मलक्षण समझ बैठते हैं। परन्तु इस विषयाशा तथा आत्मा के परस्पर दुर्लक्ष्य भेद को जब तक पूरा समझ नहीं पाया तब तक जिन्होंने थककर अधबीच में ही अपनी बुद्धि को हटाया नहीं, किन्तु जो सतत श्रम करते ही रहे। और अन्त में उस शुद्ध आत्मा को जिन्होंने वास्तविक समझ ही लिया। अतएव जिनका मन बाह्य विषयों में से हटकर आत्मस्वरूप के परमानन्द भोगने में लीन हो गया है। जिन्होंने परम शांतता को ही अपना सर्वस्व समझ रक्खा है। जग मे उन योगाश्वरों के चरणों से झड़कर गिरी हुई परम-पवित्र धूल हमको पवित्र करे। भावार्थ, ऐसे योगीश्वरों की चरणरज हमारा निस्तार करने वाली हो। और उन योगियों के चरणों का हमे सदा ही सहवास प्राप्त हो।

ससारी जनों से उनकी अपूर्वता:

यत् प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२६२

**अर्थः**—जीव पूर्वभवों में जिन शुभ या अशुभ कर्मों का संचय करते हैं उसी का नाम दैव है। जब उस दैव का तीव्र उद्रेक प्रगट होता है तब जीवों को सुख या दु.ख आकर मिलते हैं। उस समय

सामान्य जीवों की यह दशा होती है कि वे उसमें तन्मय बन जाते हैं, और सब कुछ अपना कर्तव्य भूलकर उसी दुःख सुख की भावना करते बैठते हैं। शुभ दैव के समय में जीव विषयानन्द पाकर अपना कर्तव्य भूलते हैं और अशुभ के समय में दुःख से व्याकुल होकर कर्तव्य-विमुख बनते हैं। ऐसे संसार में जो शुभाशुभ दैव के उद्रेक से कुछ सावधान रहकर अपने शुभ कर्मों को छोड़ता नहीं है वह बुद्धिमान् माना जाता है। विद्वान् उसकी प्रशंसा करते हैं। यद्यपि शुभ कर्म भी संसारबंधन का ही एक भेद है। परन्तु उस कर्म के करने वाले भी जब कि आदर योग्य समझे जाते हैं तो जो शुभाशुभ दोनों के नाशार्थ सर्व आरम्भ व परिग्रहों से ममता-प्रेम-वन्धन तोड़ चुका है उसकी महिमा का फिर कहना ही क्या है ? उसे बड़े से बड़े सत्पुरुष वंदते हैं।

जब कि कर्म बलवान् है तो उसकी अवहेलना कैसे हो सके ?—

सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्,
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं नहि नवं,
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥२६३

**अर्थः**—पूर्व मे किये हुए कर्मों के उदयवश सुख तथा दुःख तो होता ही है। इसमें क्यों तो मैं प्रीति करूं और क्यों सताप करूं ? क्योंकि, ये सुख-दु.ख आत्मीय स्वभाव न होने से मेरी खुद की कुछ हरकत नहीं कर सकते हैं। यदि ऐसा विचार उत्पन्न हो जाय तो सुख-दुःख होते हुए भी जीव उनसे उदास रह सकता है। इस उदासीनता का लाभ यह होगा कि उसके प्राचीन कर्म तो उदय पाकर खिर ही जायँगे, किन्तु विपयमोह न रहने से वह नवीन वंध कुछ भी नहीं वॉधेगा। इसी प्रकार कुछ समय तक वीतराग वना रहने से कर्मों का नाश करके अति निर्मल रत्न के समान शुद्ध हो जायगा और ज्ञान-दर्शनादि गुणों को प्रकाशित करने लगेगा।

यही बात रूपान्तर से आगे भी कहते हैं। देखो—

सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्यन् ,
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा ।

पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्ज्वलः सन्,
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमिः ॥२६४

अर्थः—योगीश्वरों मे पूर्ण वीतराग भावों के द्वारा घातिकर्मों का नाश हो जाने पर सर्व तत्त्वों को समझने के लिये समर्थ ऐसा पूर्ण निर्मल ज्ञान प्रगट होता है। इस समय यद्यपि ध्यान के बल से ज्ञान प्रगट होता है और अन्तरंग कर्ममल का प्रायः अभाव भी हो जाता है, परन्तु शरीर तो भी बना ही रहता है। इस शरीर-कुटी में स्थिर रहते हुए योगीश्वर अपने ज्ञान को जग में प्रकाशित करते हैं। सत्य मार्ग का उपदेश कर भव्य-जीवों को ससार से पार करते हैं। फिर उसी केवल ज्ञान के बल से शरीर का नाश कर अमूर्तिक परमात्मपद को प्राप्त करते हैं। उस समय पूरे सिद्धात्मा होकर केवल ज्ञान-ज्योतिमय प्रकाशित होने लगते हैं। जैसे प्रारम्भ में जब अग्नि का लकड़ी में प्रवेश होता है तब लकड़ी भी दीख पड़ती है और अग्नि की ज्वाला भी उठती दीखती है। कालान्तर में वही अग्निज्वाला लकड़ी को सर्वथा भस्म कर देती है और केवल शुद्ध दशा मे वह प्राप्त हो जाती है। यतियों के चारित्र की भी यही महिमा है। भावार्थ, यतियों के चारित्र से वह अपूर्व आत्मस्वरूप प्रगट हो जाता है जो कि संसारी जीवों को चाहे जैसे प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो पाता। यह बड़ा भारी इसमे आश्चर्य है।

अन्य दर्शनकार मुक्तदशा कैसी मानते हैं?—

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते।
अत एव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम् ॥२६५

अर्थः—वैशेषिक-नैयायिकों ने गुणों को द्रव्यों से एक जुदा कल्पित किया है। और मोक्षदशा मे उन गुणों का नाश हो जाना माना है। इसलिये मुक्त होते ही जीव बुद्धि आदि गुणों से शून्य रह जाता है। परन्तु आश्चर्य, कि जीव का विशेष स्वभाव ज्ञान है। जब कि वही न रहा तो जीव किस स्वरूप मे उस समय रहेगा? इस आक्षेप के भय से बौद्धों ने जीव को ज्ञानादि गुणों से कोई जुदा पदार्थ नहीं माना, किन्तु तन्मय उसका स्वरूप माना है। परन्तु वे भी मुक्ति के समय ज्ञान का उच्छेद हो जाना मानते हैं। इसलिये

ज्ञान का उच्छेद मानो जीव का ही उच्छेद है; ऐसा उन्हें मानना पडता है। इसलिये निर्वाण को शून्य स्वरूप उन्होंने ठहराया है।

यह नहीं मालूम होता कि ऐसा निर्वाण मानकर जीव उसमें क्यों प्रवृत्त होंगे ? अरे भाई, जहाँ मूल का ही उच्छेद हो जाता है वहां से तो यह संसार ही भला है, जहाँ कि समल ही क्यों न हो परन्तु मूल तो कायम रहता है। अतएव:—

**अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।**
**देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः स्थितः ॥२६६॥**

**अर्थः**—जीव का स्वभाव द्रव्यदृष्ट्या अनादि मुक्त होने से जन्म-मरण से शून्य है। अथवा मुक्त हो जाने पर संसार के जन्म-मरण होना बन्द हो जाता है, इसलिये भी शुद्ध जीव अजन्मा तथा अमर मानना चाहिये। रूपरसादि गुणवाले पिण्डों को मूर्तिक कहते है। जीव मे ऐसे गुण नहीं है। इसलिये वह बाह्य इन्द्रियों के गोचर नहीं होता और अतएव अमूर्तिक माना जाता है। कर्मबन्धन के रहने से संसार दशा मे वह औपचारिक मूर्तिक भी कहा जा सकता है। परन्तु शुद्ध जीव औपचारिक मूर्ति भी धारण नहीं करता। संसार के स्वभावो की अपेक्षा से जीव कर्मों का कर्ता है। किन्तु शुद्ध मूल व वास्तविक निजी स्वभावों की तरफ देखने से उन्हीं अपने स्वभावों का कर्ता कहा जा सकता है, न कि कर्मो का। ठीक ही है, कर्मों के बन्ध का कारण विकारी दशा है, जो कि कर्म व जीव के सम्बन्ध विशेष से उत्पन्न होती है। उस दशा को न तो ठीक जीव सम्बन्धी ही कह सकते हैं और न कर्म सम्बन्धी ही कह सकते हैं। दोनों के ही मूल स्वभावों से जुदी वह तीसरी एक दशा है। इसीलिये कर्म बन्ध के कर्तृत्व का अपराधी जीव को बताना ठीक नहीं है। जिसका जो कर्ता होता है उसीका और वही भोक्ता भी होता है। इसलिये जीव व्यवहार दृष्टि से कर्मफलों का भोक्ता है और स्वाभाविक गुणों की तरफ देखने से वह उन्हीं स्वाभाविक चैतन्यादि गुणों का भोक्ता है। जीव का स्वभाव सुखी व ज्ञानमय भी है। जीव का परिमाण प्रदेशों की गिनती से तो असंख्यात प्रदेश का है, किन्तु लम्बाई चौड़ाई व ऊंचाई मे यथासमय प्राप्त होनेवाले छोटे बड़े शरीर के बराबर रहता है। मुक्त होते समय कोई कोई जीव क्षण मात्र के लिये लोकव्याप्त भी होता है परन्तु फिर वह तत्काल

सकुड़ कर शरीरमात्र ही हो जाता है। मुक्त होते समय जीव के साथ के कर्मादि सारे मल दूर हो जाते हैं और वह ऊपर की तरफ लोक के अन्त में जाकर ठहरता है। वह वहाँ ऐसा ठहरता है कि फिर कभी वहाँ से विचलित नहीं होता। उस समय इसी जीव को लोग प्रभु, स्वामी, ईश्वर, परमात्मा कहने लगते हैं। ठीक ही है, इससे अब अधिक वैभवशाली व नित्य सुखी दूसरा कौन है?

यहाँ जो अवस्था तथा अपेक्षा के भेद से जीव के विशेषण बताये हैं वे सांख्यादि मतों के निषेधार्थ हैं। सांख्यादि* मतों के अनुसार जीव का स्वरूप संभव नहीं होता और ऐसा स्वरूप युक्तियों से ठीक बैठता है।

विषयसम्पत्ति न रहकर भी मुक्ति में सुख कैसा?—

**स्वाधीन्याद् दुःखमप्यासीत् सुखं यदि तपस्विनाम्।**
**स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥२६७**

**अर्थः**—तपस्वियों को अनेक दुःख रहकर भी स्वाधीनता का संकल्पमात्र हो जाने से सुख ही सुख अनुभवगोचर होने लगता है। तो फिर जिनको शरीर के बन्धन से तथा ज्ञानादि गुणों के विघात

---

* अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अमूर्तश्चेतनो भोक्ता आत्मा कपिलशासने ॥

(यह सांख्यमत)

दिशं न काचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनीं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
दिशं न काचिद्विदिशं न काचिन्नैवावनीं गच्छति नान्तरिक्षम्।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥

(यह बौद्धमत)

सदाशिवः सदाकर्मा सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितम्।
मस्करी किल मुक्तात्मा मन्यते पुनरागतिम् ॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो योगश्च मन्यते।
कृतकृत्यं तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनम् ॥

(यह अनेक मतसंग्रह)

अष्टविधकर्मविकलाः शीतीभूता निरञ्जना नित्याः।
अष्टगुणाः कृतकृत्या लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः ॥

(स्वमत)

से एवं इन्द्रिय विषयों के अभाव से पद-पद पर होने वाले संसार दशा के दुःख, जब कि सर्वथा उपाधियाँ हट जाने से छूट गये हों तब उन्हें क्यों न अपूर्व सुख या आनन्द प्राप्त होगा ? यदि स्वाधीनता की सीमा तथा इच्छा-द्वेष का अत्यन्त अभाव जिन्हें प्राप्त हो चुका है उन्हें भी सुखी न माना जाय तो सच्चा सुखी कौन दूसरा होगा ? यह शाश्वतिक तथा अकथनीय आनन्द प्राप्त होना विषयों से विमुख होकर तपश्चरण व आत्मध्यान करने का फल है।

ग्रन्थकार का अन्तिम उपसंहार व आशीर्वाद —

इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं,
चरितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम्।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयन्तः,
सपदि विपदपेतामाश्रयन्तु[1] श्रियं ते[2] ॥२६८

**अर्थः**—श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि इस ग्रन्थ में संक्षेप से उत्तम से उत्तम व निर्दोष आत्मा को उपदेश या उसके शुद्ध होने का उपाय दिखाया है। इसका जो मनन करेंगे उन्हें असली आत्मसिद्धि प्राप्त होगी। देखोः—

इस प्रकार थोड़े से वाक्य बनाकर उन वाक्यों में यह पवित्र विषय मैंने गूंथा है। इस ग्रन्थ मे ससार से मुक्त होने वाले योगीश्वरो का कर्तव्य व ध्येय विषय इकट्ठा किया गया है। इसीलिये मोक्ष के उपायों में लगे हुए योगीश्वरों के चित्त को यह ग्रन्थ आनंद-दायक होगा। इस ग्रन्थ मे जो वर्णन किया है वह सर्वथा उचित है। अर्थात्, इसी प्रकार जो योगीश्वर अपनी चर्या रखते हैं वे अवश्य आत्मसिद्धि को पाते हैं। पूर्वाचार्यों ने भी इसी प्रकार आत्म-सिद्धि का उपाय आज तक वर्णन किया है। इस ग्रन्थ का विषय क्या है, इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ग्रंथकार ने प्रारम्भ मे दिया है, कि 'आत्मा❀ के शुद्ध होने की शिक्षा इस ग्रन्थ मे मैं कहूँगा'। उस शिक्षा को चार विभागो मे विभक्त किया है वे चार विभाग हैः-( १ ) सम्यग्दर्शनाराधना, ( २ ) ज्ञानाराधना, ( ३ ) चारित्राराधना, ( ४ ) तप आराधना। इन्हीं चार आराधनाओं का वर्णन क्रम से इस ग्रन्थ

---

१—'माश्रयन्ते' इति वा पाठः। २ ये चिन्तयन्ति ते।

❀ 'आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम्'।

में प्रतिज्ञानुसार किया है। जिस प्रकार इस ग्रन्थ में वर्णन किया है यदि उसी प्रकार कोई इसका पूर्ण चिंतन कुछ समय तक निरन्तर अपने मन मे करता जाय तो सम्भव है कि वह अवश्य संसार की विपदाओं से छूटकर मुक्ति के अनुपम ऐश्वर्य को प्राप्त होगा। जो योगीश्वर मुक्ति पाते हैं वे ऐसा ही आराधन करने से पाते हैं, अन्यथा नहीं; यह निश्चय समझना चाहिये। ग्रंथकार इस ग्रन्थ के करने का यही फल समझते हुए मोक्षार्थियों को आशीर्वाद देते हैं कि 'इस ग्रन्थ के अनुसार अन्तिम तप आराधना मे जो पहुँचकर प्रवृत्त होने वाले हैं वे अवश्य व शीघ्र ही मोक्ष लक्ष्मी का आश्रय करो।'

ग्रंथकार गुरु का व अपना नाम दिखाते हैं.—

**जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम् ।**
**गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥२६९॥**

**अर्थः**—अपने गुरु श्री जिनसेनाचार्य के चरणों का मन में सदा चिंतन करने वाले श्री गुणभद्राचार्य ने यह आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है।

**भावार्थः**—इस ग्रन्थ के कर्ता ज्ञानी विरागी तथा अनेक गुणों से पूज्य हैं इसलिये उनकी कृति भी आदर योग्य है।

अन्तिम मंगलः—

**ऋषभो नाभिसूनुर्यो भूयात्स भविकाय वः ।**
**यज्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते ॥२७०॥**

**अर्थः**—अन्तिम मनु या कुलंकर श्री नाभिराज के पुत्र जो श्री वृषभनाथ प्रथम तीर्थंकर, वे तुम्हारे कल्याण के कर्ता हों। जिनके ज्ञान-सरोवर मे सारा जग कमल के तुल्य भासता है।

**भावार्थः**— जब कि जग के जीवों में मोक्ष का तथा न्याय-निर्वाह का उद्योग सर्वथा ही बन्द पड़ रहा था और उसकी आवश्यकता आ पड़ी थी तब इसके थोड़े-बहुत उन्नेता जनों का क्रम से प्रारम्भ होकर अन्त में पूर्ण योग्य नेता व उन्नेता श्री वृषभ स्वामी का अवतार हुआ। उन्होंने सृष्टि के जीवों को दुःख से छूटकर सुख में प्राप्त होने का अनेक प्रकार उपदेश दिया व शासन भी किया। उनके बाद अनेक पुरुष और भी वैसे ही उत्पन्न हुए और उन्होंने भी

यही काम किया। जग के जीवों को सुख में लगा कर वे आप भी परमधाम जाते रहे। इस प्रकार इस सृष्टि पर आज तक यद्यपि अनेकों पुरुष ऐसे हुए कि जिन्होंने जीवों के कल्याण का वास्तविक मार्ग प्रगट किया व जारी रक्खा, परन्तु उन सबों में इस प्रवर्तते हुए युग मे पहिले महात्मा श्री वृषभ देव या ऋषभ देव ही हुए हैं। इसीलिये ग्रंथकार उन भगवान् का यहाँ स्मरण करते हैं और बाकी भव्य जीवों को कहते हैं कि तुम भी उन्हीं के उपदेश से तरोगे।

संसार मे आजतक अनेकों मनुष्य ऐसे हुए हैं कि जिन्होंने एक दूसरे की देखादेखी जीवों के व अपने सुख का विचार किया और जैसा विचारा वैसा उपदेश किया। परन्तु जैसा कुछ निर्दोष कल्याण मार्ग भगवान् ऋषभ देव की परम्परा में आज तक प्राप्त होता रहा है वैसा अन्यत्र नहीं। हो कहाँ से ? सत्य मार्ग का शोध ज्ञान विना नहीं लग सकता है। ज्ञान यदि वास्तविक तथा पूर्ण कहीं था तो यहीं पर। इसीलिये हितार्थी जीवों को दयालु ग्रंथकार कहते हैं कि तुम्हारा सच्चा कल्याण उन्हीं भगवान् वृषभनाथ स्वामी के आश्रय से होगा। इसलिये 'हे संसार के जीवो, उन्हीं का उपदेश सुनो और तदनुसार चलो। जिससे कि तुम्हे अपना अभीष्ट प्राप्त हो। अभीष्ट क्या* ? कल्याण, मंगल, शुभ, आनन्द-परमानन्द, सुख या आत्म-सिद्धि।

॥ इति ॥

वं-दों मैं तुम पांय, नाभि के अनुपम नंदा।
शी-ख देय जिन जगतजीव के काटे फंदा॥
ध-रि जिनदीक्षा घाति घाति-करमनि के द्वंदा।
र-विसम केवलबोध पाय लिय शिव-आनंदा॥

---

* मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

# प्रथम श्लोक में विशेष वक्तव्य



अर्थः—गुणभद्रस्वामी कहते हैं, कि अनंत ज्ञानादि=आत्मस्वभाव-प तथा छत्रचामरादि=बाहिरी अतिशय स्वरूप अपूर्व लक्ष्मी के धारी, पापों का नाश करने वाले श्रीवीरनाथ स्वामी चौबीसवे तीर्थंकर को अथवा कर्मशत्रुओं के विनाशक योद्धा को या विशिष्ट लक्ष्मी के उत्पन्न करनेवाले सर्व अरहत आदिक परमेष्ठियों को अपने हृदय से धारण करके आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ को लिखता हूँ, जिससे कि प्रतिबोध पाकर भव्य जीवों को संसार दुःखों से छुटकारा हो।

विशेषः—वीर शब्द के जो दो विशेषण दिये है वे दोनों वीर शब्द से भी सूचित होते हैं। पहला विशेषण लक्ष्मीनिवासनिलय है। यह विशेषण वीर शब्द के वि ई×र, ऐसे टुकड़े करने से निकल आता है, क्योंकि, 'वि' नाम विशिष्ट या अपूर्व का है। और 'ई' लक्ष्मी को कहते हैं। 'रा' धातु का देना अर्थ है, इसलिये 'र' का अर्थ देनेवाला है। और देता वही है कि जिसके पास हो। इस प्रकार मिलाने पर वीर शब्द का अर्थ 'अपूर्व लक्ष्मी के धारण करने वाले' ऐसा होता है। दूसरा विशेषण 'विलीनविलय' है। अर्थात् जिसके विलय नाम पाप, विलीन हो चुके है। इस विशेषण की सिद्धि वीर शब्द से तब हो सकती है जब कि वीर शब्द का अर्थ शत्रुओं का जीतनेवाला शूर ऐसा माना जाय; क्योंकि वीर स्वामी ने भी कर्मशत्रुओं का सर्वथा नाश करके उनसे विजय प्राप्त की है। ऐसे दो अर्थ मानने पर 'वीर' शब्द विशेषण रूप हो जाता है। और विशेष अर्थ के समय यह शब्द चौबीसवे तीर्थंकर का वाचक है।

जब यह शब्द विशेषण मान लिया जाता है तब इसका अर्थ अरहंत आदिक पाँचों परमेष्ठी हो सकता है। और इसीलिये पाँचों परमेष्ठियों को इस श्लोक से नमस्कार होना सूचित होता है। जब कि इसको विशेष मान लिया तो इससे वीरनाथ भगवान् को नमस्कार हो जाता है। अथवा वीर शब्द का अर्थ गणितसकेत के अनुसार चौबीस संख्या होता है, क्योंकि विकार से चार की संख्या तथा रेफ से दो की संख्या गणित मे ली गई है। अकों का लिखना उलटी

बाजू से होता है; इसलिये मिलने पर चार दो का अर्थ चौबीस हो जाता है। इस प्रकार इसी वीर शब्द से चौबीसों तीर्थंकरों को भी नमस्कार हो जाता है। विशिष्ट लक्ष्मी की प्राप्ति शास्त्र द्वारा भी होती है इसलिये विशिष्ट लक्ष्मी का दाता ऐसा विशेषण शास्त्र का मान लेने पर शास्त्र को भी नमस्कार इस शब्द से हो जाता है। इस प्रकार देव गुरु शास्त्र तीनों को ही नमस्कार करना इस श्लोक से सिद्ध हो जाता है।

लक्ष्मीनिवासनिलय तथा विलीनविलय ये दोनों विशेषण देव, गुरु, शास्त्रों में से प्रत्येक के हो सकते है और इसीलिये ये तीनों ससार भर के अन्य सभी देवादिकों से अधिक उत्कृष्ट हैं ऐसा सूचित होता है।

संसार से दुःखित हुए भव्यों को मुक्ति सुख की प्राप्ति कराना ही इस ग्रन्थ के बनाने का प्रयोजन कहा है। इससे सिद्ध होता है कि इसे बना कर ग्रन्थकर्ता को अपने लोभ मान आदि की पुष्टि करना या अपनी विद्या का घमण्ड दिखाना इष्ट नहीं था। जो लोभादि के वशीभूत होकर ऐसा कार्य करते हैं, उनसे असत्य अहितकारी उपदेश भी कदाचित् हो जाता है। पर इस ग्रन्थ का हेतु ऐसा नहीं है, किन्तु जीवों के सच्चे सुख का मार्ग इसमे बताया गया है। इसीलिये यह जीवों को परम हितकर्ता तथा ग्राह्य है ऐसा सिद्ध होता है।

जिससे सच्चे आत्मस्वरूप का उपदेश मिल सकता हो वह आत्मानुशासन हो सकता है। इस ग्रन्थ का नाम भी आत्मानुशासन है इसलिये इस नाम पर से सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठान ये तीनों विषय स्पष्ट मालूम हो सकते हैं। और इष्ट प्रयोजन को ग्रन्थकार ने 'वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम्' इस वाक्य से अलग भी दिखा दिया है।

इस श्लोक मे जो मंगल किया है, वह इष्ट देव को नमस्कार करने से तो स्पष्ट सूचित होता ही है किन्तु 'लक्ष्मी' इस कल्याण-वाची शब्द के प्रथम उच्चारण से भी वह मंगल सिद्ध होता है। संसारी जीव लक्ष्मी से सर्व सुख की प्राप्ति होना सुलभ समझते हैं। इसीलिये भगवान् को सब से प्रथम लक्ष्मीनिवासनिलय बताया है जिससे कि श्रोता जन भगवान् को सुखोत्पत्ति करने के लिये समर्थ समझें।

भगवद्गुणभद्र स्वामी ने प्रथम मंगल में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर को हृदय से धारण किया है और अन्तिम मंगल में प्रथम तीर्थंकर का स्मरण किया है। इससे यह व्यङ्ग्य अर्थ निकल सकता है कि जैसे ही कोई इस ग्रन्थ का अध्ययन समाप्त करेगा वैसे ही उसके लिये उत्सर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर की उत्पत्ति का समय आकर प्राप्त होगा। अर्थात् इस ग्रन्थ का अध्ययन करनेवाला पुरुष शीघ्र ही सुख शान्ति के सर्वोत्कृष्ट समय में जाकर प्रवेश करेगा अथवा इस ग्रन्थ का अध्ययन करने से पहिले जिसका आत्मा अत्यन्त पतित होगा वह भी अध्ययन समाप्त करते ही परमात्मा बन जायगा। क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही इष्ट प्राप्ति का मुख्य उपाय माना गया है। परीक्षा मुख के प्रारम्भ में 'प्रमाणादिष्टसंसिद्धि' ऐसा कहा है। अर्थात् प्रमाण से ही इष्ट सिद्धि होती है। यद्यपि प्रयत्न विना ज्ञानमात्र से कार्यसिद्धि नहीं होती तो भी सम्यग्ज्ञान होने पर प्रयत्न हुए विना रहता नहीं है। इसलिये ग्रन्थ का अध्ययन या ज्ञान भी इष्ट का साधक कहा जा सकता है। अथवा जब कि इस ग्रन्थ का उपदेश सुनने को मिलेगा तो श्रोता मनुष्य अवश्य ही हिताहित प्राप्ति परिहार में लगेगा। इसलिये मनुष्य को परमहित प्राप्त होने में यह ग्रन्थ निदान कारण अवश्य मानना चाहिये।

इस मत में प्राय विद्वानों का विवाद न होगा कि आदि तीर्थंकर के समय मे जैसा कुछ कल्याण का साधन करना सुगम पड़ता था वैसा आज या श्री महावीर स्वामी के समय नहीं रहा। इसीलिये जो धर्मोन्नति के प्रेमी है वे महावीर स्वामी के समय की अपेक्षा आदि तीर्थंकर के समय के प्राप्त होने की अभिलाषा अधिक करेंगे। इसीलिये ग्रन्थकार ने भी इस ग्रन्थ का फल उपर्युक्त माना हो तो उचित ही है।

इन श्लोकों मे लल, नन, वव. क्षक्ष, आदि अक्षरों का अनेक वार आना अनुप्रास गुण को सूचित करता है। अनुप्रास के रहने से कर्णमधुरता प्राप्त होती है। इसी प्रकार इस सारे ही ग्रन्थ मे कर्णमधुरता है। कर्णकटुता कहीं भी न मिलेगी। और अर्थ तो इसका अतिरोचक है ही।

---

# अथ ज्ञान बहत्तरी प्रारम्भते

वीतराग को नमन कर, धरि सतगुरु का ध्यान।
ज्ञान बहत्तर बोल के, कहूँ स्वपर हित ज्ञान ॥

( १ ) यह मनुष्य जन्म महादुर्लभ है। इसे पाकर आलस्य प्रमाद और मोह में दिन न गंवाना चाहिये। जो दिन गंवाता है वह महामूर्ख है।

( २ ) धर्म की सब सामिग्री पाकर, आत्मा का हित साधन करना चाहिये न करने वाला मूर्ख है।

( ३ ) जो पुण्य रूपी पूंजी तो साथ में लाया नहीं और सुखी होने के लिये रात दिन परिश्रम करता है, अधिक तृष्णा बढ़ाता है वह मूर्ख है।

( ४ ) पूर्व पुण्य के उदय से ज्ञानावर्ण कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान प्राप्ति हुई लोभ शत्रु को दुखदाई समझा फिर भी सन्तोष न रक्खे वह महामूर्ख है।

( ५ ) किसी सद्गुरु की कृपा से ज्ञानरत्न पाय, उससे अधीरज को बुरा समझा, अतः संसार सम्बन्धी कष्ट आजाने पर धीरज रखना चाहिये न रक्खे तो महामूर्ख है।

( ६ ) ज्ञान की प्राप्ति होने से संसार को असार जाना फिर संसार में फसाने वाले झूठ को न बोले, माया न करे, क्लेश की वृद्धि न करे यदि करे तो वह महामूर्ख जानना चाहिये।

( ७ ) आत्मा की शक्ति के अनुसार सौगंधव्रत ( पंचखाण ) करना चाहिये। न करे तथा सौगन्ध लेकर भंग करे तो वह महामूर्ख है।

( ८ ) पूर्व जन्म के पाप के उदय से दुख आजाय, उस समय आत्मज्ञान के बल से शान्ति धारण करना चाहिये, न करे तो वह महामूर्ख है।

( ९ ) साता वेदनीय कर्म के उदय से सुख पाकर अभिमान न करना चाहिये, अभिमान से धर्म को भूल जावे तो वह महामूर्ख समझना चाहिये।

( १० ) ज्ञान आदि गुण बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये यदि प्रयत्न न करे और संसार बढ़ाने के खोटे खोटे काम करे तो वह महामूर्ख है।

( ११ ) उत्तम ज्ञानी की संगति पाकर अपनी आत्मा को राग द्वेष से दूर रखना चाहिये, यदि दूर न रखे आत्मा को निर्मल न करे अथवा उसके लिये उपाय न करे तो वह महामूर्ख है।

( १२ ) ज्ञानवान की संगति सेवा भक्ति करके अपनी आत्मा को उज्ज्वल पाप रहित करना चाहिये, न करे तो वह महामूर्ख है।

( १३ ) व्रत पंचखाण में दृढ़ता रखनी चाहिये, न रक्खे कष्ट आजाने पर धर्म छोड़ दे तो वह महामूर्ख है।

( १४ ) सांसारिक कामों में तो नियमों का पालन करता है अर्थात् खाने कमाने आदि के कामों को समय पर अवश्य करता है लेकिन जो धार्मिक काम करने लिये सारे दिन में दो घण्टे का भी नियम न रक्खे वह महामूर्ख है।

( १५ ) कोई उत्तम मनुष्य धर्म का उपदेश देवे, हित की शिक्षा देवे तो उस पर क्रोध न करना चाहिये, करे तो मूर्ख है।

( १६ ) ज्ञानसूर्य का उदय हुआ, संसार को असार समझ मोह ममता को दुख देने वाली और हिंसा आदि पापो की संसार वृद्धि का कारण जान लिया, फिर दुखदायी मोह आरम्भ परिग्रह

आदि संसार के कारणों को नहीं बढ़ाना चाहिये। यदि बढ़ावे तो वह महामूर्ख समझना चाहिये।

( १७ ) थोड़े से जीवन के लिये आरम्भ करता है कषाय करता है दूसरे जीवों को दुःख देता है भय उत्पन्न करता है वह महामूर्ख है।

( १८ ) अपनी आत्मा अनादिकाल से काम, क्रोध, माया, लोभ, मोह, अज्ञानरूप बंधन में पड़ा है उससे छूटने का उपाय करना चाहिए। जो दुरध्यान करता है वह महामूर्ख है।

( १९ ) परकी ऋद्धि मुझे क्यों नहीं मिलती इसे क्यों मिली, इत्यादि दुर्ध्यान न करना चाहिए।

( २० ) दुष्ट जीव परके औगुण देखता है लेकिन अपने औगुण नहीं देखता तथा उत्तम गुण वाले पुरुष में दोष निकालता है वह मूर्ख है।

( २१ ) सुखी होने के लिये जिह्वा के स्वाद के लिये काम भोग का सेवन न करना चाहिये, छल कपट से परिग्रह इकट्ठा न करना चाहिये।

( २२ ) देह का पोषण करने व रसना इन्द्रिय के विषय को पूरा करने के लिये तथा काम भोग सेवन करने के लिये जीवों का घात न करना चाहिए।

( २३ ) सब जीवों को अपने समान जानकर अपने हृदय में दया का भाव रखना चाहिए।

( २४ ) सोच विचार कर बचन बोलना चाहिए और पाप सहित, हास्य सहित भय सहित अन्याय अयोग्य और हानिकारक बचन न बोलना चाहिए बोले तो मूर्ख है।

( २५ ) मनुष्य जन्म का एक पल भी बहुमूल्य रत्न के समान है उसे व्यर्थ गप शप में न गवांना चाहिए।

( २६ ) ज्ञानवान होकर पाचों इन्द्रियों के विषय भोग की इच्छा को न बढ़ावें, मन को वश में रक्खे यदि न करे तो वह महामूर्ख समझना चाहिए।

( २७ ) ज्ञानी अभिमान न करे, पाप कार्य करते हुए मन में शंका भय रक्खे, न रक्खे वह मूर्ख है।

( २८ ) विना मतलब मन को ऊँच नीच जगह न दौड़ावे रूपवती स्त्री को देखकर उसकी चाह न करे मन में बुरे विचार न करे।

( २९ ) निरोगी शरीर पाकर यथा शक्ति तपस्या आदि उत्तम कार्य करना चाहिए।

( ३० ) पूर्व जन्म में पैदा किये हुए अशुभ कर्म को भोगते समय हृदय में विलाप और रौद्र ध्यान न करना चाहिए।

( ३१ ) मनुष्य जन्म पाकर आत्मा के स्वरूप का विचार करे, धर्म के कामों का चिन्तन करना चाहिए।

( ३२ ) धर्मात्मा पुरुष को आत्मा का साधन करते हुए देखकर उसकी निन्दा न करनी चाहिए, द्वेष व ईर्ष्या न करनी चाहिए, उसके अवगुण प्रगट न करना चाहिये, हँसी न करना चाहिए यदि करे तो वह महामूर्ख।

( ३३ ) वीतराग अरहंत देव के वचन में श्रद्धा प्रतीत करनी चाहिए, शंका कांक्षा आदि उत्पन्न कर जन्म नही गवांना चाहिए यदि उसके विपरीत करे तो वह मूर्ख है।

( ३४ ) गुणवान महापुरुषों को देखकर अति आनन्द मानना चाहिए उनकी सेवा भक्ति तथा गुण कीर्तन करना चाहिए।

( ३५ ) संसाररूपी वन काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी, दावानल से जल रहा है। मनुष्य इस जलते हुए संसार को शान्ति क्षमा निर्लोभता आदि जल से शान्ति कर इसमें से सारभूत धर्मरूपी रत्न को निकाल ले, न निकाले वह मूरख।

( ३६ ) संसाररूपी वन में अनंतकाल भटकते भटकते भारी पुण्य के उदय से सुखकारी मनुष्य जन्मरूपी विश्राम पाया, इसे पाकर विश्राम की जगह क्लेश न करना चाहिए आत्मा को फिर दुख में न पटकना चाहिए।

( ३७ ) बीते हुए काल में अनंतानंत जन्म मरण किये, अनंत दुख भोगे इसे न भूलना चाहिए जो भूले वह मूर्ख है।

( ३८ ) मनुष्य जन्म पाकर अच्छे अच्छे काम करना चाहिए, यथाशक्ति उपकार अवश्य करना चाहिए नहीं करे वह मूर्ख है।

( ३६ ) आयु को अंजुली के जल समान अस्थिर जानकर संसार में लीन नहीं होना चाहिए, तेरा मेरा न करना चाहिए।

( ४० ) बिना घृत डाले ही तृष्णारूपी अग्नि की ज्वाला उठती रहती है, उसमें फिर परिग्रहरूपी घृत डालकर शीतल होने की आशा न रखनी चाहिए जो शीतल होने की आशा रखता है वह महामूर्ख है।

( ४१ ) शास्त्र में कही गई नरक की अनन्त वेदना को सुन कर और अच्छी तरह समझ कर आत्मा को समझाना चाहिए और पाप से डरना चाहिए जो न डरे वह महामूर्ख है।

( ४२ ) वृद्धावस्था आजाने पर शक्ति नष्ट हो जाती है हाथ पाँव शिथिल हो जाते हैं नेत्र की शक्ति क्षीण हो जाती है ऐसी हालत में धन की लालसा न रखनी चाहिए वृद्धावस्था में भी जो धन की तृष्णारूपी अग्नि में नित्य जलता रहता है वह मूर्ख है।

( ४३ ) अज्ञानीजीव सारे दिन हायधन हायधन करता हुआ धंधे में मग्न रहता है, रात्रि प्रमाद में बिताता है लेकिन दो घण्टे भी ममता धारण कर धर्म साधन नही करता वह महामूर्ख है क्योंकि वह ६० हाथ की रस्सी कुए में डालकर दो हाथ रस्सी भी अपने में नही रखता है।

( ४४ ) झूठा तथा पाप का उपदेश न देना चाहिए आत्मा के हानि पहुँचाने वाली कुविद्यायें लोगों को नहीं सिखानी चाहिए अनर्थ नहीं करना चाहिए क्योंकि इन कामों से आत्मा नरकगति पाकर अनन्त दुख भोगता है।

( ४५ ) संसार में जीवों को मरते हुए प्रत्यक्ष देखकर मरने का भय रखना चाहिए अपने को अविनाशी न समझना चाहिए लक्ष्मी को चंचल तथा कुटुम्ब आदि सब परिवार को क्षणभंगुर समझना चाहिये जो न समझे महामूर्ख है।

( ४६ ) ज्ञानी पुरुष संसार के निकम्मे काम नहीं करते किंतु अनन्तकाल का दुख दूर करने के लिये निज ज्ञान प्रगट करने का श्रेष्ठ कार्य करते हैं लेकिन अज्ञानी लोग इससे उल्टा करते हैं।

( ४६ ) अर्थात् संसार के निकम्मे निकम्मे कामों को अच्छा समझते हैं और उसी में परिश्रम करते हैं तथा निज ज्ञान के प्रगट करने वाले श्रेष्ठ कामों को व्यर्थ समझते हैं और उसमें परिश्रम नहीं करते वे महामूर्ख हैं।

( ४७ ) अज्ञानी जीव अपना नाम करने के लिये कीर्ति विस्तारने के लिये अनेक आरम्भ करते है, बड़े-बड़े पाप करते हुए भी भय नहीं खाते, लेकिन वे ऐसा नहीं समझते कि इसका फल हमें अनेक भवों में भोगना पड़ेगा।

( ४८ ) पूर्व जन्म के पुण्य उदय से लक्ष्मी पाकर पाप कार्य से डरना चाहिए जो पाप कार्य से नहीं डरे वह मूर्ख है।

( ४९ ) अज्ञानी जीव शक्ति होने पर भी धर्म कार्य नहीं करते आत्मा का कल्याण नहीं करते, किन्तु जब इन्द्रिय शिथिल और बलहीन हो जाती है, तब धर्म पालन की इच्छा करते हैं, वे महामूर्ख हैं क्योंकि आग लगने पर कुआ खोदना मूर्खता है।

[ ५० ] हर एक प्राणी को क्षमा, दया, विनय, शील, सन्तोष, धैर्य, गम्भीरता आदि उत्तम गुणों को बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिये।

[ ५१ ] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, दुराचरण, निन्दा, ईर्षा, कपट, कुसंगति इत्यादि अनेक दुर्गुणों और कुकार्यों को छोड़ देना चाहिये जो नहीं छोड़ता है वह महामूर्ख है।

[ ५२ ] धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिये, धर्म की प्रभावना करनी चाहिये कालचक्र सिर पर घूम रहा है इसलिये एक क्षण को भरोसा न करके निरन्तर धर्म सेवन करने का नियम करना चाहिये जो नहीं करता वह महामूर्ख है।

[ ५३ ] अभव्य जीव दूसरों को उपदेश देता है लेकिन अपनी आत्मा को नहीं समझता। इसी तरह अज्ञानी लोगों को ठगने तथा प्रसन्न करने के लिये धर्मोपदेश देता है, अपनी प्रशंसा के लिये धर्म ध्यान क्रिया आदि का आचरण करता है वह महामूर्ख है।

[ ५४ ] अपने को और दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये जो मनुष्य अपने को सुखी और दूसरों को दुखी देखकर खुश होता है दुखी जीवों की हँसी करता है, दुर्बल अपंग तथा दरिद्र को देखकर करुणा नही करता वह महामूर्ख है।

[ ५५ ] ज्ञान पाने का सार अपनी आत्मा का कल्याण करना दूसरे जीवों को उपदेश देना ज्ञान के साधन पुस्तक कलम आदि देना, ज्ञान दान देना और दिलाना धर्म का कार्य करना उपकार करना आदि है लेकिन जो ज्ञान शक्ति होने पर भी परोपकार मे नही लगता, ज्ञान वृद्धि करने वाले कामो में नहीं लगाता वह महामूर्ख है।

[ ५६ ] धर्म ध्यान, व्रत नियम पच्चक्खाण दान तपस्यादि धर्म कार्य करते हुये किसी मनुष्य को नहीं रोकना चाहिये, जो

अज्ञानी अपने कुटुम्ब को मोह से मना करता है वह मूर्ख है।

[ ५७ ] कुव्यसनी, हिंसक, झूठा, लबार, कपटी, चोर, अन्यायी, चुगलखोर, ईर्ष्यावान, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, धीरज रहित आदि दुर्जनों की संगति न करना चाहिये। जो इन दुर्जनों की संगति करके अपनी इज्जत आबरू बढ़ाना चाहता है, वह महामूर्ख है।

[ ५८ ] क्रोध, लोभ, भय, हँसी इन चार कारण से झूठ बोला जाता है और झूठ बोलना महापाप है, इसलिये हे चेतन जो तू अपनी आत्मा का कल्याण चाहता है तो असत्य वचन का त्याग करदे इससे उक्त सब पाप टल जायँगे जो मनुष्य उक्त बात का समझकर भी उपयोग नहीं रखता वह मूर्ख है।

[ ५९ ] क्लेश, हँसी, मैथुन, खाज, शोक, चिन्ता, निद्रा, वैर, तृष्णा, निन्दा ये दस बातें घटाने से घटती हैं और बढ़ाने से बढ़ती हैं, ज्ञानी को इन्हें घटाना चाहिये।

[ ६० ] ज्ञान बढ़ाने के निम्न लिखित दस उपाय हैं आहार थोड़ा करना, निद्रा थोड़ी लेना, थोड़ा बोलना, पण्डित के पास रहना, क्रोध नहीं करना, पूर्ण विनय करना, पांच इन्द्रियों को वश में करना, अनेक शास्त्र वांचना, ज्ञानवान से पढ़ना, पूर्ण उद्यम करना इन दस उपायों से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये जो ज्ञान की वृद्धि नहीं करता वह मूर्ख है।

[ ६१ ] जीव को निम्नांकित दस सामिग्री मिलना महादुर्लभ हैं मनुष्य जन्म, आर्य देश, उत्तम कुल, लम्बी आयु, इन्द्रियों की पूर्णता, निरोग शरीर, साधु सन्तों की सेवा, सूत्र सिद्धान्तों का सुनना, धर्म की श्रद्धा करना, काय क्लेश करके धर्म ध्यान करना, ऐसी सामिग्री पूर्व पुण्य के उदय से मिलती है इसे पाकर जो धर्म साधन नहीं करता वह मूर्ख है।

[ ६२ ] अत्यन्त दुर्लभ वस्तु को पाकर उसकी बड़े यत्न से रक्षा करनी चाहिये, इस बात को अज्ञानी नहीं समझते, वे मोहवश अपने कुटुम्ब परिवार ऐश्वर्य आदि में फसे रहते हैं मेरा तेरा करते है परन्तु यह नही समझते कि यह सब यही रह जावेगा कोई भी साथ नही जावेगा, एक धर्म ही साथ जाने वाला है, अज्ञान तथा मोह को छोड़ना चाहिये।

[ ६३ ] धर्म-धर्म सब कहते हैं लेकिन धर्म का मर्म नही समझते संसार के दुख से छुड़ाकर असली सुख में पहुँचने वाले को धर्म कहते हैं, वह धर्म क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग करने से प्रकट होता है, त्यों-त्यों चारित्र धर्म बढ़ता जाता है इस चारित्र धर्म से ज्ञाना वरणादिक कार्मो का क्षय होकर अनन्त ज्ञान आदि गुण प्रगट होते हैं, क्रिया दो प्रकार की है शुभ और अशुभ। शुभ क्रिया से पुण्य बंध होता है और अशुभ क्रिया से पाप बंध होता है। निवृत्ति क्रिया संवर तथा निर्जरा रूप होती है, इसे समझकर ज्ञान-वान को पालन करना चाहिये।

[ ६४ ] सांसारिक सब जीव विषय वासना में लग रहे है, जहाँ देखो वहीं अपने स्वार्थ की बात बताने वाले मिलते हैं परमार्थ का शुभ मार्ग दिखाने वाले बहुत थोड़े हैं, इसलिये हे चेतन परीक्षा करके परमार्थी ज्ञानवान महापुरुष की सेवा कर जिससे संसाररूपी समुद्र में अनादिकाल से पड़ा हुआ यह जीव मनुष्य जन्मरूपी नाव और परमार्थी महापुरुषरूपी खेवटिया को पाकर नहीं डूबने पावे अर्थात् संसाररूपी समुद्र से पार हो जावे इसलिये संसार रूपी समुद्र पार होने का उपाय करना चाहिए, जो नही करे वह महामूर्ख है।

[ ६५ ] ओ चेतन धर्म करने का अवसर चला जा रहा है आयु क्षण क्षण मे घटती जा रही है परन्तु तू कुछ परवाह नही

करता, मनुष्य जन्म को पाकर वृथा खो रहा है, अरे मूर्ख गया अवसर फिर हाथ आने का नहीं, पीछे पछताना पड़ेगा, तू प्रतिदिन दुख देने वाली तृष्णा को बढ़ाता जा रहा है, सुख सन्तोष में है इसलिये तृष्णा को घटाने के लिए सन्तोष धारण करना चाहिए जो तृष्णा को बढ़ाता है वह महामूर्ख है।

[ ६६ ] संसार में कोई प्राणी सुखी नहीं है जहाँ देखो वहाँ जीव कर्मों के कारण दुखी ही दिखाई देते है, कितने ही अज्ञानी जीव संसार में ही सुख मान रहे है परन्तु यह मानना ठीक नहीं है। यदि अग्नि से शीतलता हो तो संसार में सुख हो, सुख तो सन्तोष में है, इसलिये मन को व्याकुल करने वाली विषय वासना को त्याग कर सन्तोष धारण करना चाहिए।

[ ६७ ] हे चेतना तू इस संसार मे क्यों लुभा रहा है, अज्ञान दशा में पड़ा हुआ तेरा मेरा क्यों कर रहा है, संसार में कोई किसी का नहीं है, जिसका स्वार्थ सिद्ध होता है वह प्रसन्न और जिसका स्वार्थ सिद्ध नही होता वह नाराज होता है। अरे भोले जीव मोह का नशा चढ़ा हुआ है इसलिये तुझे कुछ नहीं सूझता, लेकिन फिर बहुत दुख भोगना पड़ेगा इस पर विचार कर मोह को घटाना चाहिये। जो नहीं घटाता वह मूर्ख है।

[ ६८ ] अरे जीव तूने पूर्वजन्म मे अच्छा पुण्य उपार्जन नहीं किया, इसलिये इस समय तू दुखी हो रहा है, तेरी आजीविका पराधीन है यदि इस समय भी इस जन्म में भी सुकृति के काम नहीं करेगा तो आगे के जन्म में भी दुःखी होगा इसलिये अब शुभ काम करना चाहिये जो न करे वह मूर्ख है।

[ ६९ ] अरे जीव तू अनेक पाप करके लक्ष्मी इकट्ठी करता है और सोचता है कि यह मेरे दुःख के समय काम आवेगी, ऐसा समझना तेरी भूल है। जिस समय पाप का उदय होगा उस समय

लक्ष्मी भी तीन तेरह हो जावेगी क्योंकि लक्ष्मी तो पुण्य के उदय से रहती है, पाप का उदय होने पर नष्ट हो जाती है, ऐसा विचार कर मूर्खता न करके आत्महित करना चाहिए। जो न करे वह महामूर्ख है।

[ ७० ] अरे भोले जीव तू पेट भरने के लिये अनेक अनर्थ करके क्यों कर्मों का बध कर रहा है, भाग्य के अनुसार तुझे अवश्य मिलेगा, कितने ही पाप करने पर भी भाग्य से अधिक नहीं मिल सकेगा। ऐसा विचार कर आत्मा को स्थिर करना चाहिए। जो स्थिर न करे वह महामूर्ख है।

[ ७१ ] संसार में सब जीव अपनी इच्छानुसार बात बनाकर झगड़ते हैं लेकिन तत्व की बात को नहीं समझते, काम, क्रोध, लोभ, मोह को छोड़ने से आत्मा निर्मल होती है। इनको छोड़े बिना मुक्ति की चाह रखना बालू से तेल प्राप्त करने के समान है, काम, क्रोध आदि दोष वाले जीव के नियम व्रत पच्चखाण आदि सब निष्फल हैं, इस बात को समझ कर व्यर्थ वाद विवाद करके जन्म नहीं बिताना चाहिए।

[ ७२ ] दीपक सब जीवों को प्रकाशित करता है किन्तु अपने नीचे हमेशा अंधेरा रखता है। इसी तरह अज्ञानी जीव दूसरों को अच्छे-अच्छे उपदेश देता है लेकिन आप कुमार्ग पर चलता है। अपना अज्ञान अंधकार दूर नहीं करता, हे चेतन जब तू सब कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञान आदि प्रगट करेगा तब मोक्ष नगर में पहुँचेगा, इसलिये क्षमा, विनय, शील, सन्तोष आदि गुणों को धारण करना चाहिये, नही करता वह मूर्ख है।

---

मुद्रक :—कपूरचन्द जैन, महावीर प्रेस, किनारी बाजार, आगरा।

# इस ग्रन्थ के लिए दान देने वाले दातारों की सूची

२५१) सेठ सा० लालचन्दजी की पुत्र वधु तेजबाई, उज्जैन
५१) सेठ सा० चांदमलजी कागजी की धर्मपत्नी केसरबाई, लश्कर
५१) गुप्तदान, लश्कर
५१) गुप्तदान, आगरा
५१) पन्नालाल देवलाल अग्रवाल, भितरवार
५१) नाथूलाल अग्रवाल, गवालियर
५१) राजाराम महावीरप्रसाद अग्रवाल, मगरौनी
४१) ज्वालाप्रसाद जैसवाल, गवालियर
४१) कस्तूरचन्दजी सौपुरवाले, लश्कर
३८) हजारीलाल गोलालारे, गवालियर
३५) मनोहरलाल छीतरमल जैसवाल, रूअरवाले
३५) मोतीलाल नेमीचन्द अग्रवाल, भितरवार
३१) कौमिलप्रसाद चम्पालाल अग्रवाल, भितरवार
३१) गुलाबचन्द वरैया, केरूआ
३१) रामचरनजी वरैया, केरूआ
२५) लखमीचन्द किशनलाल अग्रवाल भितरवार
२५) लालाराम नाथूराम वरैया, डबरा
२५) मटरे के जमाई गवालियर के जैसवाल
२५) मिश्रीलाल छोटेलाल अग्रवाल, सहाई नरवर
२६) कालूराम श्रीचन्द जैसवाल, नरवर
२१) मोतीलाल कमलनेन वरैया, मगरौनी
२१) हरीचन्द जी कलकत्ता हाल, लश्कर
२१) भीकारामजी वरैया, मगरौनी
२१) मांगीलाल नरेन्द्रकुमार वरैया, मगरौनी
२१) लखमीचन्द वरैया, मगरौनी
२०) हजारीलाल वरैया, केरूआ
१५) कालूरामजी अग्रवाल, नरवर
१५) मलल्हारी जैसवाल गवालियर
२२) अजुध्याप्रसाद खूबचन्द जैसवाल, खड़िया
११) वामौर की जैन समाज के
११) साहूकार, गवालियर

११) बालचन्द रतनलाल गंगवाल, इन्दौर
११) सगुनचन्दजी गोलसिगारे, भिण्ड लश्कर
११) बलवन्त जैसवाल, गवालियर
११) तुलसीराम जैसवाल, गवालियर
११) फूलचन्दजी जैसवाल, रन्नौद
११) गप्पूलाल जैसवाल घी वाले, लश्कर
११) ग्यासीराम जैसवाल, गवालियर
११) रतनलाल माखनलाल, भितरवार
११) फुन्दीलाल वरैया, केरूआ
११) सुन्दरलालजी वरैया, केरूआ
११) भजनलाल वरैया केरूआ
११) महावीरप्रसाद लोहिया, मगरौनी
११) धनीराम प्रेमचन्द जैसवाल, विहालेवाले
११) हरगोविन्द भगवालाल वरैया, नरवर
११) मोहनलाल बाबूजी जैसवाल, लश्कर
५) बालचन्द परवार, गवालियर
५) गोपीलाल जैसवाल, गवालियर
५) मिश्रीलाल जैसवाल, गवालियर
५) भगवानदास खडिया जैसवाल
५) हीरालाल सर्राफ, मौ वाले
५) ब्रह्मचारिणी बाई, माधोगंज लश्कर
५) मटरेलाल ब्र० के लडिका जैसवाल, गवालियर
५) लखमीचन्द जैसवाल, मुरार
गन्नाथ बाबूलाल अग्रवाल, भितरवार
कुंजलाल, भितरवार
वरैया, आमौर वाले
केरूआ
लवाई, नरवर
ीचन्द सहाई, नरवर
सहाई, नरवर
ई अग्रवाल, नरवर
बाई, नरवर

---

ने से मुरैना के तीन दातारों के नाम रह गये हैं।